गुर्जर-भारती शोध-ग्रन्थमाला १

सूरदास और नरसिंह महेता

तुलनात्मक अध्ययन

डा. भ्रमरलाल जोशी, एम. ए., पी-एच. डी.
हिन्दी विभाग, श्री स्वामिनारायण आर्ट्स कॉलेज
अहमदाबाद

गुर्जर-भारती
अहमदाबाद

महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय बड़ौदा की
पी एच डी उपाधि के लिए स्वीकृत
तथा
मेवाड़ के वर्तमान हिज़हाईनेस महाराणा साहब
श्रीमान श्री भगवतसिंहजी बहादुर की ओर से
१००१ रु० के पुरस्कार द्वारा सम्मानित
शोध प्रबन्ध

© डा० भ्रमरलाल जोशी

प्रथम संस्करण ११०० सन् १९६८

मूल्य ३५ रु०

प्रकाशक
गुर्जर-भारती, दूधिया बिल्डिंग, गांधी रोड
अहमदाबाद १

मुद्रक
[illegible] प्रेस (सी बा.टी),
४, [illegible] मार्ग
नई दिल्ली-१

वितरक
लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग इलाहाबाद १

श्रद्धेय

श्री श्रीकृष्णजी अग्रवाल

को

आदर सहित

प्रकाशन-परिचय

गुजरात एक अहिन्दी भाषी प्रदेश है। इस प्रदेश मे हिन्दी के प्रति निरतर बढती हुई अभिरुचि को देखकर इस बात की आवश्यकता प्रतीत होती थी कि यहाँ पर किसी ऐसी सस्था की स्थापना की जाय, जो हिन्दी भाषा तथा साहित्य के लिए कुछ ठोस कार्य कर सके। इसके लिए कुछ हिन्दी-प्रेमियो ने मिल कर विचार-विमर्श किया, जिसके फलस्वरूप 'गुर्जर-भारती' की स्थापना हुई। इस सस्था का उद्देश्य प्रधानत गुजरात के साहित्यकारो को हिन्दी मे लिखने के लिए प्रोत्साहित करना तथा सत्साहित्य का प्रकाशन करना है।

'सूरदास और नरसिह महेता तुलनात्मक अध्ययन' हमारी इस योजना का प्रथम पुष्प है। यह शोध-प्रबध डा० भ्रमरलाल जोशी ने डा० अम्बाशकर नागर के निर्देशन मे तैयार किया है, जिस पर उन्हे महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय, बडौदा ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की है। इस ग्रथ मे विद्वान् लेखक ने मध्यकाल के दो मूर्धन्य कृष्णभक्त कवियो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। हमे विश्वास है कि इस ग्रथ के द्वारा कृष्णभक्ति की भारत-व्यापी परपरा तथा उसके प्रभाव मे लिखे गये तत्सबधी साहित्य को समझने के लिए विद्वानो को एक नयी दिशा मिलेगी। आशा है, भारतीय सस्कृति एव साहित्य के अध्येता हमारे इस प्रयास का स्वागत करके हमे प्रोत्साहित करेगे।

श्रीकृष्ण अग्रवाल
अध्यक्ष

विजया दशमी, वि० स० २०२५
दिनाक १ अक्टूबर, १९६८

प्राक्कथन

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-शोध पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जायगा कि हिन्दीतर प्रदेशो के विश्वविद्यालयो के शोधार्थियो का ध्यान इन दिनो विशेष रूप से क्षेत्रीय एव तुलनात्मक विषयो की ओर आकर्षित हुआ है। सविधान द्वारा हिन्दी के सघभाषा के रूप मे स्वीकृत हो जाने पर हिन्दी भाषा और साहित्य की अखिल भारतीय व्याप्ति तथा भाषावार प्रात रचना के कारण प्रादेशिक भाषाओ एव साहित्यो को अनायास मिले महत्त्व के फलस्वरूप यह प्रक्रिया स्वाभाविक थी। इसके परिणामस्वरूप पजाब, बगाल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि अहिन्दी भाषी प्रदेशों के विश्वविद्यालयो मे हिन्दी के प्राचीन साहित्य की गवेषणा की गई। इस प्रकार की क्षेत्रीय शोध के फलस्वरूप हिन्दी का अज्ञात एव अप्रकाशित प्राचीन साहित्य विपुल मात्रा मे प्रकाश मे आया। कुछ शोधार्थियो का ध्यान हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओ के कवियो, कृतियो, काव्यरूपो आदि के तुलनात्मक अध्ययन की ओर भी गया। इस प्रकार के अध्ययन के द्वारा एक ओर जहाँ हिन्दी-अहिन्दी क्षेत्र के साहित्य का आदान-प्रदान होता था वहाँ दूसरी ओर ये प्रयास राष्ट्र के भावात्मक ऐक्य को पुष्ट करनेवाले भी प्रतीत होते थे, अत स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी-शोध मे क्षेत्रीय एव तुलनात्मक अध्ययनो को विशेष प्रोत्साहन मिला।

तुलनात्मक अध्ययन हिन्दी-शोध की एक महत्त्वपूर्ण एव विशिष्ट विधा है। तुलनात्मक समीक्षा की भाँति इसके अन्तर्गत भी समान एव तुलनीय इकाइयो को लेकर उनकी भिन्नता-अभिन्नता तथा उत्कर्षापकर्ष की समीक्षा एव परीक्षा की जाती है। तुलनात्मक समीक्षा एव तुलनात्मक शोध मे अतर केवल इतना है कि समीक्षा मे जहाँ समीक्षक का ध्यान केवल विषय के समीक्षण तक ही सीमित रहता है, शोध मे शोधार्थी की दृष्टि मूलत उन तथ्यो की गवेषणा की ओर रहती है, जिनके द्वारा तुलनीय इकाइयाँ एक दूसरे से भिन्न अथवा अभिन्न सिद्ध होती हैं, तथा जिनके द्वारा उनका उत्कर्षापकर्ष प्रमाणित होता है।

तुलनात्मक शोध की लोकप्रियता का कारण यह भी है कि हिन्दी साहित्य का जो अध्ययन अब तक प्राय हिन्दी भाषी क्षेत्र तक ही सीमित था वह अब सारे भारत मे हो रहा है और इस नई परिस्थिति मे इस बात की आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि हिन्दी साहित्य के विविध कालो, काव्यरूपो, विशिष्ट कवियो तथा कृतियो की तुलना उनके समकक्ष एव समकालीन इतर प्रातीय कवियो तथा कृतियो से की जाय। किसी भी विशाल एव समृद्ध देश की अनर्घ साहित्य-परपरा के तलस्पर्शी अध्ययन के लिए ऐसे प्रयत्न वाछनीय एव श्लाघनीय है। साहित्य-परपरा के परिज्ञान की दृष्टि से तो ऐसे अध्ययनो का महत्त्व है ही, राष्ट्र की सास्कृतिक एकान्विति के अभिज्ञान की दृष्टि से भी ऐसे प्रयास अभिनन्दनीय है।

इस प्रकार के तुलनात्मक अध्ययन का प्रारंभ सर्वप्रथम डा० धीरेन्द्र वर्मा के निर्देशन
इलाहाबाद युनिवर्सिटी मे हुआ था। आगे चलकर अन्य विद्वानो ने भी अनुसधान के क्षेत्र
इस परपरा का अनुसरण किया है। परिणामस्वरूप हिन्दी-गुजराती, हिन्दी-मराठी, हि
बगला साहित्य का अध्ययन सुलभ हुआ। 'सूरदास और नरसिंह महेता तुलनात्मक अध्यय
भी इसी तुलनात्मक अध्ययन परपरा का एक कडी है।

भिन्न भिन्न प्रातो एव भाषाओ के समशील कवियो के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा ही वि
युग विशेष के साहित्य का सम्यक अनुशीलन एव मूल्याकन सभव हो सकता है। अत ब्रजभा
एव गुजराती के दो प्रतिनिधि कृष्णभक्त कवियो का यह तुलनात्मक अध्ययन एक ओर जहाँ
इन कवियो को समझने के लिए एक नया गवाक्ष उदघाटित करेगा वहा दूसरी ओर मुझे विश्वास
मध्यकालीन साहित्य में कृष्णभक्ति की देशव्यापी परपरा का परिज्ञान कराने म भी उपया
सिद्ध होगा।

प्रस्तुत शोध प्रबध म सूर एव नरसी के जीवन एव कृतित्व की तुलनात्मक गवेषणा की ग
है। हिन्दी मे सूरदास के सम्बन्ध मे पर्याप्त मात्रा मे गवेषणात्मक काम हो चुका है किन्तु गुजरा
मे नरसी महेता के सम्बन्ध मे अभी तक जो गवेषणा हुई है वह बहुत ही अपर्याप्त है। अ
डा० भ्रमरलाल जोशी को गुजराती के अनेक सदर्भों को टटोलना पडा है और नरसी महेता-सम्ब
सामग्री का सकलन करने म पर्याप्त परिश्रम उठाना पडा है, जिसकी गुजराती विद्वानो ने
मुक्तकठ से प्रशसा की है। तथ्यो के सकलन के साथ प्रबध का विभाजन एव नियोजन भी वैज्ञानि
एव सुरुचिपूर्ण है। निष्कर्ष प्रस्तुत करने मे भी उन्होने तटस्थ्य एव निष्पक्ष दृष्टि का परिच
दिया है, जिसे देखकर यह कहा जा सकता है कि डा० जोशी ने तुलनात्मक अध्ययन के प्रति अप
दायित्व का पूर्णतया निर्वाह किया है।

मुझे विश्वास है कि इस शोधग्रथ के प्रकाशन से कृष्णभक्ति की व्यापक परम्परा को समझ
के लिए हमे एक नया परिप्रेक्ष्य समुपलब्ध होगा।

अम्बाशकर नागर
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गुजरात युनिवर्सिटी, अहमदाबा

विजया दशमी सवत २०२५
दिनाक १ अक्टूबर, १९६८

उपोद्घात

मध्यकालीन भारतीय साहित्य की यह विशेषता है कि वैविध्यपूर्ण होते हुए भी वह प्राय एक ही भावसूत्र मे गुफित है। इस एकसूत्रता का बहुत कुछ श्रेय उस काल के उन भक्ति-आन्दोलनो को है, जिनसे अनुप्राणित हो कर राम एव कृष्ण-सबधी विपुल साहित्य हिन्दी, बगला, मराठी, गुजराती आदि आर्य तथा तमिल, तेलगु आदि आर्येतर भाषाओ मे निर्मित हुआ। ध्यान देने की बात यह है कि इन भाषाओ तथा उनके साहित्यो मे बाह्यदृष्टि से वैविध्य होते हुए भी मूलभूत एकता विद्यमान है। अतर केवल भाषा एव अभिव्यजना-पद्धति का है। समस्त मध्यकालीन भारतीय साहित्य के अणु-अणु मे एक ही भावरस-भक्ति-व्याप्त है। अतएव मध्यकालीन विशिष्ट भावधारा अथवा कवि को पूर्णतया समझने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम उस काल की अन्य धाराओ एव समकालीन कवियो का भी सम्यक् अवलोकन करे। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस सबध मे ठीक ही लिखा है "हमारी देश-भाषाओ का आदिकाल का साहित्य एक दूसरे से बुरी तरह उलझा हुआ है और एक दूसरे का पूरक है। जो लोग तत् तत् प्रान्तीय सीमाओ मे बँध कर मध्यकालीन साहित्य के अध्ययन का प्रयत्न करते है, वे बिसमिल्ला ही गलत बोल देते है। ' ' 'सूरदास को अच्छी तरह समझने के लिए यदि हम सम्पूर्णत सूरदास के साहित्य तक या कुछ और अधिक बढकर ब्रजभाषा के साहित्य तक ही बैठे रहे, तो उस महान् रस-समुद्र का एक ही पहलू देख सकेगे, जिसे उत्तर मध्यकाल के भक्त कवियो ने अमरवाणी-रूप निर्झरिणियो से भर दिया है। सूरदास को समझने के लिए विद्यापति, चडीदास और नरसी मेहता परम आवश्यक है।"[१]

इसी प्रकार डा० नगेन्द्र ने भी मध्यकालीन भारतीय साहित्य की इस एकता को स्वीकार करते हुए सूर के अध्ययन के लिए भालण आदि गुजराती कवियो पर दृष्टिपात करना आवश्यक समझा है "सूर का वात्सल्य-वर्णन हिन्दी काव्य मे घटनेवाली आकस्मिक या एकान्तिक घटना नही थी। गुजराती कवि भालण ने अपने आख्यानो मे, पन्द्रहवी शती के मलयालम के कवि ने कृष्णगाथा मे, असमिया कवि माधवदेव ने अपने बडे गीतो मे अत्यन्त मनोयोगपूर्वक कृष्ण की बाललीलाओ का वर्णन किया है।"[२]

तात्पर्य यह कि एक ही समय मे प्राय एकसी प्रेरणाओ से उद्भूत तथा विभिन्न प्रान्तीय भाषाओ मे रचित इस विशाल साहित्य के सम्यक् अनुशीलन के द्वारा ही हम भारतीय साहित्य की मूलभूत एकता का अनुसधान कर सकते है और इसके लिए समकालीन कवियो तथा उनके कृतित्व का गभीर तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है।

डा० धीरेन्द्र वर्मा की प्रेरणा से कई अनुसन्धित्सुओ ने हिन्दी, गुजराती, बगला आदि भाषाओ के मध्ययुगीन वैष्णव साहित्य को तुलनात्मक अध्ययन का विषय बनाया है। डा० जगदीश गुप्त

---

१ मध्यकालीन धर्मसाधना, पृ. १३४। २. भारतीय वाङ्मय, पृ. २६।

का गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन तथा डा० ब्रजकुमारी का हिंदी और बंगाली वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन शोध प्रबंध इसी प्रेरणा के सुफल हैं।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में एक ही काल के दो प्रतिनिधि वैष्णव कवियों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। दो सुदूर प्रान्तों में निवास करते हुए और दो अलग अलग भाषाओं में रचना करते हुए भी सूर एवं नरसी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व में पर्याप्त साम्य दृष्टिगत होता है। भिन्नत्व में निहित इस अभिन्नत्व ने ही मुझे इस तुलनात्मक शोध में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी है।

इसके अतिरिक्त मेरी यह भी मान्यता रही है कि महान प्रतिभाओं को किसी भी क्षेत्र में उनके समय और समकालीनों से अलग करके इकाई के रूप में देखना गलत है। संस्कृति, कला, साहित्य एवं काव्य का क्षेत्र विशृंखल व विशृंखल परिस्थितियों में भी इतना अन्तसंगठित होता है कि उसमें सजक साहित्यकार, कलाकार अथवा कवि को अलग अलग इकाई मानकर देखना उसके रूप को विकृत करना है। यद्यपि हिन्दी में सूर के कृतित्व के विविध अंगोपांगों पर प्रचुर शोध-कार्य हुआ है तथापि उनकी महानता को पूर्णतः हृदयंगम करने के लिए यह अलं नहीं कहा जा सकता। जैसा कि सुधी विद्वानों ने स्वीकार किया है, उनके कृतित्व का सही मूल्यांकन करने के लिए उनके समसामयिक एवं समानधर्मा कवियों के साथ भी उनकी तुलना अपेक्षित है।

इन्हीं प्रेरणाओं एवं मान्यताओं से प्रेरित होकर मैं सूर एवं नरसी के तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त हुआ। सूर पर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० दीनदयालु गुप्त, डा० हरवंशलाल शर्मा प्रभृति विद्वानों ने अध्ययनपूर्ण ग्रंथ तथा शोधपूर्ण लेख लिखे हैं। नरसी पर भी यद्यपि श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई, आचार्य आनन्दशंकर ध्रुव, श्री नरसिंहराव भोलानाथ दिवेटिया, श्री कन्हैयालाल माणेकलाल मुंशी, श्री दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, श्री केशवराम काशीराम शास्त्री प्रभृति विद्वानों ने गुजराती में बहुत कुछ लिखा है किन्तु सूर पर किये गये शोध-कार्य की तुलना में नरसी पर किया गया यह कार्य स्वल्प है। नरसी जैसी अप्रतिम गुर्जर प्रतिभा को लेकर गुजराती विद्वान प्रायः उनके जन्म-समय, कविता-काल तथा कृतियों की प्रामाणिकता की चर्चा में ही उलझे रहे हैं और कवि के काव्यत्व के अध्ययन की ओर बहुत कम विद्वानों का ध्यान गया है। नरसी के समस्त कृतित्व का शास्त्रीय दृष्टि से तटस्थ अध्ययन अभी भी किसी संशोधक की अपेक्षा रखता है।

प्रस्तुत शोध प्रबंध में गुर्जरधरा के इस लोकप्रिय कवि के काव्यकार कृतित्व, दर्शन, भक्ति, काव्यत्व आदि विषयों को केन्द्रस्थ रखकर उनकी सूर के साथ तुलना प्रस्तुत की गई है। नरसी के जीवन एवं कृतित्व से हिन्दी जगत सूर की अपेक्षा कम परिचित है। अतः जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई वहाँ प्रबंध में नरसी के कृतित्व पर अधिक विस्तार से विचार किया गया है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी उचित होगा कि यद्यपि प्रबंध के शीर्षक में सूरदास और नरसिंह मेहता नाम प्रयुक्त हैं तथापि व्यवहार-सौकर्य की दृष्टि से प्रबंध के अन्तर्गत इन कवियों के लिए प्रायः सर्वत्र सूर एवं नरसी नामों का ही व्यवहार किया गया है। हिन्दी में सूरदास को सूर कहा ही जाता है। गुजरात में नरसी के लिए 'नरसिंह मेहता' नाम व्यवहृत होता चला आ रहा है। किन्तु हिन्दी के विद्वानों ने प्रायः नरसी या नरसी मेहता नाम से ही उन्हें अभिहित किया है।

नाभादासजी ने 'भक्तमाल'[1] मे, डा० नगेन्द्र ने 'भारतीय वाड्मय' की भूमिका मे[2], डा० जगदीश गुप्त ने अपने शोध-प्रबध मे,[3] तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने[4] प्राय नरसी नाम का ही सर्वत्र व्यवहार किया है। मीराँ के 'नरसी रो माहेरो' मे भी यही रूप समादृत हुआ हे। अत इस शोध-प्रबध मे 'नरसिंह महेता' को नरसी नाम से ही अभिहित किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबध आठ अध्यायो मे विभक्त है। विपय की सीमा मे रहते हुए प्रबध का विभाजन एव प्रस्तुतीकरण इम प्रकार किया गया है

प्रथम अध्याय मे दोनो कवियो के जीवन से सबधित अन्त साक्ष्यो तथा बाह्यसाक्ष्यो का परीक्षण करके उनके आधार पर दोनो कवियो का प्रामाणिक जीवन-वृत्त प्रस्तुत करते हुए तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया हे। सूरदास की जीवनी एव तिथियो के सबध मे हिन्दी मे कार्य हुआ है, पर गुजराती मे अभी भी नरसी का समय अनिर्णीत एव विवादास्पद है। जहाँ वृद्धमान्य मतावलवी नरसी की अवस्थिति वि० १५ वी शती मे मानते है वहाँ श्री कन्हैयालाल माणेकलाल मुशी प्रभृति कुछ विद्वान उनका अवस्थिति-काल वि० १६ वी शती मे मानते है। शोधकर्ता ने इस सबध मे आज तक उपलब्ध होनेवाले सभी प्रमाणो के आधार पर नरसी का जीवन एव कविता-काल निर्धारित करने का सम्यक् प्रयास किया है।

द्वितीय अध्याय मे सूर एव नरसी की कृतियो का सामान्य परिचय देकर अत मे दोनो के कृतित्व पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। खोज-रिपोर्ट, इतिहास-ग्रथ एव पुस्तकालयो मे सुरक्षित हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर दोनो कवियो की अब तक अज्ञात, अप्रकाशित, सदिग्ध एव अप्रामाणिक समझी जानेवाली कृतियो पर भी प्रकाश डाला गया है। नरसी के कृतित्व पर विचार करते हुए उनकी कृतियो का पाँच भागो मे विभाजन किया गया है (१) आत्मचरित सबधी रचनाएँ, (२) आख्यानात्मक कृतियाँ, (३) कृष्णलीला सबधी पद, (४) भक्तिज्ञान के पद और (५) अप्रामाणिक रचनाएँ। हिन्दी जगत् को नरसी के कृतित्व का पूर्ण परिचय न होने के कारण नरसी की कृतियो का परिचय अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से दिया गया है।

'सूर एव नरसी के साहित्य की पृष्ठभूमि' शीर्षक तृतीय अध्याय मे दोनो कवियो के कृतित्व की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई हे। दोनो कवि अपने-अपने क्षेत्र एव युग के प्रतिनिधि-कवि थे। अतएव उनकी काव्यधारा से परिचित होने के लिए उस काल एव तत् तत् प्रदेशो की परिस्थितियो का अवगाहन करना भी आवश्यक प्रतीत हुआ। इन महान् प्रतिभाओ के प्रादुर्भाव मे सहायक होने-वाली दोनो क्षेत्रो की तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एव साहित्यिक परिस्थितियो एव गतिविधियो पर भी तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

---

१ 'जगत बिदित् 'नरसी' भगत (जिन) 'गुज्जर' धर पावन करी', भक्तमाल।

२ भारतीय वाड्मय (भूमिका), पृष्ठ १५।

३. गुजराती और व्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ १३।

४. विचार-प्रवाह, पृ १३४।

चतुर्थ अध्याय में अत्यन्त सतर्कता तथा आधारभूत ग्रंथों की सहायता से दोनों कवियों की दार्शनिक विचारधारा का अनुशीलन किया गया है। सूर एवं नरसी मूलतः भक्तकवि थे, दार्शनिक नहीं। दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन उनके काव्य का प्रतिपाद्य नहीं था। उन्होंने जो कुछ लिखा वह भगवद्भक्ति में निमग्न हो कर ही। फिर भी दोनों के ग्रंथों के अनुशीलन से उनके द्वारा ब्रह्म, जीव, जगत, माया तथा भक्ति के संबंध में बहुत कुछ जाना जा सकता है। इस अध्याय के प्रारंभ में दोनों कवियों की विचारधारा किस संप्रदाय से संबद्ध या संनिकट है, इस पर विचार करके शुद्धाद्वैत दर्शन की व्याख्या की गयी है। इसके पश्चात् दोनों के ब्रह्म, जीव, जगत, माया, आदि के संबंध में व्यक्त किये गये सिद्धान्तों, विचारों एवं धारणाओं की विवेचना एवं तुलना की गई है। सूर आचार्य वल्लभ के संप्रदाय में दीक्षित थे। अतः उनकी दार्शनिक विचारधारा शुद्धाद्वैत सम्मत है। यद्यपि नरसी आचार्य वल्लभ के पूर्ववर्ती थे और वे किसी भी संप्रदाय में संबद्ध भी नहीं थे तथापि उनके दार्शनिक विचार शुद्धाद्वैत से ही संबद्ध हैं।

पंचम अध्याय सूर एवं नरसी के काव्य के भक्तिपक्ष से सम्बद्ध है। इस अध्याय में भक्ति के मूल, उसकी प्राचीनता, वैष्णव भक्ति के उद्भव, विकास एवं प्रसार पर संक्षेप में विचार करके दोनों कवियों की साधना एवं साध्यरूपा प्रेम भक्ति पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। साध्यरूपा भक्ति के दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर ये चार प्रमुख भाव माने गये हैं। इनमें से सूर प्रमुखतया सख्यभाव के भक्त थे एवं नरसी मधुर भाव के। दोनों में दास्य भक्ति के भाव समान रूप में उपलब्ध होते हैं। दोनों कवियों में भक्ति के शास्त्र प्रतिपादित सभी प्रकार मिल जाते हैं और इसके साथ ही मार्मिक प्रभाव और मौलिकता का पुट भी दोनों की भक्ति में पर्याप्त मात्रा में मिलता है। भक्ति प्रकारों के विवेचन के पश्चात् अंत में सत्संग, गुरु-महिमा, भक्ति और कर्मकाण्ड आदि विषयों पर भी इस अध्याय में विचार किया गया है।

सूर एवं नरसी के काव्य का भावपक्ष शीर्षक षष्ठ अध्याय काव्यत्व की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। इसके लिए दोनों कवियों के ग्रंथों में से कुछ भावपूर्ण स्थल चुन लिए गये हैं। भाव की दृष्टि से विचार करें तो वात्सल्य एवं शृंगार से संबद्ध भाव ही दोनों के साहित्य में प्रमुखतया विद्यमान हैं क्योंकि दोनों ने कृष्ण की बाल एवं यौवन लीलाओं का ही गान किया है। अतः कृष्ण-लीला क्रम का ध्यान में रखकर सर्वप्रथम दोनों लीलाओं की संयोग एवं विप्रलंभ दशाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। तत्पश्चात् हास्य, करुण, वीर आदि रसों से संबद्ध भावों पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। अध्याय के अंत में दोनों के प्रकृति चित्रण पर भी विचार किया गया है।

सप्तम अध्याय कलापक्ष से संबद्ध है। इसमें सर्वप्रथम काव्य में अभिव्यक्ति की महत्ता सिद्ध करने के पश्चात् क्रमशः दोनों कवियों के अलंकार विधान, छन्द-योजना, संगीतात्मकता एवं भाषा शैली पर विचार किया गया है। अलंकार-योजना में दोनों कवियों की अपनी अपनी विशिष्टताएँ हैं। सूर के यमक एवं श्लेषबहुल दृष्टिकूट पद, सांगरूपक एवं उत्प्रेक्षादि अलंकार तथा नरसी की वर्णानुप्रासमयी प्राञ्जल संगीतात्मक श्रुतिमधुर वर्ण योजना और यत्र-तत्र उपमा रूपक एवं उत्प्रेक्षाओं की सहज उद्भावनाएँ अपने में अद्भुत हैं। छन्द-योजना के अन्तर्गत दोनों

कवियो द्वारा प्रयुक्त छद एव दोनो की सगीतात्मकता पर सक्षेप मे विचार किया गया है। इसके पश्चात् दोनो की भाषा-शैली के अन्तर्गत उनके द्वारा प्रयुक्त तत्सम, तद्भव, देशज शब्दो, लोकोक्तियो एव मुहावरो पर प्रकाश डाला गया है।

'उपसहार' शीर्षक अन्तिम अध्याय मे कही गई बातो को दोहराये विना दोनो कवियो की समस्त उपलब्धियो पर अत्यत सक्षेप मे विचार करके अध्ययन के फलस्वरूप प्राप्त निष्कर्षो को प्रस्तुत किया गया है तथा दोनो कवियो के पारस्परिक साम्य एव वैषम्य को बताते हुए अपने-अपने साहित्य मे उनकी महत्ता का निर्धारण किया गया है। दोनो कवियो ने अपने परवर्ती कवियो को किस प्रकार और कितना प्रभावित किया है, अध्याय के अत मे इस पर भी प्रकाश डाला गया है।

अत मे मैं यह कहना चाहूँगा कि प्रवध का विषय सर्वथा मौलिक है। नरसी से सम्बद्ध समस्त सामग्री का अनुसधान तथा उसका विस्तारपूर्वक विश्लेषण और विवेचन प्रस्तुत प्रवध मे पहली वार किया जा रहा है। यद्यपि सूर के सवध मे कोई नई शोध अथवा स्थापना नही की गई है, तथापि उनके जीवन एव कृतित्व का अद्यतन सामग्री के आधार पर अध्ययन करके एक नवीन परिप्रेक्ष्य मे नरसी के साथ तुलना करके उनके कृतित्व का मूल्याकन करना अपने मे एक विशिष्ट एव मौलिक कार्य है। इस सदर्भ मे मैं यह भी निवेदन कर देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत तुलनात्मक अध्ययन का उद्देश्य किसी कवि को उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट सिद्ध करना नही है। प्रवध मे दोनो कवियो के काव्योत्कर्ष पर तटस्थ एव वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया गया है। तुलना के फलस्वरूप यदि उनमे कही कोई साम्य, वैषम्य-विषयक वैशिष्ट्य दृष्टिगत हुआ है तो उसका सप्रमाण यथातथ्य प्रतिपादन किया गया है। निर्णय देने तथा लघु अथवा महान् सिद्ध करने की अनधिकार चेष्टा से वचने का प्रवध मे सर्वत्र प्रयत्न किया गया है।

प्रस्तुत प्रवध-विषयक सामग्री के लिए शोधकर्ता को गुजरात विद्यापीठ ग्रथालय, अहमदावाद की रीजनल कॉपीराइट लाइब्रेरी, गुजरात विद्यासभा (गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी), अहमदावाद के हस्तलिखित पुस्तकालय तथा गुजरात विश्वविद्यालय के ग्रथालय मे पर्याप्त सहायता मिली है। इन सभी सस्थाओ तथा उनके सचालको का वह हृदय से आभारी है।

अपने शोधकाल मे मुझे अध्यापक श्री केशवराम काशीराम शास्त्री से नरसी-सवधी प्रचुर नवीन सामग्री एव बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हुए है, जिनके लिए मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। डा० गोवर्द्धननाथ शुक्ल (अलीगढ) ने अनेक शकाओ का प्रत्यक्ष तथा पत्र द्वारा समाधान करके मुझे यथोचित मार्गदर्शन दिया है, अत मैं उनका भी उपकृत हूँ। सूर-विषयक तथ्यो के सवध मे मैंने डा० दीनदयालु गुप्त के 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' तथा डा० हरवशलाल शर्मा के ग्रथ 'सूर और उनका साहित्य' को प्रामाणिक माना है और इन्ही ग्रथो से विशेष सहायता ली है। अत सूर-साहित्य के इन दोनो विशपज्ञो के प्रति भी मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

लेखक अपने श्रद्धेय गुरुवर डा० अम्बाशकर नागर का सर्वाधिक कृतज्ञ है। आपकी ही सतत सत्प्रेरणा एव निर्देशन मे यह शोध-कार्य सम्पन्न हुआ है। अतीव व्यस्त रहते हुए भी आपने

विषय से सम्बद्ध आधिकारिक प्राक्कथन लिखकर ग्रंथ की गरिमा को और भी बढ़ा दिया है। एतदर्थ, मैं आपका जितना आभार मानूँ थोड़ा है।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में गुर्जर भारती के अध्यक्ष श्री श्रीकृष्ण अग्रवाल का जो पूर्ण सहयोग मिला है, उसके लिए मैं आपका हृदय से अत्यन्त आभारी हूँ। आपके सहयोग के बिना सम्भवत इस रूप में प्रकाशन संभव ही न होता।

मेवाड़ के हिज हाईनेस महाराणा साहब श्रीमान श्री भगवतसिंहजी बहादुर से अपने शोधकाल में लेखक को कई बार प्रेरणाएं मिली हैं तथा शोध प्रबंध स्वीकृत हो जाने पर शोधकार्य के प्रति विशेष रुचि प्रकट करके उसे १००१) रु० की राशि से आपने पुरस्कृत किया है एतदर्थ लेखक आपका अतीव आभारी है।

आदरणीय डा० दशरथ ओझा दिल्ली विश्वविद्यालय दिल्ली तथा श्रद्धेय प० केशवराम का० शास्त्री के प्रति भी मैं हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूँ जिन्होंने इस ग्रंथ के प्रति अपनी बहुमूल्य सम्मतियाँ भेजकर इस जन को कृतार्थ किया है। साथ ही कलागुरु श्री रविशंकर म० रावल ने नरसी के चित्र को छापने की जो अनुमति दी है इसके लिए भी मैं आपके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली के व्यवस्थाधिकारी श्री रामनंदन सिन्हा की कृपा से दिल्ली में मुद्रण-कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हुआ। इसके लिए मैं उनका अत्यंत कृतज्ञ हूँ। इसी प्रकार मैं श्री सोमेश्वर पुरोहित का भी आभारी हूँ जिन्होंने ग्रंथ के आद्योपांत प्रूफ रीडिंग में सहयोग देकर इस कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न होने में सहायता दी है। मैं अपने मित्र प्रा० नरोत्तम शास्त्री अध्यक्ष, संस्कृत विभाग सरदार पटेल आर्ट्स कालेज अहमदाबाद का भी आभारी हूँ जिन्होंने यथासमय उचित विचारों से मुझे लाभान्वित किया है।

अंत में मैं महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के प्रति भी आभार प्रदर्शित करता हूँ, जिन्होंने ग्रंथ प्रकाशन की अनुमति देकर मुझ पर अनुकम्पा की है।

यह ग्रंथ अब विद्वज्जनों के हाथ में है। वे यदि इसे अपनाएंगे तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

श्री स्वामिनारायण आर्ट्स कालेज,
अहमदाबाद
विजया दशमी, संवत २०२५
१ अक्टूबर १९६८

प्रभाशंकर जोशी

विषयानुक्रमणिका

[अक पृष्ठसख्या के द्योतक है]

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

षष्ठ अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय

परिशिष्ट–१

परिशिष्ट–२

परिशिष्ट–३

संक्षिप्त संकेत-सूची

अ व. गु	अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय डा० दीनदयालु गुप्त।
गु ब्र. कृ. तु. अ	गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन डा० जगदीश गुप्त।
गु सा म.	गुजराती साहित्य मध्यकालीन श्री अनतराय रावल।
चा०	नरसिंह महेता-कृत चातुरी कु० चैतन्यबाला ज० दिवेटिया।
न. ग.	नर्मगद्य नर्मदाशकर ला० दवे।
न. म का स	नरसिंह महेता-कृत काव्य-संग्रह इच्छाराम सूर्यराम देसाई।
बृ का. दो	बृहत् काव्यदोहन-भाग २ इच्छाराम सूर्यराम देसाई।
भ. र सि.	हरि-भक्ति-रसामृत-सिन्धु सपा० डा० नगेन्द्र।
म. सू न	महाकवि सूरदास आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।
रा स. प के. का. शास्त्री	राससहस्रपदी श्री के० का० शास्त्री।
सू०	सूरसागर ना० प्र० सभा, काशी।
सू नि मी.	सूरनिर्णय द्वारिकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल।
सू. पी. व.	सूरदास पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल।
सू. सा. ह	सूर और उनका साहित्य डा० हरवशलाल शर्मा।

सू व	सूरदास डा० ब्रजेश्वर वर्मा।
सू सौ मु	सूरसौरभ डा० मुंशीराम शर्मा।
हा स हा व	हारसमना पन्थन हारमाळा ग० वे० वा० शास्त्री।
हि भ सा श्या	हिन्दी भाषा और साहित्य डा० श्यामसुन्दर दास।
हि सा ह	हिन्दी साहित्य डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी।

नरसिंह महता [चित्रकार रविशंकर म० रावल

प्रथम अध्याय

(क) सूर का जीवन-वृत्त

(ख) नरसी का जीवन-वृत्त

(ग) तुलना

प्रथम अध्याय

सूर और नरसी का जीवन-वृत्त

(क) सूर का जीवन-वृत्त

महाकवि सूर का जीवन-वृत्त अन्य मध्यकालीन भक्त कवियो की तरह विविध अनुश्रुतियो से समाच्छन्न है। इसीलिए इनका लौकिक-वृत्त स्वल्प अश मे ही सशोधको को ज्ञात हो सका है। आज जब हम सूर के जीवन-वृत्त का सग्रह करने के लिए प्रस्तुत होते है तव अनेक प्रकार की अनुश्रुतियो के जजाल मे से इतिहास सम्मत तथ्य तक पहुँचना बडा दुष्कर प्रतीत होता है। वे एक लोकप्रिय भक्त-कवि थे, अत. एक कठिनाई और भी हमारे सामने प्रस्तुत है। श्रद्धावश समाज ने कई चक्षुविहीन गायको को 'सूर' अथवा 'सूरदास' नाम से प्रसिद्ध कर दिया है। इस तरह कई सूरदासो के चरित हमारे चरित नायक सूर के साथ समन्वित हो गए है। इस स्थिति मे भक्त शिरोमणि सूर का प्रामाणिक वृत्त ज्ञात करने मे वडी सावधानी की आवश्यकता है। आगामी पृष्ठो मे स्वय कवि की रचनाओ मे उपलब्ध साक्षियो, 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' तथा सूर पर लिखे गए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० दीनदयालु गुप्त, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, डा० हरवशलाल शर्मा, डा० व्रजेश्वर वर्मा आदि विद्वानो के अध्ययन पूर्ण ग्रथो, शोधपूर्ण लेख-सामग्री के आधार पर सूर के जीवन पर यथासाध्य प्रकाश डाला जाएगा।

जन्म-काल

पुष्टि-सप्रदाय मे परपरागत यह मान्यता चली आ रही है कि सूर महाप्रभु वल्लभाचार्य से उम्र मे दस दिन छोटे थे। वल्लभाचार्य का जन्म स० १५३५ की वैशाख कृ० १० उपरात ११ निश्चित है। अत' इस दृष्टि से गणना करके सशोधको ने उनकी जन्मतिथि स० १५३५ वैशाख शुक्ला ५ मगलवार निश्चित की है।[1] इधर वडोदा कालेज के सस्कृत प्रो० श्री० भट्ट के सशोधन के आधार पर आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने सूर का जन्म समय स० १५३० मानना अधिक सगत वताया है[2], किन्तु डा० हरवशलाल शर्मा जैसे सूर के अध्येताओ को यह मत मान्य नही है। वे लिखते है—"अभी तक भट्ट जी का मत भी मान्य नही है क्योकि उनकी युक्तियाँ तव तक अकाट्य नही मानी जा सकती जव तक कि वे श्री वल्लभाचार्य के जीवन से सवद्ध घटनाओ को इस हेर-फेर के साथ सिद्ध न कर दे। श्री वल्लभाचार्य जी के विपय मे अभी तक 'वल्लभ-दिग्वजय' ही प्रामाणिक है और उसमे उनका जन्म सवत् १५३५ ही माना है, इसलिए सूरदास की जन्मतिथि वैशाख शुक्ल ५ मगलवार सवत् १५३५ ही ठहरती है।"[3]

---

१. सू. नि. मी. ५१। २. म. सू. न. ६३। ३. सू. सा. ह. २४

जन्म-स्थान

सूर के जन्म स्थान के सबध मे चार स्थान प्रसिद्ध हैं–गोपाचल, मथुरा प्रात का कोई एक गाव रुनकता तथा सीही। डा० पीताम्बरदत्त वडथ्वाल ने ग्वालियर को ही 'गोपाचल' मान कर इसे ही सूर का जन्मस्थान माना है।[1] डा० श्यामसुन्दरदास ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य मे सूर की जन्मभूमि रुनकता' लिखी है।[2] चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के भाव प्रकाश मे श्री हरिराय जी ने सवप्रथम सूर का जन्म स्थान दिल्ली से चार कोस दूर 'सीही' गाव बताया है। डा० हरवशलाल शर्मा ने भी इसका समथन किया है।[3]

नाम-जाति

सूर का मूल नाम सूरदास था। 'सूरसागर एव चौरासी वैणवन का वार्ता इसके प्रमाण हैं। सूर ने अपने काव्य म 'सूरदास या सूर' का ही प्रयोग सर्वाधिक किया है। कई स्थानो पर 'सूर और सूरदास के अतिरिक्त सूरश्याम सूरस्वामी सूरप्रभु की भणिति का भी व्यवहार मिलता है। पर सूरश्याम सूरदास स्वामी सूरप्रभु आदि को भिन्न नाम न मानकर समस्त पद ही मानना चाहिए। कुछ पदो मे सूरज तथा सूरजन्दास की भणिति भी मिलती है। डा० व्रजेश्वर वर्मा का यह मत स्पष्ट है कि सूरज तथा 'सूरजदास छाप वाले पद सूर के प्रामाणिक पद नही कहे जा सकते।[4] वास्तव मे हमारे कवि का नाम सूरदास ही था।

चौरासी वष्णवन की वार्ता मे सूर का सारस्वत होना बताया गया है।[5] 'वल्लभदिग्विजय मे भी इनके सारस्वत ब्राह्मण हाने का ही उल्लेख मिलता है।[6] इधर डा० व्रजेश्वर वर्मा कोई ठोस प्रमाण न मिलने तक सूर का ब्राह्मण होना स्वीकार नही करते हैं। उनका कथन है कि सूर ने ब्राह्मण के लिए वामन जस हीनता द्योतक अपभ्रष्ट रूप का प्रयोग किया है। वे यदि ब्राह्मण हाते तो इस प्रकार का प्रयोग कदापि नही करते।[7] डा० वर्मा सूर को ब्राह्मण की अपेक्षा ढाढी, *जगा, अथवा ब्रह्मभट्ट मानना अधिक न्याय सगत समझते हैं।[8] इस सबध म वे लिखते हैं*—'ब्रह्मभट्ट होने के कारण परपरागत कवि वशज सूर सरस्वतीपुत्र और सारस्वत नाम से विख्यात हा गए हा जा आगे चलकर भक्ता द्वारा सहज रूप मे सारस्वत ब्राह्मण कर लिया गया हो।[9] आचाय वाजपेयी जी सूर के समसामयिक गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पष्ठ पुत्र श्री यदुनाथ जी कृत वल्लभदिग्विजय' ग्रथ अधिक विश्वस्त मानकर सूर का सारस्वत ब्राह्मण होना स्वीकार करत हैं।[10]

पारिवारिक जीवन

'चौरासी वष्णवन की वार्ता स यह ज्ञात होता है कि सूर के माता पिता एक निधन ब्राह्मण थ। इनम बडे तीन और भाई थ। सूर अधे थे। अत माता पिता इनकी ओर स उदासीन

---

१ सू, पो ब २ हि भा सा १था पृष्ठ ३२२। ३ सू, सा इ २३। ४ सू, म ४,५।
५ चौ वै वा हरिरायकृत भावप्रकाश पृ ५१। ६ 'ततो मथमागमने सारस्वत सूरदासोऽनुगृहीत' वल्लभदिग्विजय ५०। ७ सू, म ७। ८ सू, म ७। ९ सू, म ६। १० म सू, न ६७।

रहते थे। निर्धनता एव माता-पिता के उनके प्रति औदासीन्य ने उन्हे विरक्त वना दिया। ये घर से निकल कर चार कोस की दूरी पर एक तालाव के किनारे रहने लगे।

सूर जन्मान्ध थे या अमुक उम्र के होने पर अंधे हुए थे, इस पर विद्वानो मे मतभेद है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी सूर की भाव योजना एव विपुल साहित्य समृद्धि को देखकर उनका जन्मान्ध होना स्वीकार नही करते है।[1] श्री हरिराय जी ने 'भावप्रकाश', श्रीनाथ भट्ट ने 'सस्कृत वार्ता मणिमाला'[2] तथा 'रामरसिकावली' मे सूर को जन्मान्ध वताया है।[3] डा० मुशीराम शर्मा भी इस मत के समर्थक है।[4] सूर को भगवद्कृपा से दिव्यदृष्टि उपलब्ध हुई थी। दिव्यचक्षुओ से उनका नवनीतप्रिय जी के दर्शन करने का उल्लेख मिलता है। कहा जाता है कि एक वार उनकी परीक्षा के लिए नवनीतप्रिय जी के शृगार मे मात्र मौक्तिकहार धारण करवा कर सूर को उनके शृगार वर्णन को कहा गया। सूर ने तव 'देखे री हरि नगम नगा' से प्रारभ होने वाला पद गाया।[5] इनके अतिरिक्त 'सूर-सागर' मे भी कई पद ऐसे उपलव्ध होते है, जिनसे इनके जन्मान्ध होने के तथ्य को पुष्टि मिलती है। अत उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर सूर को जन्मान्ध मानना ही अधिक समीचीन जान पडता है।

शिक्षा

सूर की आरम्भिक शिक्षा के सवध मे कोई प्रामाणिक उल्लेख नही मिलता है। 'चौरासी वैष्णवन की वर्ता' के अनुसार यह कहा जा सकता है कि सूर अपने गाव से चार कोस दूर के स्थान पर रह कर पद वनाया करते थे। सगीत-शास्त्र के वे परम ज्ञाता थे। डा० दीनदयालु गुप्त सूर के काव्यनैपुण्य एव गान-विद्या-विशारद होने के विषय मे उनकी सहज प्रतिभा और साधु-सगति को ही प्रमुख कारण मानते है।[6] 'वार्ता' से एक वात तो सर्वमान्य है कि सूर वल्लभसप्रदाय मे दीक्षित होने से पूर्व गान-विद्या-विशारद हो चुके थे।

संप्रदाय-प्रवेश

जैसा कि पहले निर्देश किया जा चुका है हरिराय जी के 'भावप्रकाश' के अनुसार सूर ६ वर्ष की अल्पायु मे ही घर छोडकर चार कोस की दूरी पर एक तालाव के किनारे रहने लगे थे। १८ वर्ष की आयु तक वे वहाँ रहे। तत्पश्चात् वे मथुरा-आगरा के वीच गऊघाट पर रहने चले गए।

'वार्ता' के अनुसार एक समय वल्लभाचार्या जी को 'अडेल' से व्रज जाना था। मार्ग मे जाते हुए वे विश्राम के लिए 'गऊघाट' पर ठहरे। आचार्य जी ने वहाँ सूर की प्रसिद्धि सुनकर उनसे मिलने की इच्छा व्यक्त की। सूर आचार्य जी के प्रखर पाडित्य से अवगत थे ही। वे उनसे मिलने के लिए चल पडे। सूर के सप्रदाय-प्रवेश के सवध मे ऐसा अनुमान किया जाता है कि आचार्य जी ने अपने काशी (स०१५६३) और दक्षिण के राज्यसभावाले (सं० १५६५) शास्त्रार्थो के वाद

---

१. हि. सा. इ. १७५। २. 'जन्मान्धः सूरदासोऽभूत', संस्कृतवार्तामणिमाला। ३. जन्म हि ते हैं नैन विहीना, दिव्यदृष्टि देखहिं सुखभीना। ४. सू. सौ. मु. २४। ५. अ. व. गु. पृ. २०३। ६. अ. व. गु. पृ. २४। 'सूर ने किस प्रकार कविता करना और गान विद्या सीखी। इसका कोई उल्लेख किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। कदाचित् उनमें स्वाभाविक प्रतिभा थी और साधुसंगति से उन्होंने ज्ञान पाया और किसी गुणीभक्त से गाने की विद्या सीखी।

ही उन्हें दीक्षित किया। अत यह समय स० १५६५ के बाद का ही होना चाहिए।[1] 'वार्ता स भी यह स्पष्ट होता है कि सूर को शरण मे लेने से पूव वल्लभाचाय जी काशी एव दक्षिण के शास्त्रार्थों म विजयी होकर आचाय महाप्रभु की पन्वी से विभूषित हो चुके थे।

वल्लभाचाय जी ने सूर को गाने का आदेश दिया। आज्ञा पाकर सूर न 'हौं हरि सब पतितन कौ नायक' पद गाया। सूर के दय को देखकर आचाय जी न कहा जो सूर है कै ऐसो घिघियान काहे को है। कछु भगवल्लीला वणन करि।[2] सूर ने कहा जा महाराज हौं तो समझत नाही।[3] तब आचाय जी ने सप्रदाय विधि से उन्ह दीक्षा दी, अष्टाक्षर मत्र का नाम सुनाया और समपण करवाया। इसके पश्चात् आचाय जी ने उनको श्रीमदभागवत' पर लिखी अपनी सुबोधिनी टीका सुनाई। आचाय जी के कृपाप्रसाद से सूर का नवधा भक्ति प्राप्त हुई। तब सूर ने भगवल्लीलागान करते हुए एक पद गाया चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेमवियोग।

सूरसारावली के आधार पर यह ज्ञात हाता है कि सूर वल्लभाचाय जी से दीक्षित होने से पूव कमयोग ज्ञान उपासना आदि म विश्वास करते थे किन्तु सप्रदायप्रवेश के बाद श्री वल्लभगुरु ने उनको तत्त्व सुनाकर लीला भेद बताया। फलत उनको अब अपने कमयोग ज्ञान और उपासना के विश्वास भ्रमोत्पादक प्रतीत होने लगे।

वल्लभाचाय सूर को अपने साथ गोकुल ले गए। वहाँ नवनीतप्रिय जी के दशन कराए। सूर ने दशन के समय सोभित कर नवनीत लिए पद गाया। वल्लभाचाय जी ने प्रसन्न होकर भागवत की सपूण लीला सूर के हृदय म प्रस्थापित कर दी। सप्रदाय म दीक्षित हान स पूव सूर प्राय विनय के पद गाया करते थ, जिनम भगवल्लीला का कोई स्थान नही था। सूर को लीलागान का प्रसाद वल्लभाचायजी की कृपा से प्राप्त हुआ था। गोकुल मे कुछ दिन ठहर कर वल्लभाचायजी व्रज मे गये। वहा पर उन्हाने सूर को गोवद्धन पवत पर स्थित श्रीनाथ जी के दशन कराये। सूर ने वहा अब हौ नाच्यो बहुत गोपाल पद गाया। वल्लभाचाय ने सूर को भगवद्-यश वणन करन की आज्ञा दी। तब सूर ने कौन सुकृत इन व्रजवासिन को पद का गान किया। वल्लभाचायजी ने प्रसन्न होकर सूर को श्रीनाथ जी की कीतन-सेवा सौप दी।

अष्टछाप की स्थापना

श्रीनाथ जी के मन्दिर मे कीतन सेवा का मडान होने पर उसके प्रथम नियमित कीतनिये सूर नियुक्त हुए। सूर के पश्चात् दूसरे कीतनिय परमानन्ददास नियुक्त किय गये। कुभनदास सूर से भी प्राचीन कीतनकार थे पर गहस्थ होने से अनियमित रहा करते थे। इस तरह वल्लभाचाय जी के समय म सूर एव परमानददास नियमित कीतनिये थे। वल्लभाचाय के बाद गोपीनाथ जी क समय मे भी यही क्रम चलता रहा पर गोस्वामी विट्ठलनाथजी ने इस कीतन प्रणाली को और भी व्यापक तथा व्यवस्थित रूप दिया। उन्होंने श्रीनाथ जी की आठो समय की झाँकियो के अलग अलग कीतनकार नियुक्त किये। उनम से सूरदास परमानन्ददास कुभनदास,

---

१ सू नि भी ८३।

२ अष्टछाप श्री गोकुलनाथकृत, सकलनकर्ता, धीरेन्द्र वर्मा पृ० ४ चतुथ सस्करण १९५०।

३ अष्टछाप श्री गोकुलनाथकृत, सकलनकर्ता धीरेन्द्र वर्मा पृ ४ चतुथ सस्करण १९५०।

कृष्णदास ये चार महाप्रभु वल्लभाचार्य के सेवक थे तथा छीतस्वामी, गोविदस्वामी, चतुर्भुजदास और नन्ददास ये चार विट्ठलनाथ जी के सेवक थे। ये आठो मिलकर 'अष्टछाप' कहलाये। विट्ठलनाथजी ने सवत् १६०१ से १६०२ के मध्य 'अष्टछाप' की स्थापना की थी। इनमे सूर प्रमुख थे। 'वार्ता' मे लिखा है कि परमप्रभु श्रीनाथजी स्वय सखाभाव से 'अष्टछाप' के कवियो के साथ खेलते थे। इसीलिए ये 'अष्टसखा' भी कहे जाते है।

अकबर से भेट

कुछ विद्वानो के मतानुसार सम्राट् अकबर सूर से मिलने आये थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि तानसेन ने अकबर के समक्ष सूर का एक पद गाया। पद के भाव से मुग्ध होकर सम्राट् अकबर मथुरा जा कर सूर से मिले। सूर ने बादशाह को 'मना रे माधव सो करु प्रीति' पद सुनाया। बादशाह ने प्रसन्न हो कर सूर से अपना यश वर्णन करने का आग्रह किया। तब निर्लिप्त सूर ने 'नाहिन रह्यो मन मे ठौर' पद गाया। पद के अन्तिम चरण 'सूर ऐसे दरस को ए मरत लोचन प्यास' को लेकर बादशाह ने पूछा, "सूरदासजी तुम अधे हो, फिर तुम्हारे नेत्र दरस को कैसे प्यासे मरते है?" सूर ने कहा, "ये नेत्र भगवान् को देखते है और उस स्वरूपानन्द का रसपान प्रतिक्षण करने पर भी अतृप्त बने रहते है।" अकबर ने सूर को द्रव्य-भेट स्वीकार करने का अनुरोध किया। इस पर निडरतापूर्वक अपनी अस्वीकृति प्रकट करते हुए सूर ने कहा—"आज पाछे हमको कबहूँ फेरि मत बुलाइयो और मोको कबहूँ मिलियो मती।"[1]

सूर त्यागी, विरक्त और भक्त थे। उन्हे अकबर की कृपा की कोई अपेक्षा नही थी। पुष्टि-मार्ग मे बताई गई तनुजा, वित्तजा और मनसा सेवाओं मे से वे मानसी सेवा के परमभक्त थे।[2]

सूर-तुलसी-मिलन

बाबा बेनी माधव के 'मूल गोसाई चरित' के आधार पर कुछ विद्वान् सूर का तुलसी से भेट करना प्रामाणिक मानते है पर अधिकाश आलोचक इस तथ्य को इतिहास सम्मत न मानकर अप्रामाणिक बताते है।[3]

सूर का गोलोकवास

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार वल्लभाचार्य के लीलाधाम मे पधारने के बाद उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथजी की उपस्थिति मे श्रीकृष्ण की रासभूमि पारसौली मे सूर का गोलोकवास हुआ। सूर अपना अन्त समय आया जान कर गोवर्द्धन से सीधे पारसौली पहुँचे। वहाँ श्रीनाथजी की ध्वजा के सम्मुख शिथिलगात्र होकर सो गए। शृङ्गार के दर्शन मे सूर की अनुपस्थिति से गोस्वामी विट्ठलनाथजी को सूर की स्थिति का अनुमान हो गया। उन्होने उपस्थित वैष्णवो से कहा "जो पुष्टिमार्ग को जिहाज जाता है, जाको कछू लेनो होय तो लेउ।"[4] सेवा-कार्य समाप्त करके कुम्भनदास, गोविन्दस्वामी, चतुर्भुजदास तथा अन्य वैष्णवो के साथ गो० विट्ठलनाथजी पारसौली पहुँचे।

---

१. अ. व गु. पृ. २०८। २. 'अष्टछाप' काकरोली, पृ ५६। ३ सू० नि मी., ९३।
४. 'अष्टछाप', गो. श्री गोकुलनाथ-कृत पृ, १५।

विट्ठलनाथजी को सामने देखकर दण्डवत करके सूर ने पद गाया देखो देखो हरिजू को एक सुभाव।' तब चतुर्भुजदासजी ने कहा कि सूरदासजी भगवल्लीलागान तो आजन्म किया पर महाप्रभुजी का यश वर्णन नहीं किया। यह सुनकर सूर ने कहा कि मैंने तो महाप्रभु और भगवान् को कभी अलग करके देखा ही नहीं है। इसके साथ ही भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो। पद गाया। इसके पश्चात सूर अचेत हो गए। पुनः सचेत होने पर गोसाईजी ने पूछा कि सूर तुम्हारे नेत्र की वृत्ति कहाँ है? सूर ने उत्तर में अपना अंतिम पद सुनाया–

खंजन नैन रूप रसमाते।
अति से चारुचपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते।
चलि चलि जात स्रवनन के, उलट फिरत ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नातर अब उड़ि जाते।[1]

सूर ने इस तरह परम शान्ति के साथ भगवान की लीला में प्रवेश किया। उपस्थित वैष्णव समाज ने पारसौली में उनके शरीर की अन्तिम विधि पूरी की।

सूर के गोलोकवास के समय के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हैं। मिश्रबन्धु तथा आचार्य शुक्ल जी सम्वत् १६२० सूर का निधन समय मानते हैं। सूरनिर्णय में श्री मीतल तथा पारीख ने इस समस्या पर पर्याप्त प्रकाश डालते हुए सं० १६४० तक सूर की अवस्थिति मानी है। डा० दीनदयालु गुप्त भी इस द्वितीय मत से पूर्णतः सहमत हैं और यही मत अधिक प्रामाणिक भी प्रतीत होता है।[2]

(ख) नरसी का जीवन वृत्त

सूर के जीवन-वृत्त पर संक्षेप में विचार कर चुकने के पश्चात अब हम नरसी के जीवन वृत्त पर सम्यक् विचार करेंगे। हिन्दी में सूर के सम्बन्ध में जहाँ बहुत अधिक शोध-खोज हुई है और उनके जीवन एवं साहित्य पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है वहाँ गुजराती में नरसी पर बहुत कम लिखा गया है। अतः यह आवश्यक प्रतीत होता है कि एतत्सम्बन्धी सामग्री का अनुशीलन करके अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य के आधार पर गुर्जर गिरा के इस महान अमर-गायक का प्रामाणिक जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया जाए।

सामग्री निर्णय

नरसी सम्बन्धी आधार सामग्री का विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—

अन्तःसाक्ष्य

इसके अन्तर्गत नरसी के वे आत्मविषयक कथन आएँगे जो उनके आत्मपरक काव्यों में उपलब्ध होते हैं। नरसी के आत्मपरक काव्य निम्नलिखित हैं—

(अ) हारसमेना पद अने हारमाळा
(आ) सामळदासनो विवाह
(इ) मामेरु

---

१ 'अष्टछाप', [illegible] पृ० १८। २ [illegible] पृ० १४।

(ई) हूडी और
(उ) अन्य स्फुट पद ।

यद्यपि उक्त आत्मपरक काव्यो मे अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन किया गया है, तथापि नरसी के जीवन-वृत्त को जानने के प्रामाणिक एव महत्त्वपूर्ण आधार ये ही माने जा सकते है । उक्त रचनाओ मे से प्रथम दो मे कवि की जीवन-विषयक सामग्री का सर्वाधिक रूप मे उल्लेख मिलता है । नरसी ने इन रचनाओ मे अपनी उन समस्त पारिवारिक परिस्थितियो का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया है जो उनके जीवन मे किसी न किसी रूप मे घटित हुई । इन रचनाओ के सूक्ष्म अवलोकन से यह विदित होता है कि नरसी का जीवन परिवार, जाति, समाज, राज्य आदि सभी से उपेक्षित रहा था । किन्तु 'हरि' नाम का एक ऐसा अमोघास्त्र उन्हे प्राप्त हो चुका था, जिसके समक्ष समस्त भौतिक यातनाएँ नगण्य सी लगती थी । कबीर की भाँति नरसी का सुदृढ एव क्रान्तिकारी व्यक्तित्व हमारे सम्मुख स्पष्ट रूप से उभर आता है, जो धर्म को वर्ण, जाति, लिंग आदि के सकुचित घेरे मे सीमित न रखकर उसे एक विशाल एव व्यापक रूप मे देखता है । नरसी की आत्मपरक रचनाओ के अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके जीवन एव कृतित्व पर कबीर एव नामदेव जैसे उदार धार्मिक सतो का पर्याप्त प्रभाव पडा है । नरसी ने कबीर एव नामदेव का कुछ स्थानो पर उल्लेख भी किया है ।[1]

बहिःसाक्ष्य

इसके अन्तर्गत परवर्ती कवियो की वे रचनाएँ आती है जिनमे प्रस्तुत कवि के सम्बन्ध मे उल्लेख मिलता है । विष्णुदास, कृष्णदास, गोविन्द, विश्वनाथ जानी, प्रेमानन्द आदि गुजराती कवियो ने नरसी के जीवन से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण घटनाओ को लेकर काव्य लिखे है पर ये काव्य प्राय नरसी की आत्मपरक रचनाओ, प्राचीन-दन्त कथाओ एव अनुश्रुतियो पर ही आधारित है । इन कवियो की रचनाओ मे तथ्यो की अपेक्षा नरसी के जीवन के अद्भुत प्रसगो को ही अपनी कल्पना के रग मे रगकर प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति अधिक मिलती है । गुजराती कवियो के अतिरिक्त मीरा एव नाभाजी जैसे हिन्दी के भक्त कवियो ने भी बडी श्रद्धा से नरसी का उल्लेख किया है । नाभाजी ने 'भक्तमाल' मे नरसी का उल्लेख इस प्रकार किया है—

जगत विदित 'नरसी' भगत (जिन) 'गुज्जर' धर पावन करी ।
महास्मारत लोग भक्ति लौलेस न जानै ।
माला-मुद्रा देखि तासु कौ निन्दा ठानै ।
ऐसे कुल उत्पन्न भयो भागौत सिरोमनि ।
उसर तें सर कियौ खंड दोषहिं खोयो जिनि ।
बहुत ठौर परिचौ दियौ रसरीति भक्ति हिरदै धरी ।
जगत विदित 'नरसी' भगत (जिन) 'गुज्जर' धर पावन करी ।।[2]

---

१. 'आपी कबीराने अविचल वाणी'
'नामदेव ने हरिशु' प्रीत्य' हा. स. हा. कै., पृ. ६६ ।

२. भक्तमाल, पृ १०८ ।

दखा जाए ता नाभाजी न इस एक ही छन्द म नरसी के जीवन एव कृतित्व का अतीव सक्षिप्त रूप म प्रस्तुत कर दिया है। नरसी के समय गुजरात म स्मात मत का प्रावल्य अन्य मता का अपेक्षा कुछ अधिक था। गुजरात म कृष्ण भक्ति के नरसी ही आद्य स्थापक मान जान है। अपनी भक्ति की मधुर रसधारा से उन्हान सव प्रथम अनुवर गुजरधरा[1] का सरस एव उवर बनाया। भक्तमाल का रचनाकाल सवत १६६० माना जाता है। नाभाजा न नरसी के लिए जगत विदित विशषण प्रयुक्त किया है, जिससे यह स्पष्ट हाता है कि इस समय तक नरसी भारत क सुदूर काना तक प्रख्यात हा चुक थ। रसरीति भक्ति का तात्पय यहाँ नवधा स ऊपर दसवा प्रमभक्ति से ही लिया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त भक्तनामावली म नरसी का उल्लेख मिलता ह जिसम उनका शृङ्गारी कवि कहा है—

> नरसी हो अति सरस हिय, कहा देऊ समतूल।
> कहउ सरस शृगाररस, जानि सुखनि को मूल॥

बहिःसाक्ष्य के अतगत गुजराती एव हिन्दी के आधुनिक विद्वाना ने नरसी सम्बन्धी जा शोधपूर्ण लख लिखे है तथा गुजराती साहित्य क इतिहास म एतदसम्बन्धी जा सामग्री प्रस्तुत का गई ह उसका भी कम महत्त्व नहा ह। नरसी के जीवन एव कृतित्व पर गुजराती एव हिन्दी के जिन विद्वाना न प्रकाश डाला है उनम स कुछ महत्त्वपूर्ण विद्वाना का उनकी कृतिया के साथ यहा उल्लख किया जाता है—

गुजराती—

(१) श्री नमदाशकर लालशकर दव	'नमगद्य
(३) श्री इच्छाराम सूयराम दसाइ	नरसिंह महेता कृत-काव्यसग्रह
( ) श्री गावद्धनराम माधवराम त्रिपाठी	क्लासिकल पोयटस आफ गुजरात
(४) प्रो० आनन्दशकर ध्रुव	वसन्त पत्रिका (स० १९६१ भाद्रपद) म लख
(५) श्री एन० बी० दिवेटिया	गुजराती लेंग्वेज एण्ड लिट्रेचर
(६) श्री कन्हैयालाल माणकलाल मुशी	(१) नरसयो भक्त हरिना (२) गुजरात एण्ड इटस लिटचर'
(७) श्री कशवराम काशीराम शास्त्री	कवि चरित (भाग १ २)
(८) श्री एम० आर० मजूमदार	*मइल टर्डोसिज इन मिडियावल गुजराती* लिट्रेचर
(९) श्री अनन्तराय रावल	गजराती साहित्य मध्यकालीन
(१०) श्री के० एम० झवेरी	गुजराती साहित्यना मागसूचक अन वधु मागसूचक स्तम्भो

१ उत्पन्ना द्रविडे साऽह वृद्धि कर्णाटके गता।
क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे विलय गता॥ भागवत माहात्म्य।

हिन्दी–

(१) डा० जगदीश गुप्त — 'गुजराती और व्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन'

अन्त एव वाह्यसाक्ष्य सम्वन्धित उपरोक्त आधार सामग्री का यथास्थान उपयोग करते हुए यहाँ अव नरसी के जीवन पर सम्यक् विचार किया जाएगा।

समय

नरसी का समय विद्वानो मे अभी तक विवादास्पद विषय वना हुआ है। एक पक्ष इन्हे १५वी तो दूसरा १६वी शती मे विद्यमान मानता है। यहाँ दोनो पक्षो की स्थापना करके नरसी के समय को निश्चित करने का प्रयास किया जाएगा।

कवि नर्मद[१], श्री इच्छाराम सूर्यराम देसाई,[२] श्री दुर्गाशंकर के० शास्त्री[३], श्री केशवराम काशीराम शास्त्री,[४] जैसे प्राचीन काव्य सशोधको ने उपलब्ध सामग्री के आधार पर नरसी का जन्म सवत् १४६९-१४७० माना है। 'वृद्धमान्य' नाम से प्रसिद्ध इस मत को डा० एम्० आर्० मजूमदार,[५] डा० थूथी[६], श्री अनन्तराय रावल[७], एव श्री कृ. मो झवेरी जैसे विद्वानो का अनुमोदन प्राप्त है।

द्वितीय मत के मूल उद्भावक है आचार्य आनन्दशकर ध्रुव तथा मुख्य समर्थक है श्री कन्हैया-लाल मा. मुशी। 'वसन्त' वर्ष ४, अक ८ मे आचार्य ध्रुव का 'नरसी-भक्ति के मूल स्रोत' विषयक एक शोधपूर्ण निवन्ध प्रकाशित हुआ। जिसमे नरसी की भक्ति पर विचार करते हुए आचार्य ध्रुव ने उनकी भक्ति पर चैतन्य सम्प्रदाय का प्रभाव होने की सम्भावना वताई।

आचार्य ध्रुव का नरसी को वृद्धमान्य मत से चैतन्य के पश्चात् वताने का मुख्य कारण है नरसी के 'सुरत-सग्राम' मे राधा की चन्द्रावली, विशाखा तथा ललिता सखियो के नामो का उल्लेख। उनका कथन है कि जयदेव के 'गीतगोविन्द' मे राधा की सखियो के ये नाम प्रयुक्त नही हुए है किन्तु चैतन्य के शिष्य रूप गोस्वामी ने अपने ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' मे इन नामो का उल्लेख किया है। अत सम्भव है नरसी ने इसी ग्रन्थ से सखियो के नाम प्राप्त किये हो। इसी लेख मे आगे उन्होने यह भी कहा कि सखियो के ये नाम 'भविष्योत्तरपुराण' मे भी मिलते

---

१. 'नर्मगद्य' पृ. ४१, "एनो जन्म किया वर्षमा थयो ने ते किया वर्षमां मुओ ते जाणवामा आव्युं नथी पण ते संवत् १५०० मा हतो ए नक्की छे।" २. बृ. का. दो भा. २, पृ. १२। ३. 'ऐतिहासिक संशोधन' पृ० १२३। ४. 'गुजरात' गुरुवार ता० १०-१२-६४ पृ० ४-५। "आ वधुं विचारतां नरसिंहने एना वृद्धमान्य समयथी खसेड़ी शकाय एम नथी"

५. Main Tendencies in Medieval Gujarati Literature P. 110. ६. Vaishnavas of Gujarat..P. 225. The Purely literary tradition in Gujarat stated with Narasinha Mehta 1414-1481.

७. गु. सा. म. पृ. ८६।

"पण एनी 'हारमाला' मा नी इ. स. १४५६ नी साल तथा रा, माडलिक (१४५१-७२) साथेनी एनी समकालीनता ने आधारे एनो आयुष्यकाल १४१४-१५ थी १४८० सुधीनो मनायो छे।"

हैं किन्तु नरसी को इस पुराण के एक सुदूर कोने के स्थान पर सम्भव है 'उज्ज्वलनीलमणि स ही ये नाम प्राप्त हुए हो। अन्त म उन्होने वृद्धमा य मत का उद्दिष्ट कर यह भी कहा कि यदि नरसी का परम्परागत वद्धमा य मत उचित प्रतीत हो तो यह भी कहा जा सकता है कि 'उज्ज्वलनीलमणि' के स्थान पर सम्भव है उन्होन 'भविष्योत्तरपुराण' से ही सखिया के नाम प्राप्त किये हो।[1]

श्री के एम् मुशी ने नरसी को वद्धमा य मत से च्युत करने के लिए अपने नवीन तर्कों द्वारा आचाय ध्रुव क सभावनात्मक मत का पुष्ट एव प्रामाणिक बतान के भगीरथ प्रयत्न किए। उन्होंने अपने मत की पुष्टि म नरसयो भक्त हरिनो' म नरसिंह मेहता नो कोयडो शीषक के अन्तगत अनेक तक प्रस्तुत किये।[2] उनके प्रमुख तर्कों का सार निम्नानुसार है—

(१) नरसी की कृतिया पर 'भागवत', 'ब्रह्मववत और 'हरिलीलामृत' का प्रभाव दष्टिगत नही होता है। नरसी के 'सुरत-सग्राम' और गोवि द-गमन' काव्य म राधा की विशाखा और ललिता सखिया का उल्लेख है। इन काव्या मे नरसी स्वय को गोपी तथा सखी रूप मे उपस्थित बताता है। सखी भाव गुजरात की प्रकृति के प्रतिकूल है अत नरसी पर *अवश्य चैत य की शुद्ध व दावनीय भक्ति का प्रभाव दष्टिगत होता है।*

(२) नरसी पर चत य की भक्ति का प्रभाव पडा है, जिसका एक और प्रमाण विद्यमान है और वह है गोवि ददास की 'गावि ददासेर कडछा' रचना। यह रचना स १५११ की है। इसमे चत य की गुजरात यात्रा और जूनागढ म मीरा जी ब्राह्मण क घर चत य के निवास तथा रणछोडजी के म दिर मे दशन करने का वणन है। इस रचना म नरसी का उल्लेख नही मिलना इस बात का प्रमाण है कि नरसी का समय चत य की गुजरात यात्रा के बाद का होना चाहिए।

(३) *नरसी चत य सम्प्रदाय के श्री रूप गोस्वामी के 'उज्ज्वलनीलमणि' तथा विदग्ध माधव* ग्रथा की टीकाओ से परिचित प्रतीत हात है। क्याकि उनके 'सुरत-सग्राम' तथा 'गाविन्दगमन' म ये नाम उपल ध होत है। प्राचीन गुजराती साहित्य म ये नाम प्राप्त नही होते हैं। अधिक सम्भव यही है कि नरसी ने भविष्योत्तरपुराण' के स्थान पर *श्री रूप गोस्वामी क उपरात्त ग्र य म स ही य नाम ने लिये हो।*

(४) विदग्धमाधव नाटक की प्रस्तावना म जो अद्याह स्वप्नान्तरे समादिष्टोऽस्मि भगवता श्रीशकरदेवेन वाक्य है उसकी व्याख्या म महादेव का नाम गापीश्वर दिया गया है। नरसी के उपास्य भी गापीनाथ महादेव थे जिनकी तपस्या करके उन्हाने श्रीकृष्णलीला

---

१ लोकोक्ति सिवाय अधिक प्रमाण न होय तो नरसिंह महेतानी आज सुधी मनाती तारीख मा थोडाक वषनो फेर फार करवो उचित छे कारण के 'भविष्योत्तरपुराण' ना एक खूणामाथी नरसिंह महेताने ए नाम मल्यां होय एम मानवा करता एमना समयमां चैत य सप्रदाये ए नाम प्रसिद्धिमा आण्या हता अने त्याथी एमने ए मल्या एम मानवु वधारे योग्य छे आज सुधी मनाती आवेली तारीख अचल मालुम पडे तो चैतन्य ने बदल 'भविष्योत्तरपुराण' नी कल्पना करीने निवाह करवामा वाध नथी। २ नरसैयो भक्त हरिना' पृ ४६।

के दर्शन प्राप्त किये थे। आचार्य ध्रुव ने यही साम्य देखकर कहा था कि सम्भव है 'काठियावाड के गोपीनाथ महादेव का नाम उपरोक्त गोपीश्वर पर से ही पडा हो।'[1]

(५) भालण (ई स १४३४-१४६४), सिद्धपुर पाटण के कवि भीम (ई स १४८४ के आस-पास) तथा स्वय को वैष्णव कवि घोपित करने वाले कवि नाकर ने कही भी नरसी का उल्लेख नही किया है। १६वी शताब्दी मे हुए विष्णुदास, नाभाजी, मीरा, विश्वनाथ जानी (ई सन् १६५२, मोसाला चरित्र) तथा स. १६६० मे कल्याणराय द्वारा लिखित 'लौकिकेपु इदानी प्रसिद्धेपु नरसिंहाख्यादिपु अपि प्रसिद्धिवोधको हि शब्दा" कथन से यह प्रतीत होता है कि नरसी १६वी शती और इसके पश्चात् प्रसिद्ध हुए।

(६) नरसी के पदो की 'ढाळ' ई स १४६० से १५०० तक उपलब्ध हस्तलिखित काव्यग्रन्थो की 'ढाळ' की अपेक्षा उनके परवर्ती कवियो से अधिक निकटता रखती हे। भीम और भालण के 'ढाळ' की अपेक्षा ई स १५७०-७५ मे हुए गोपालदास के 'ढाळ' नरसी से अधिक साम्य रखते हैं।

इन तर्कों के आधार पर मुशीजी नरसी का कार्यकाल ई. स. १५०० से १६०० के मध्य मानते हैं।

मुशीजी के विरोध मे अनेक प्राचीन सशोधको ने कई रूपो मे वृद्धमान्य मत को प्रामाणिक वताते हुए अपने विचार प्रस्तुत किए। उनमे से श्री दुर्गाशकर के शास्त्री प्रमुख है। उन्होने मुशीजी के 'नरसिंह महेतानो कोयडो' के उत्तर मे 'नरसिंह महेताना कोयडानो विचार' लेख प्रकाशित किया।[2] इसके द्वारा आचार्य ध्रुव तथा मुशीजी की सभी शकाओ का लेखक ने वडे उचित तर्कों से समाधान किया। नरसी के साहित्य पर चैतन्य का नही अपितु 'भागवत' का ही सर्वाधिक प्रभाव पडा है। इस पर शास्त्री जी ने एक स्वतन्त्र शोधपूर्ण लेख लिखा, जिसमे उन्होने 'भागवत' से नरसी के कृतित्व की विस्तृत तुलना करके यह सिद्ध किया कि नरसी पर 'भागवत' का ही सर्वाधिक रूप से प्रभाव दृष्टिगत होता है। मुंशीजी की नरसी पर वृन्दावनीय भक्ति के प्रभाव की वात को निर्मूल सिद्ध करते हुए नरसी के सखी भाव को शास्त्री जी ने 'भागवत' एवं 'गीतगोविन्द' के आधार पर विकसित सिद्ध किया। शास्त्री जी ने राधा की ललिता, चन्द्रावली, विशाखा आदि सखियो के सम्वन्ध मे कहा कि ये नाम नरसी को देशव्यापी भक्तो एव सन्तो की वाणी से प्राप्त हुए थे। नरसी की भक्ति के सम्वन्ध मे उन्होने अपने विचारो को स्पष्ट करते हुए कहा कि नरसी ने भागवतोक्त प्रेम-लक्षणा-भक्ति का ही जयदेव एवं विल्वमगल के आधार पर विस्तार किया था।

श्री केशवराम का शास्त्री ने 'कवि-चरित' और 'नरसिंह महेतो एक अध्ययन'[3] कृतियो मे श्री दुर्गाशकर शास्त्री के मत का अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन करते हुए श्री मुशीजी के सभी तर्कों

---

१. 'काठियावाडना गोपनाथ महादेवनुं नाम पूर्वोक्त गोपीश्वर उपरथी पड्युं होय एम सहज कल्पना थई आवे छे।'
'वसंत' सं०१६६१, भाद्रपद पु. ८।

२. ऐतिहासिक संशोधन १२३। ३. (अर्ध मुद्रित) इस ग्रन्थ के कुछ फर्मे शास्त्री जी के सौजन्य से शोध-कर्ता को प्राप्त हुए थे।

को असगत घोषित किया। इन्होंने नरसी को वृद्धमान्य मतानुसार १५वी शताब्दी मे ही स्थिर रखना उचित समझा। राधा की सखिया के नाम विशेषत नरसी की 'सुरत-सग्राम तथा 'गोविन्द-गमन' कृतियो म ही उपलब्ध होते हैं। श्री के का शास्त्री ने इन ग्रन्थो को भाषा भाव एव शैली की दृष्टि से अप्रामाणिक माना है।[१] श्री दु के शास्त्री की तरह ये नरसी के 'सखीभाव' को चैतन्य का प्रभाव स्वीकार नही करते हैं। सखियो के नामो की विशेष स्पष्टता करते हुए उन्होने बताया कि 'उज्ज्वलनीलमणि' म निम्नानुसार सखिया के नाम आते हैं —

तत्र शास्त्र प्रसिद्धास्तु राधा चन्द्रावली तथा ।
विशाखाललिताश्यामापद्माशव्या च भद्रिका ॥५४॥
ताराविचित्रागोपालीधनिष्ठापालिकादय ।
चन्द्रावल्येव सोमाभा गान्धर्वा राधिकव सा ॥५५॥
अनुराधा तु ललिता नतास्ते नोदिता पथक ।
लोकप्रसिद्धानाम्न्यस्तु खजनाक्षी मनोरमा ॥५६॥
मगलाविमलालोलाकृष्णाशारीविशारदा ।
तारावलीचकोराक्षीशकरीकुमादय ॥५७॥[२]

विदग्धमाधव म भी मुख्य नायिका राधिका के साथ ललिता एव विशाखा सखिया के नाम मिलते हैं। बाद के अक ४ में चन्द्रावली उपनायिका के रूप म आती है। इसके पश्चात् वृन्दा शैब्या पद्मा आदि सखिया के नाम आते हैं। इन सभी को अपने समक्ष रखकर श्री के का शास्त्री ने अपना यह तर्क प्रस्तुत किया कि नरसी ने इन ग्रन्थो का अनुशीलन किया हो तो इनम से बहुतो को छोड़कर कुछ सखियो के नाम ही उन्होने क्यो ग्रहण किये ? इसके पश्चात् शास्त्री जी ने सप्रमाण यह सिद्ध किया कि उक्त सभी सखिया के नामो स गुजरात नरसी से भी बहुत पूर्व अच्छी तरह परिचित था।[३] उन्होंने अपने कथन की पुष्टि म यह भी कहा कि भविष्योत्तर' 'ब्रह्मवैवर्त' और 'पद्मपुराण' से जब माणिक्यचन्द्र सूरि (स १४७८ से पूर्व) जसे जनाचार्य परिचित रहे हो तब नरसी जस परमवैष्णव भक्त का इन ग्रन्थो से अपरिचित रहना असम्भव है। श्री के का शास्त्री न नरसी पर भागवत' एव 'गीत-गोविन्द' के साथ-साथ पद्मपुराण' के कथानक का भी पूर्णप्रभाव बताया है। इन्होने गोविददासेर कड़चा' कृति एव उसम वर्णित चैतन्य की जूनागढ़-यात्रा का समस्त वर्णन तथा उसम आने वाले समस्त नामो को अप्रामाणिक सिद्ध किया है।[४] इसके अनुसार चैतन्य के समय मे जूनागढ़ म रणछोड़ जी का न कोई मन्दिर था और न कोई मीरा जी

---

१ 'नरसिंह महेतो एक अध्ययन' पृ० ६६ 'गोविंदगमन' मा २८ मा पदमा व्यक्त थनो 'नव नरसइदास' अमल नरसिंह महेतानु अनुकरण करवा जता कया कयां उघाड़ो पड़ी जाय छे आ रीन ए बंने कृतिओ आपणी समक्ष अमिद्ध तरीके रजू थाय छे'।

२ उज्ज्वलनीलमणि निर्णयसागर आवृत्ति पृ० ७१ ७२ सन् १९३२।

३ 'भ्रमरगीता' चतुर्भुज पृ ३५,
सुनी धनि यह सब सखी चन्द्रावली जाप चित्राम लिखी।

४ 'संशोधनने मार्गे' ग्रन्थ में 'बगाली साहित्य नी एक छेतरपींडी' निबध पृ १५१।

ब्राह्मण ही विद्यमान था। मांगरोल के सं. १५०१ के मन्दिर के अनुकरण पर सं. १८३५ मे जूनागढ मे रणछोडराय का सबसे पहला मन्दिर बनवाया गया। इसी तरह मीरा जी नामक ब्राह्मण के स्थान पर वहाँ मुसलमानो के पीर मीरा दातार का पता मिलता है। श्री के का. शास्त्री का यह निश्चित मत है कि १९वी शताब्दी के 'गोविन्ददासेर कडछा' के लेखक ने केवल कल्पित अनुश्रुतियो के आधार पर ही इन सभी अवास्तविक बातो का उल्लेख कर दिया है। श्री के का शास्त्री ने रा' मांडलिक एव नरसी को समकालीन माना है। छन्दविधान की दृष्टि से श्री के. एम् मुशी ने जो नरसी को चैतन्य के परवर्ती मानने का अनुमान किया है इसका भी शास्त्रीजी ने सप्रमाण उत्तर दिया है। इन्होने नरसी के छन्दविधान की नरसी के पूर्ववर्ती जैन रासोकाव्य से तुलना करके उसकी प्राचीनता सिद्ध की है।

डा जगदीश गुप्त ने मुशीजी के मत का अनुसरण करके नरसी का समय १६वी शती माना है।[१] किन्तु ऊपर के प्रमाणो के आधार पर अब इस मत का स्वयमेव निराकरण हो गया है।

'तवारीखे सोरठ' जूनागढ के दीवान रणछोडजी का मूल फारसी मे लिखा ग्रन्थ है। जिसका जेम्स बर्गेज साहब ने अग्रेजी मे अनुवाद किया। उसमे नरसी को रा' माडलीक का समकालीन माना है।[२] रा'माडलीक को सन् १४६९ मे मुहम्मद बेगड़ा ने जूनागढ जीत करके मुसलमान बनाया था। जिसका मुसलमानी नाम खान जहान था।[३]

इस प्रकार उक्त सभी तथ्यो पर विचार किया जाए तो नरसी को वृद्धमान्य मत से अर्थात् १५वी शती से च्युत करके १६वी शती मे रखने का कोई पुष्ट आधार उपलब्ध नही होता है। उपरोक्त प्रमाणो के आधार पर हमने नरसी का समय १५वी शती मानना ही अधिक उचित समझा है। श्री के का शास्त्री ने नरसी का जन्म काल सवत् १४६६-६७ (ई. १४१०-११) अथवा सवत् १४६९-७० (ई सन् १४१३-१४) मे से किसी एक को मान लेना उचित बताया है। इस सम्बन्ध मे जब तक विशेष प्रमाण न मिल जाए तब तक नरसी का जन्म समय इनमे से किसी एक को मान्य रखना उचित ही है।

जन्मस्थान, जाति एवं परिवार

नरसी के जन्म स्थान के सम्बन्ध मे सभी एक मत है। उनका जन्म भावनगर (सौराष्ट्र) के निकट तलाजा गाव मे हुआ था।

नरसी वडनगरा नागर ब्राह्मण थे। उन्होने स्वय 'हार प्रसग' के पदो मे तथा 'सामळदास नो विवाह' मे कई स्थानो पर अपने नागर होने का उल्लेख किया है—

(१) 'नात कठोर रे, नागर तणी रे, ठाम-ठाम दीधुं बहु दुःख।'[४]

(२) 'नात नागर थकी रहे घणुं वेगळो, भगत उपर घणुं भाव राखे।'[५]

---

१. गु. म क्र तु. अ पृ १२, १३, डा. गुप्त।

२. In spite of beholding so many evident miracles Raja Mandalik prohibited Narasinha Mehta from propagating the Vaishnav, sect. P. 121

३ History of Gujarat : M. S. Commissariat. P. 138

४. हा. स. हा. के १२३। ५. न. म का. सं. ७०।

'नागर' शब्द की उत्पत्ति के बारे म विद्वाना म पर्याप्त मतभेद है। कुछ विद्वान इस शब्द की उत्पत्ति वडनगर म बसने वाले नागरिका से मानते हैं जबकि अन्य इस 'नाग' शब्द से व्युत्पन्न मानते हैं। श्री रत्नमणिराव भी० जोटे 'नाग' शब्द के आगे मानार्य बहुवचन का तामिल का 'र' प्रत्यय मानते है। उनके मत मे 'नागर' शब्द का अर्थ होता है 'नागा के ब्राह्मण'।[1] वस्तुत नागर जाति गुजरात की एक सम्मानित जाति है और गुजरात के साहित्य एव सस्कृति के विकास मे इस जाति का महत्वपूर्ण योग रहा है।

कहा जाता है कि नरसी के पिता कृष्णदामोदर और पितामह विष्णुदास थे। उनकी माता का नाम दयाकोर और भाई का नाम बसीधर अथवा वणसीधर था। नरसी का जन्म कृष्णदास की ढलती उम्र म हुआ था। तीन वर्ष की उम्र मे इनके पिता का अवसान हो गया। इसके पश्चात माता अपने पुत्र को लेकर काका पर्वतदास के यहाँ चली गई। नरसी आठ वर्ष की उम्र तक गूगे रहे। कहा जाता है कि गिरनार के एक साधु की कृपा से उन्हे वाणी प्राप्त हुई। अपने चचेरे भाइयो के साथ नरसी को सस्कृत अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ था। माता बालक नरसी को कृष्ण कथाएँ सुनाया करती थी। आगे चलकर इन्ही सस्कारो ने नरसी को गुजर धरा का परम वैष्णव बनाया।[2]

विवाह

११ वर्ष की उम्र मे रा माडलिक के मन्त्री की पुत्री के साथ नरसी का सम्बन्ध निश्चित किया गया। पर नरसी के आवारापन के कारण यह बीच ही म विच्छिन्न हो गया। कहा जाता है कि इसी आघात से उनकी माता का अवसान हुआ। इसके पश्चात काका पर्वतदास ने जूनागढ के मजेवडी के एक नागर गहस्थ पुरुषोत्तम की पुत्री माणेक महेती स नरसी का पाणिग्रहण करवाया। नरसी की पत्नी सरल एव सती-साध्वी स्त्री थी।

विवाह के पश्चात नरसी अपने भाई बसीधर के साथ रहने लगे। साधु-सन्तो की मडलियो म घूमते रहना ही उनका काम था। उनकी गृहस्थी का सम्पूर्ण भार भाई के कन्धो पर ही था।

भाभी का उपालभ

नरसी की घुमक्कड वृत्ति भाभी के लिए असह्य थी। अपने पति की गाढी कमाई पर निरुद्यमी देवर मौज करे यह उसके लिए असह्य था। एक दिन पानी मागने पर भाभी न नरसी को चुभती बात कह दी। जिसका उल्लेख स्वय नरसी ने किया है—

'मरम वचन कह्या मूजने भाभीए ते मारा मनमा रह्या वलूघी'।[3]

नरसी के लिए भाभी के मर्मान्तक वचन असह्य थ। वे घर से निकलकर तलाजा के निकट गोपेश्वर महादेव के मन्दिर म जाकर सात दिन तक निराहार रहकर शिव स्तवन करते रह। कवि न अपने 'सामळ दासना विवाह' म इसका वर्णन अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया है। कवि के अनुसार शिवकृपा म उनको द्वारका म कृष्णलीला के प्रत्यक्ष दर्शनो का लाभ प्राप्त हुआ।[4] पर वास्तव म तो नरसी को भावजगत् म ही शिव एव कृष्ण का कृपाप्रसाद प्राप्त हुआ था।

---

१ 'गुजरातनो सांस्कृतिक इतिहास' श्री र भी जोटे। पृ १६६। २ न म का स २६।
३ न म का स ७८। ४ न म का स ७८।

कवि नर्मद के अनुसार भाभी के वाक्प्रहार से विद्ध होकर नरसी ने गोकुल-मथुरा की राह पकडी। मार्ग मे साधुओ की भजन-कीर्तन मण्डलियो के सत्सग से उन्होने विद्या एव सगीत का ज्ञान अर्जित किया। स्वल्प काल तक इधर-उधर भटक कर सम्बन्धियो के समझाने-बुझाने पर वे पुन घर लौट आए और गृहस्थ के रूप मे अपने जीर्ण-शीर्ण घर मे रहने लगे।[1]

नरसी कुछ दिनों तक 'तलाजा' मे रहे और फिर अपनी पत्नी के साथ जूनागढ मे जाकर रहने लगे। इनके दो सन्ताने थी—एक पुत्र और एक पुत्री। पुत्र का नाम सामळदास और पुत्री का नाम कुवरबाई था।

नरसी का जीवन अनेक विरोधो एव कठिनाइयो मे व्यतीत हुआ। उनकी वैष्णव-भक्ति से जाति एव समाज के लोग चिढे हुए थे। सभी ने उन्हे अनेक प्रकार की यातनाएँ दी, किन्तु ऐसे कठिन समय मे भी कुछ ऐसे अद्भुत प्रसग उपस्थित हुए जिनसे उनके कष्टो का अनायास ही निवारण होता रहा और फलत उनकी भगवद्-भक्ति की छाप जन-मन पर सुदृढ होती चली गई। उनके जीवन से सम्बद्ध अद्भुत प्रसगो मे से कुछ महत्त्वपूर्ण प्रसगो का यहाँ सक्षेप मे उल्लेख किया जाता है।

नरसी के जीवन के अद्भुत प्रसंग—

(१) झारी

नरसी मध्यरात्रि मे भजन-कीर्तन कर रहे थे। उस समय उन्हे प्यास लगी। भगवान् ने मोहिनी स्वरूप बनाकर नरसी को स्वय अपने हाथो जल पिलाया। कवि ने इसका उल्लेख इस प्रकार किया है —

'हरी आव्या छे नारीना वेशे रे, एने कोई जुवो रे।'[2]

पर नरसी पहली दृष्टि मे जिसे प्रत्यक्ष भगवान् के रूप मे देखते है वह और कोई नही किन्तु उनकी भजन-मण्डली की सखी रतनबाई ही थी—

'रतनबाई घणु व्याकुळ करे छे, तमे ल्यो ने महेता जी पाणी'।[3]

नरसी के जीवन का यह प्रसग 'झारी' के नाम से प्रसिद्ध है। श्री के. का शास्त्री इस प्रसग को मागरोल मे घटित बताते है।[4]

(२) मामेरुं

'मामेरु' नामक आत्मपरक काव्य मे नरसी ने इस प्रसग का वर्णन किया है। अपनी पुत्री कुवरबाई के 'सीमत' के अवसर पर निर्धन नरसी की प्रार्थना सुनकर भगवान् स्वय दामोदर दोशी के रूप मे पधार कर पहनावे का कार्य सम्पन्न करते है। नर्मद के अनुसार यह किसी भावुक श्रेष्ठिजन की ही सहृदयता एव उदारता का परिणाम कहा जा सकता है।

(३) सामळदासनो विवाह

नरसी ने बडे राजसी ठाठ से अपने पुत्र सामळदास का विवाह सम्पन्न किया था। बरात मे रुक्मिणी के साथ भगवान् कृष्ण स्वय पधारे थे। विवाह की तिथि निश्चित हो

---

१. न ग, पृ ४१। २ न म. का सं, पृ. ४६६। ३. न. म का. म, पृ ४६६।
४. 'गुजरात', गुरुवार, ता. १०. १२ ६४।

जाने पर नरसी का द्वारिका जाकर कृष्ण को आमन्त्रित करना कृष्ण द्वारा नरसी का भव्य स्वागत, बरात म रुक्मिणी सह कृष्णागमन आदि अदभुत प्रसगो का कवि ने 'मामळ दासनो विवाह काव्य मे काय की अतिरजित शली म विशद वणन किया है। यहाँ भी व्यावहारिक दष्टि से नमद के मत को ही उचित मानकर यह कह सकते है कि किसी सहृदय व्यक्ति ने नरसी के पुत्र के विवाह का व्यय भार अपने सिर पर ले लिया होगा।

(४) हूडी

नरसी के उपहासक नागरा न सात सौ रुपय देकर हूडी लिखवाने को उत्सुक यात्रिया को नरसी के पास भेजा। द्वारिका म भगवान् कृष्ण स्वय नरसी की प्राथना पर सामळदास सेठ का रूप बनाकर हूडी स्वीकार करत हैं। नरसी न अपने हूडी काव्य म इस घटना का वणन किया है।

(५) हार

नरसी के प्रतिपक्षिया ने राजा रा माडलिक को नरसी के विरुद्ध उकसाया। राजा के समक्ष नरसी को वे व्यभिचारी एव स्त्री-लपट सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। राजा इसकी परीक्षा के लिए नरसी को कृष्ण द्वारा पुष्पमाला प्राप्त करने का आदेश देते है। 'हार' प्राप्त करने मे असफल होने पर राजा ने नरसी के लिए मत्युदण्ड निश्चित किया था। भगवान यहा भी अपने भक्त नरसी के गले मे हार अर्पित करते हैं। हार समना पद अने हारमाळा काव्य म इस घटना का बडा ही प्रभावोत्पादक वणन किया गया है।

नरसी के जीवन का प्रमुख काय कृष्ण-कीतन ही था। वे कृष्ण को ही परात्पर ब्रह्म मानत थे और उन्हीके चरणा मे सदा समर्पित होने की भावना रखते थे। व स्वय कहते हैं—

श्यामना चरणमा इच्छु छु मरण रे
अहिया कोइ नथी कृष्ण तोले।[1]

समद्रष्टा नरसी

नरसी समद्रष्टा भक्त थ। जाति-पाँति एव स्पश्यास्पश्य के भेदभावा से वे बहुत ऊपर उठ चुके थे। आमन्त्रित होने पर वे शूद्रा के यहाँ भी प्रसन्नतापूवक भजन-कीतन करने जाया करते थ। एक बार किसी शूद्र के यहाँ भजन-कीतन करने के अपराध म उनका जातिबन्धुआ न जातिव्यवहार बन्द कर दिया था।

वास्तव म नरसी का सम्पूण जीवन जाति समाज आदि म मग्न उपेक्षित रहा था। नरसी के सामने ही उनकी पत्नी एव युवा पुत्र शामळदास का अवसान हो गया था। हारमाळा प्रसग म अपना मृत्युकाल सन्निकट देखकर नरसी अपनी पुत्री को सान्त्वना देते हुए कहते है—

मात तारो रे हरि ने जइ मळो रे, भ्रात श्रीकृष्णने पाम्यो शरण।
चरण वळग्यो रे, कुवरी तु रहो रे, आज आ काळ मुझ मरण॥[1]

१ न म का म पृ ४८४। २ हा स हा क पृ १२३।

उत्तरावस्था

नरसी ने अपना समस्त जीवन कृष्ण-कीर्तन मे व्यतीत किया था। नित्यप्रति नवनवीन कृष्णलीला-परक पद बनाकर भजन-मण्डलियो मे करताल-ध्वनि के साथ गाते रहना ही उनके जीवन का प्रमुख कार्य था।

विद्वानो का ऐसा अनुमान है कि वृद्धावस्था मे नरसी मधुरलीला के स्थान पर ज्ञान-भक्ति के पद बनाकर गाया करते थे। प्रभातियो के रूप मे नरसी-रचित ये पद आज भी गुर्जरवासियो के कण्ठहार बने हुए है।

मृत्यु

नरसी का मृत्यु-समय जन्म की भाँति अभी तक विवादास्पद रहा है। स्व इच्छाराम सूर्यराम देसाई के अनुसार उनका गोलोकवास ६६ वर्ष की उम्र मे हुआ।[1]

श्री के का. शास्त्री सवत् १५१२ के बाद तक नरसी की अवस्थिति मानकर राजा रा' माडलिक के शासन-काल (सन् १४६९) तक जूनागढ एव तत्पश्चात् मागरोल मे उनके काका पर्वतदास के यहाँ शेप जीवन व्यतीत करने की सम्भावना प्रकट करते हे, क्योकि मागरोल के मुकुतुमपुर द्वार का समुद्र-तटवर्ती स्थान आज भी 'नरसी-मसाण' के नाम से प्रसिद्ध है।[2]

(ग) तुलना

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, मध्यकाल के इन दोनो पावन भक्त-कवियो का जीवन-वृत्त विविध अनुश्रुतियो से आच्छन्न रहा है। इसलिए इनका सम्पूर्ण प्रामाणिक लोक-वृत्त सशोधको को उपलब्ध नही हो सका है। एकाध स्थान को छोडकर सूर ने अपने पदो मे अपने जीवन के सम्बन्ध मे कुछ भी सकेत नही दिया हे। नरसी ने अवश्य अपने आत्मपरक-काव्यो मे अपने जीवन-वृत्त पर बहुत कुछ प्रकाश डाला है। घर की दरिद्रावस्था, विवाह, भाभी का उपालम्भ, पुत्र-पुत्री का विवाह, अपनी वैष्णव भक्ति एव उसके प्रति समाज का रोप, फलत 'हार प्रसग', पुत्री का सीमत सस्कार आदि जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओ का उन्होंने काव्य की अतिरजित शैली मे वर्णन किया है।

समय की दृष्टि से नरसी सूर की अपेक्षा पूर्ववर्ती ठहरते हे। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, सूर का जन्म सवत् १५३५ तथा नरसी का जन्म सवत् १४६९ अथवा १४७० निश्चित

---

१. न म. का म, पृ. ४४।

२. नरसिंह क्या सुधी जीव्यो ए कहेवुं मुश्केल छे. स. १५१२ पछी ए जीव्यो होय तो मंडलीकनी हयाती सुधी जूनागढमा अने पछी मुस्लिम शासन थता सभवत' ए मागरोल जई रह्यो होय कारण के त्या एना काका पर्वतदासनो स्थायी निवास हतो गुजरात पाटणमां हेमचद्रना अग्निदाहना स्थाननी 'हेमखाड' तरीके ख्याति छे तेवी मागरोलना मुकुतुमपुर दरवाजाथी पश्चिमने मार्गे दरिया काठे आवेला जूना स्मशान (अत्यारे खारीओना स्मशान तरीके जाणीता) नी 'नरसी-मसाण' तरीके ख्याति छे. आ मात्र संभावना छे. एने हकीकत तरीके न गणाय. गुजरात, गुरुवार, १०-१२-६४, पृ०६। के. का. शास्त्री.

किया गया है। इस प्रकार नरसी सूर से ६६ वर्ष पूर्व हुए हैं। एक मान्यता के अनुसार नरसी 'वल्लभ सम्प्रदाय' में बधया के नाम से प्रसिद्ध रहे हैं—

श्रीवल्लभ, श्रीविट्ठल भूतले प्रगटीने, पुष्टिमार्ग ते विशद करश।[1]

किन्तु विद्वानों ने इस कथन को सर्वथा अप्रामाणिक एवं प्रक्षिप्त माना है।

सूर जन्मान्ध थे। उन्होंने आजीवन एक साधु के रूप में निस्पृह जीवन व्यतीत किया था। आचार्य वल्लभ की कृपा प्रसाद प्राप्त करने के पूर्व भी वे गऊघाट पर साधु जीवन ही बिताया करते थे।

नरसी का जीवन इस दृष्टि से सूर से पर्याप्त भिन्न रहा है। नरसी गृहस्थ थे। विदेह की तरह संसार से अलिप्त रहकर वे अहर्निश कृष्ण-कीर्तन में मग्न रहा करते थे। उनका जीवन इसीलिए सांसारिकों के लिए आदर्श रहा है। वे स्वयं कहते हैं—

'ससार केवार सव साचविये विकारथी वेगळा रहिये।'

भगवान कृष्ण ने भी गीता में अर्जुन को इसी प्रकार के जीवन का उपदेश दिया है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥गीता, ३ २०॥

अर्थात् जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परमसिद्धि को प्राप्त हुए हैं। अतः लोकसंग्रह को देखता हुआ भी तू कर्म करने योग्य ही है।

सूर गृहस्थ नहीं थे। अतएव नरसी के जैसी पारिवारिक, सामाजिक आदि बाधाओं का उनके जीवन में प्रायः अभाव रहा। गृही होने के कारण ही नरसी को आए दिन अनेक प्रकार की आपत्तियों का सामना करना पड़ता था। वास्तव में उनका जीवन उस वृक्ष के सदृश था जो प्रचण्ड झंझावात में अनमित रहकर अपने अस्तित्व के लिए सदा जूझता रहता है। 'हार' प्रसंग में नरसी की हम उस करुणस्थिति का दर्शन करते हैं जिसमें वह समाज एवं राजकोप का लक्ष्य बनकर अपने जीवन के प्रति सर्वथा निराश हो चुका है। वास्तव में नरसी का जीवन बड़ी विषम परिस्थितियों में से होकर गुजरा था। अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक वह संकटों से जूझता ही रहा था।

सूर के जीवन में इस प्रकार की कठिन परिस्थितियाँ कभी नहीं आईं। आचार्य वल्लभ जैसे सुरतरु की शीतल छाया में उनका जीवन परम शान्त भाव में व्यतीत हुआ।

गुजरात में कृष्णभक्ति काव्य के आद्य रचयिता नरसी माने जाते हैं।[2] इसलिए वे गुजरात के प्रथम वैष्णव कवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। सूर को इस प्रकार का श्रेय उपलब्ध नहीं हो सका। सूर से पूर्व व्रज प्रदेश में कृष्णकाव्य की रचना प्रारम्भ हो चुकी थी। नरसी के समय वैष्णव भक्ति के लिए गुजरात जिस भाँति प्रतिकूल प्रदेश था वैसा सूर के लिए व्रज नहीं। गुजरात में नरसी को वैष्णव भक्ति के कई विरोधी विद्यमान थे जब कि व्रज में सूर के सामने एक भी प्रतिपक्षी नहीं था।

---

१ न म का म, पृ ५३४। २ हा स हा के, पृ १ १
२ नर्मगद्य "गुजराती लोकमा कृष्णभक्ति दाखल करनार पहेलो त ज हे", पृ ४२।

भक्ति के लिए व्रज उर्वर तथा गुजरात अनुर्वर प्रदेश माना गया है। नरसी के जीवन का यही सबसे महान् कार्य था कि उन्होने गुजरात की बजर भूमि मे वैष्णव-भक्ति के बीज वपित कर सावधानी पूर्वक उनका सिंचन एव सवर्द्धन किया। इसीलिए नाभाजी ने नरसी को 'भागौत सिरोमनि' एव गुर्जरधरा का 'पावन कर्ता' कहा है।

कहा जाता है कि अंधे होने के कारण सूर के प्रति उनके माता-पिता उपेक्षा रखते थे। सूर ने इसीलिए घर से दूर रहकर साधु-जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया था। नरसी को बाल्यकाल से ही कृष्ण-भक्ति से लगाव था। वे साधु-सन्तो की भजन-मण्डलियो मे घूमा करते थे, जिसके फलस्वरूप उन्हे भाभी का कटु उपालम्भ सुनना पडा था।

सूर एव नरसी दोनो के जीवन मे बहुत कुछ साम्य भी दृष्टिगत होता है। दोनो उच्चकुलोत्पन्न ब्राह्मण थे। भगवदनुग्रहोपलब्धि ही उनके जीवन का परम कर्तव्य था। दोनो का जीवन सदा सात्विक रहा। दोनो कृष्ण के अनन्य भक्त थे।

फिर भी नरसी की भक्ति मे सूर की अपेक्षा महान् अन्तर था। उनकी भक्ति सूर की भाँति किसी सम्प्रदाय विशेष के वर्तुल मे परिमित नही थी। सूर आचार्य वल्लभ द्वारा पुष्टि-सम्प्रदाय मे यथाविधि दीक्षित थे, किन्तु नरसी अपने युग के एक क्रान्तिकारी स्वतन्त्र वैष्णव-भक्त थे।

द्वितीय अध्याय

(क) सूर-साहित्य
(ख) नरसी-साहित्य
(ग) तुलना

द्वितीय अध्याय

सूर एवं नरसी की कृतियों का सामान्य परिचय

सूर एव नरसी के जीवन-वृत्त पर विचार कर चुकने के पश्चात् अब हम उनके द्वारा निर्मित साहित्य का सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे। इन दोनो कवियो ने अपने जीवन-काल मे विपुल साहित्य की सृष्टि की, जिसके कारण हिन्दी एव गुजराती साहित्य मे इन दोनो को मूर्धन्य स्थान प्राप्त है।

(क) सूर-साहित्य

'वार्ता' साहित्य मे सूर के सहस्रावधि पदो का उल्लेख मिलता है, जिससे कई विद्वान् उनके लिए सवा लाख पदो की सभावना प्रकट करते है। 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा' की खोज रिपोर्ट, इतिहास-ग्रन्थ एव ग्रन्थागारो मे सुरक्षित सामग्री के आधार पर सूर के अधिकाधिक २५ ग्रन्थ माने जाते है---[1]

१ सूरसारावली
२ साहित्य-लहरी
३ सूरसागर
४ भागवतभाषा
५ दशमस्कन्धभाषा
६ सूरसागर-सार
७. सूररामायण
८ मानलीला
९ राधारसकेलि-कौतूहल
१०. गोवर्धनलीला
११ दानलीला
१२ भँवरगीता
१३ नागलीला
१४ व्याहलो
१५. प्राणप्यारी
१६ दृष्टिकूट के पद
१७ सूरशतक
१८ सूरसाठी
१९ सूरपचीसी
२० सेवाफल
२१ सूर के विनय आदि के स्फुट पद
२२ हरिवश-टीका
२३ एकादशी माहात्म्य
२४ नल-दमयन्ती
२५ रामजन्म

उल्लिखित ग्रन्थो मे से कुछ प्रकाशित और कुछ अप्रकाशित है। सभी ग्रन्थो की प्रामाणिकता पर विचार करते हुए डा दीनदयालु गुप्त ने 'सूरसागर', 'सूरसारावली' और 'साहित्य-लहरी' ग्रन्थो को ही सूर-कृत माना है।[2] 'प्राणप्यारी' को सदिग्ध तथा 'नल-दमयन्ती', 'हरिवश-टीका', 'रामजन्म' और 'एकादशी माहात्म्य' इन चारो कृतियो को उन्होने अप्रामाणिक माना है। शेष १६ कृतियो को डा गुप्त ने 'सूरसागर' तथा 'साहित्य-लहरी' का ही अंश माना है, तथा उन्हे प्रामाणिक बताया है। 'दृष्टिकूटपद' ग्रन्थ का उल्लेख डा गुप्त ने नही किया है।

---

१. सू. नि. नी, पृ १०५ तथा सू. सा. ह, पृ. ३५। २. अ. व. सु., पृ २९८।

'सूरनिणय' म श्री मीतल एव परीख महोदय ने सूर की सात कृतियाँ प्रामाणिक माना हैं। वे इस प्रकार हैं—सूरसारावली, 'साहित्य लहरी', 'सूरसागर' सूरसाठी, 'सूरपच्चीसी' सेवाफल और सूर के विनय आदि के स्फुट पद। डा गुप्त की भाँति 'हरिवंश-टीका' एकादशी माहात्म्य नल दमयन्ती और रामजन्म को सूरनिणयकारा ने सूर कृत नहीं माना है।'

आधुनिक आलोचक सूरसागर सूरसारावली और साहित्य लहरी ग्रन्था को ही सूर की मुख्य कृतिया मानते है। यहाँ इन्ही कृतिया के सम्बन्ध म विचार किया जाएगा।

१ सूरसागर

महाकवि सूर का यह सर्वाधिक प्रामाणिक एव प्रमुख ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता वार्ता से भी सूचित होती है। उसम सूर के श्रीमद्भागवत के आधार पर द्वादश स्कन्धा की रचना करने का उल्लेख मिलता है।

'सूरसागर' की सग्रहात्मक एव द्वादशस्कन्धात्मक दो प्रकार की प्रतियाँ उपलब्ध हुई है। दोना मे पाठभेद भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होता ह। सौकय की दृष्टि से सग्रहात्मक पाठ के स्थान पर सूर के अध्येताओ ने द्वादशस्कन्धात्मक पाठ ही अधिक ग्राह्य माना है। 'सूरसागर' (सभा) के द्वादश स्कन्धा के आकार विस्तार की विवृति इस प्रकार है—

स्कन्ध		पद सख्या	पृष्ठ सख्या		
प्रथम	(अ) विनय के पद	२२३	१	से	७२
	(आ) श्रीभागवत प्रसग	१२०	७३		११४
द्वितीय		३८	११५		१२७
तृतीय		१३	१२८		१३७
चतुथ		१३	१३८		१४६
पचम		४	१५०		१५४
षष्ठ		८	१५५		१६१
सप्तम		८	१६२		१६६
अष्टम		१७	१७०		१७६
नवम		१७४	१८०		२५४
दशम	(अ) पूर्वाध	४१६०	२५५		१६४६
	(आ) उत्तराध	१४६	१६४७		१७१७
एकादश		४	१७१८		१७२०
द्वादश		५	१७२१		१७२४
परिशिष्ट (१)[२]		२०३	१		६६
परिशिष्ट (२)[३]		६७	६७		८६

१ सू नि मी, पृ १०८, १०९।

२ परिशिष्ट '१' म वे पद रखे गए हैं जो निश्चित रूप से प्रक्षिप्त नहीं माने गए जिनके सबध म सशय और जिज्ञासा को स्थान है। सू सा, परिशिष्ट १।

३ परिशिष्ट २' में वे पद हैं जो सपादक की दृष्टि में निश्चित रूप से प्रक्षिप्त हैं। सू सा, परिशिष्ट ।

इस प्रकार विनय के २२३ पदो के साथ भागवत प्रसग के प्रथम से द्वादशस्कन्धो तक के पदो का योग ४९३६ होता है। विस्तार की दृष्टि से दशम स्कन्ध सबसे बडा है। इसमे भी पूर्वार्ध का विस्तार अधिक है। देखा जाए तो सूर के ममक्ष कृष्ण की बाललीलाओ का सकीर्तन ही प्रमुख था। दशम स्कन्ध के अतिरिक्त अन्य स्कन्धो पर विचार करे तो ऐसा लगता है, जैसे प्रथा-पालन के लिए ही सूर को इन पर श्रम करना पडा है। यहाँ हम 'सूरसागर' के सभी स्कन्धो का सक्षेप मे विहगावलोकन प्रस्तुत करते है।

प्रथम स्कन्ध

(अ) विनय के पद

'चरन कमल वन्दौ हरिराइ' के मगल स्तवन के साथ 'सूरसागर' का प्रथम स्कन्ध प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम कवि भगवान् की असीम कृपा का उल्लेख करके बारम्बार उनके चरणो मे वन्दना करता है। दूसरे पद मे सूर ने ब्रह्म का 'रूपरेख गुन विनु' रूप भ्रमात्मक होने से उसे 'सब विधि अगम' घोपित करके 'सगुन पद' गाने का उपक्रम किया है। तीमरे पद मे 'जगत-पिता', 'जगदीश' वासुदेव के भक्तवात्सल्य का स्मरण किया गया है। इसी तरह शेप विनय-पदो मे कवि ने मनुष्यो के कर्मो की व्यर्थता, दीनता, साधनहीनता और ससार-कर्दम मे लिप्तता का उल्लेख किया है और तत्पश्चात् भगवान् के असीम अनुग्रह के अनेक उदाहरण प्रस्तुत करके उनसे एकमेव भक्ति की याचना की है। इन पदो मे कवि ने विनय भरे स्वरो मे आत्मदैन्य के भाव प्रकट किये हैं, इसी हेतु ये 'विनय' के पद कहे जाते है।

विनय के पदो को लेकर विद्वानो ने विभिन्न अनुमान किये है। अधिकाश विद्वान् इन्हे सूर की प्राथमिक रचना मानना उचित समझते है। उनका कहना है कि इनमे सूर का 'घिघियाना' वर्णित है, जिसे आचार्य वल्लभ ने छुडा दिया था। अन्य कई विद्वान् इन पदो को सूर की वृद्धा-वस्था की रचनाएँ मानते है। इसके सम्बन्ध मे डा ब्रजेश्वर वर्मा का मत श्लाघ्य है। वे लिखते है, "सूर की प्रारम्भिक दैन्य भावना सर्वथा लुप्त नही हो गई थी। कभी-कभी उसका भी प्रकाशन होता रहा होगा। यह भी कहा जा सकता है कि जीवन-सध्या के निकट आते-आते वह दैन्य कदाचित् पुन कवि के चेतनस्तर पर आकर मुखर हो गया।"[1]

(आ) श्रीभागवत प्रसंग

विनय के पद के पश्चात् 'श्रीभागवत प्रसग' शीर्पक के अन्तर्गत १२० पदो मे 'भागवत' प्रथम-स्कन्ध के १९ अध्यायो की कथा अत्यन्त सक्षिप्त रूप मे कह दी गई है।

प्रथम पद मे 'मर्व तीर्थ को वासा तहाँ। सूर हरि कथा होवै जहाँ।' के रूप मे हरिकथा का माहात्म्य प्रदर्शित करके आगे दो दोहो मे भागवत के अवतरण का वर्णन किया गया है। इमके पश्चात् क्रमश शुकजन्म, 'भागवत' के वक्ता एव श्रोताओ की परम्परा, सूत-शौनक सवाद, व्यास-अवतार और श्रीभागवत अवतरण प्रयोजन का वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर रामनाम-महिमा का गुणगान करते हुए कवि ने वीस पदो मे भगवान् के माहात्म्य मे विदुर एव

---

१. सू. म, पृ. ३७।

द्रौपदी की कथाएँ कही है। इसके पश्चात् भीष्म का भक्ति भगवान् का द्वारिका-गमन, कुन्ति विनय आदि प्रसगो के पद हैं। इसके बाद अर्जुन कृष्ण के वकुण्ठ गिधारन के समाचारो से पाडवा को अवगत करता है। इसके आग का वणन भागवतानुकूल ही है। शापित परीक्षित भोग-कामना से नन्दनदन के चरणो म अपना मन लगाते हैं। सूर न उचित अवसर देखकर ससार की नश्वरता के यहाँ अनक पद रखे हैं जिनम भगवद्भक्ति को ही जीवन सार्थक बनान का मूलमन्त्र बताया है। आगे अभिशप्त राजा का शुकदेवजी खटवाग राजा के दृष्टात द्वारा हरिकथा म चित्त लगा कर शष समय को बितान का उपदेश देते है।

विषय की दष्टि स देखा जाए तो इस स्कन्ध म भक्ति के माहात्म्य तथा ससार की असारता का वणन ही प्रमुख प्रतीत होता है। भागवत की दष्टि समग्र स्कन्ध रूप तो बहुत-स अवतारो का वणन इसम नहीं मिलता ह।

द्वितीय स्कन्ध

भागवत के दस अध्यायो की कथा सूरसागर म ३८ पदो म कही गई है। भागवत म जिस विस्तार के साथ सष्टि-कथा का वणन मिलता ह वसा सूरसागर म नहीं। स्कन्ध का प्रारम्भ शुकदव द्वारा सात दिन तक की हरिकथा के प्रस्ताव स होता ह। प्रारम्भ के अधिकाश पद भक्ति माहात्म्य नाम महिमा हरिविमुख निन्दा सत्सग महिमा आदि विषयो पर है। आग विराट रूप ब्रह्म की एकोऽह बहु स्याम की इच्छानरूप त्रिगुणात्मिका सष्टि विस्तार तथा चौबीस अवतारो का सक्षप म वणन किया गया ह।

ततीय स्कन्ध

भागवत म इस स्कन्ध के ३३ अध्याय हैं। सूरसागर म केवल १३ पदो म उद्धव पश्चात्ताप भक्तयविदुर सवाद सनकादिक अवतार रुद्र सप्तर्षि दक्षप्रजापति तथा स्वायभुवमनु की उत्पत्ति वराह अवतार जय विजय कथा कपिलदेव अवतार कदम का शरीर-त्याग देवहूति कपिल सवाद आदि प्रसगो का स क्षप म वणन किया गया है। इस स्कन्ध का अन्तिम पद भक्तिमहिमा का है।

चतुथ स्कन्ध

इस स्कन्ध म भी १३ पद है। भागवत के चतुथ स्कन्ध म ३१ अध्याय है। सूर न स्कन्ध का आरम्भ दत्तात्रेय अवतार से किया है। इसके पश्चात यज्ञ पुरुष अवतार पावती विवाह ध्रुवकथा पथु अवतार आदि का सक्षप म वणन किया गया ह। 'पुरजनोपाख्यान' के पश्चात ज्ञान एव गुरु महिमा के साथ यह स्कन्ध समाप्त होता है।

पचम स्कन्ध

इस स्कन्ध म कवल चार पद है। इनम ऋषभदव और जडभरत की कथाओ का वणन किया गया है। जडभरत के तीनो जीवनो का वणन भागवतानुसार हो ह।

षष्ठ स्कन्ध

इसमे ८ पद हैं। अजामिलोद्धार, बृहस्पति, विश्वरूप और वृत्रासुर की कथाओं का इसमे संक्षिप्त वर्णन किया गया है। एक पद मे गुरु-सामर्थ्य बताने के बाद अन्तिम दो पदों मे नहुष और इन्द्र-अहिल्या प्रसग का वर्णन किया गया है।

सप्तम स्कन्ध

इस स्कन्ध मे कुल ८ पद हैं। इसमे नृसिंह-अवतार, त्रिपुर-वध और नारद-उत्पत्ति की कथाएँ वर्णित हैं।

अष्टम स्कन्ध

इस स्कन्ध मे १७ पद है। इसमे गज-मोचन, कूर्मावतार, समुद्र-मन्थन, अमृत-प्राप्ति, भगवान् का मोहिनी रूप धारण करना, देवो को अमृत पिलाना, मोहिनी रूप से शकर को छलना, सुद-उपसुद-वध, वामन-अवतार और मत्स्य-अवतार की कथाएँ हैं। वेद उद्धार के अन्तिम पद मे हयग्रीव के स्थान पर शखासुर के नाम का उल्लेख किया गया है।

नवम स्कन्ध

इसमे १७४ पद हैं। राजा पुरुरवा, च्यवन ऋषि, हलधर विवाह, राजा अम्बरीष, सौभरि ऋषि, गगावतरण, परशुराम और इनके पश्चात् राम-कथा का सविस्तार वर्णन किया गया है। 'भागवत' की राम-कथा से भी सूरसागर की कथा अधिक विस्तृत एव भावपूर्ण है। कवि ने राम-कथा का क्रमश वर्णन नहीं किया है, किन्तु भावपूर्ण स्थलों पर स्फुट पदों की रचना की है। प्रथम स्कन्ध से लेकर नवम स्कन्ध तक की राम-कथा को छोडकर शेष सभी कथाएँ प्राय विवरणात्मक शैली मे ही लिखी गई हैं। राम के चरित्र का स्पर्श करते ही कवि रसविभोर हो उठा है। कौशल्या के वात्सल्य एव राम के वज्रादपि कठोर एव कुसुमकोमल हृदय को कवि ने खूब निकटता से समझा है। 'सूरसागर' मे दशम स्कन्ध के अतिरिक्त सूर की प्रतिभा यदि कही चमकी है तो वह राम-कथा मे ही।

राम-कथा के बाद 'कच-देवयानी' तथा 'देवयानी-ययाति विवाह' की कथाएँ हैं। 'भागवत' मे दुष्यन्त, भरत और अन्य कई राजवशो की कथाएँ वर्णित है, जिनका 'सूरसागर' मे नितान्त अभाव है।

दशम स्कन्ध

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) मे ४१६० पद हैं, जिनमे कृष्ण-जन्म, बाल-लीला, कस-वध, तथा अक्रूर को पाण्डवो के पास भेजने तक का वर्णन है। सूर ने कही 'भागवत' के अनुसार तो कही अपनी स्वतन्त्र उद्भावनाओ के आधार पर इन लीलाओ का वर्णन किया है। सूर को हिन्दी कवियो मे जो अन्यतम स्थान प्राप्त हो सका है, उसका श्रेय इसी स्कन्ध के पूर्वार्ध को है। यहाँ हम अन्य स्कन्धो की तरह दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) की सक्षिप्त कथा न देकर सूर की केवल स्वतन्त्र उद्भावनाओ का ही उल्लेख उचित समझते हैं, क्योकि प्रस्तुत शोध-ग्रन्थ के 'भावपक्ष' अध्याय के

अन्तर्गत कृष्णलीलाओं के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों का समावेश हो ही जायगा। सूर की नवीन उद्भावनाएँ निम्नानुसार हैं—

(१) भागवत में नामकरण-संस्कार का वर्णन मिलता है, पर सूरसागर में इसके अतिरिक्त अन्नप्राशन आदि प्रसंग हैं। ये सभी सूर की मौलिक उद्भावनाएँ हैं।

(२) कालीयदमन प्रसंग की कथा भागवत से ली गई है फिर भी कवि ने मूल रूप में अपनी कल्पनानुसार इस नवीन रूप प्रदान किया है। भागवत से भी सूर का यह वर्णन अधिक स्वाभाविक है।

(३) 'राधा की उद्भावना करके सूर ने कथा को भागवत से भी अधिक रोचकता प्रदान कर दी है। राधा कृष्ण का प्रथम मिलन और फिर उनकी विविध लीलाओं का कवि ने बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से वर्णन किया है।

(४) यज्ञपत्नीलीला प्रसंग भागवत से लिया गया है फिर भी कवि ने अपने मौलिक दृष्टिकोण से इसमें पर्याप्त परिवर्तन किया है।

(५) रासलीला में राधा की अन्य गोपियों में प्रमुखता कृष्ण के साथ उसका विवाह, राधाकृष्ण विहार रास करते हुए कृष्ण का राधा को लेकर अन्तर्धान होना आदि सूर की भव्य मौलिक कल्पनाएँ हैं।

(६) राधा कृष्ण की रसकेलि के साथ-साथ कवि ने ब्रजांगनाओं में ललिता चन्द्रावली और चन्द्रौला का उल्लेख मौलिक रूप से किया है।

(७) लीलाओं में पनघट और दानलीला प्रसंग भागवत से सर्वथा स्वतन्त्र एवं मौलिक हैं। इन लीलाओं की तरह ग्रीष्मलीला मानलीला नैनसमय के पद अँखियान समय के पद, खण्डिता प्रकरण राधा का मान तथा खण्डिता नायिकाओं के मानादि पद भी सूर की मौलिक प्रतिभा के फल हैं।

(८) झूलना और वसन्त लीला प्रकरण भी सूर की अपनी प्रतिभा के परिणाम हैं।

(९) भागवत में उद्धव को ब्रज भेजने का उद्देश्य नन्द-यशोदा को सन्देश देकर चिन्ता मुक्त करना और गोपियों को सान्त्वना देना बताया गया है, जबकि सूरसागर में भ्रमरगीत प्रसंग का उद्देश्य सगुणभक्ति के महत्त्व का प्रतिपादन करना बताया गया है। ज्ञान की गठरी लेकर उद्धव मथुरा से ब्रज में आते हैं किन्तु अन्त में गोपियों के प्रेम भक्ति प्रवाह में ज्ञान की गठरी गवाँकर वे खाली हाथ ही मथुरा लौटते हैं।

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

भागवत के अनुसार ही सूरसागर के दशम स्कन्ध का प्रारम्भ कृष्ण का जरासन्ध के साथ युद्ध एवं तत्पश्चात द्वारिका गमन से होता है। भागवत में अस्ति और प्राप्ति दोनों कंसपत्नियों का नाम निर्देश किया गया है जो अपने पिता मगधराज जरासन्ध को अपने वैधव्य का हाल सुनाती हैं किन्तु सूर ने सुनि जरासन्ध वृत्तान्त सुता वदन ते इतना ही उल्लेख किया है। सूरसागर में १७ बार पराजित होकर १८वीं बार कालयवन के साथ जरासन्ध का मथुरा पर आक्रमण करना वर्णित है जबकि भागवत में कालयवन नारद से प्रेरित होकर जरासन्ध से पूर्व ही

आक्रमण कर वैठता है। उत्तरार्ध की महत्त्वपूर्ण कथाओ मे रुक्मिणी-हरण, जरासन्ध आदि के साथ युद्ध, प्रद्युम्न-जन्म, शवरवध, जाम्बवती और सत्यभामा-विवाह, भौमासुर-वध, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध-विवाह, राजा नृग का उद्धार, पौड्रक, सुदक्षिण, जरासन्ध, शिशुपाल, शाल्व, दन्तवक्र आदि का वध, और सुदामा चरित्र आदि है।

व्रजनारियो द्वारा एक पथिक को सन्देश-वाहक वनाकर कृष्ण के पास भेजना सूर की मौलिक कल्पना है। इसके पश्चात् रुक्मिणी एव राधा-मिलन तथा कीटभृङ्गवत् राधा-कृष्ण मिलन भी कवि की मधुर कल्पना का फल है। इसके वाद की कथाएँ अतीव सक्षेप मे दी गई है।

एकादश स्कन्ध

चार पदो के इस स्कन्ध मे प्रथम दो मे उद्धव का कृष्ण के प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित किया गया है और आगे के दो पदो मे क्रमश नारायण एव हसावतार का वर्णन है।

द्वादश स्कन्ध

इस स्कन्ध मे सक्षेप मे बुद्धावतार, कल्कि-अवतार, परीक्षित की हरिपद-प्राप्ति तथा जनमेजय की नागयज्ञ की कथाओ का उल्लेख है।

२–सूरसारावली

'वेंकटेश्वर प्रेस' वम्वई और 'नवलकिशोर प्रेस' लखनऊ से प्रकाशित 'सूरसागर' के प्रारम्भ मे यह ग्रन्थ प्रकाशित किया गया है। 'सूरसारावली' नाम से यह ग्रन्थ 'सूरसागर' का साराश या भूमिका लगता है, पर वास्तव मे यह एक ११०७ पदो का स्वतन्त्र ग्रन्थ है।

सारावली की प्रामाणिकता

सूर के प्राय सभी अध्येताओ ने 'सारावली' की प्रामाणिकता पर विचार किया है। इनमे कुछ को छोडकर अन्य सभी इस ग्रन्थ को सूर-कृत मानने के पक्ष मे है। वावू राधाकृष्ण दास[1] लाला भगवानदीन,[2] डा वेनीप्रसाद[3], डा मुशीराम शर्मा[4], डा दीनदयालु गुप्त[5], द्वारकादास परीख और प्रभुदयाल मीतल[6], डा हरवशलाल शर्मा[7] आदि इस ग्रन्थ को सूर-कृत मानते है। मिश्रवन्धु[8] और डा रामरतन भटनागर[9] इसे सदिग्ध रचना मानते है तथा डा व्रजेश्वर वर्मा[10] और डा प्रेमनारायण टडन[11] इसको सर्वथा अप्रामाणिक रचना मानते है। डा जगदीश गुप्त इसे सदिग्ध कृति मानते हैं, फिर भी वहुमत की उपेक्षा न करके उन्होने अपने शोध-ग्रन्थ मे इसको स्थान दिया है।[12] डा गोवर्द्धननाथ शुक्ल इसको 'सूरसागर' मे अभिन्न अर्थात् सागरोद्धृत ही मानते है।[13] डा दीनदयालु गुप्त ने 'सारावली' को सूर की रचना मानने के पक्ष मे कई प्रमाण प्रस्तुत किये है। उनमे से मुख्य निम्नलिखित है—

(१) इस ग्रन्थ मे व्यक्त विचार वल्लभ सम्प्रदायी विचारो से साम्य रखते है।

(२) वल्लभाचार्य ने सृष्टि-विकास मे २८ तत्त्व माने है। सारावली मे भी २८ तत्त्वो का निर्देश किया गया है।

---

१. ना प्र प. १६०७ मे प्रकाशित 'सूरदास' शीर्षक लेख, पृ ११३। २ सूरपंचरत्न पृ. ३४। ३. सक्षिप्त-सूरसागर, पृ ७। ४. भारतीय साधना और सूरसाहित्य, पृ ५५। ५ अ व गु, पृ ७८४। ६ सू. नि मी, पृ ११२। ७ सू सा ह, पृ. ४२। ८ हिन्दी नवरत्न, पृ. १७६। ६ सूर-समीक्षा, पृ. ५५। १० सू. व्र, पृ. १०५। ११ सूरसारावली एक अप्रामाणिक रचना। १२. गु व्र कृ. तु. अ., पृ. २६। १३ सूर की साहित्य साधना, पृ. ५५।

(३) सूरसागर एवं सारावली में भावसाम्य है तथा साथ-साथ अभिव्यक्ति में भी साम्य है।

(४) सूर के जैसा ही लालित्यपूर्ण ब्रजभाषा का रूप सारावली में भी विद्यमान है।

(५) सूरसागर के अनुरूप भावों के दृष्टकूट पद सारावली में भी हैं।

(६) सूर के नाम की जो छापें सूरसागर में हैं वे सूरसारावली में भी हैं।

अंत में आप कहते हैं चार छः शब्दों का पदक्रम जो सम्भवतः अनन्तर के छंद सूरसागर में नहीं मिलते इस ग्रन्थ को सूरकृत न कहना उचित नहीं है। प्रक्षिप्त शब्द और वाक्य सूर के सभी ग्रन्थों में हो सकते हैं। अतएव यह रचना नवल के विचार से सूरकृत ही है।[1]

वर्ण्य-विषय

सारावली होली गान के रूप में लिखा गया एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसका प्रारम्भ 'श्री श्री हरिपद सुखदाई' के मंगल वचनों से होता है। बाद में वृन्दावन के कुंज एवं यमुना तट पर गोपियों के मध्य विहार करते हुए पूर्णब्रह्म पुरुषोत्तम सृष्टि विस्तार की इच्छा करके स्वयं पुरुष रूप में प्रकट होते हैं। इसके पश्चात २८ तत्त्व नारायण के नाभि-कमल में ब्रह्मा हरि की आज्ञानुसार ब्रह्मा द्वारा १४ लोक वैकुण्ठ पाताल आदि की रचना होली खेल के रूप में ही बताई गई है। इसके बाद ब्रह्मा के दस पुत्र स्वायंभुव मनु शतरूपा नारद का जन्म बताया गया है। भगवान पृथ्वी के रक्षार्थ वराह रूप धारण करते हैं। इसके अनन्तर सागर कपिल अष्टलोकपाल सत्य आदि लोक द्वीप वन उपवन नदी पवन आदि की उत्पत्ति बताई गई है। इसके बाद २४ अवतार ध्रुवराज पर कृपा हयग्रीव नृसिंह अवतार धन्वन्तरि परशुराम तथा रामचन्द्र के अवतार के वर्णन हैं। इसके पश्चात लीलाविहारी कृष्ण की रास क्रीडा आदि समस्त लीलाओं का वर्णन किया गया है। वर्णन में यथास्थान कवि ने दृष्टिकूट पदों की शैली के भी पद लिखे हैं। इसके आगे राग रागिनियों के नाम वसन्त तथा होली के रसोत्सव का वर्णन करके कवि ने कृष्ण कथा के गायकों श्रोताओं और वक्ताओं का उल्लेख किया है। अन्त में कवि ने संकर्षण की मुखाग्नि से समस्त आनन्द की परिसमाप्ति इस प्रकार बताई है—

> 'संकर्षन के बदन अनल ते, उपजी अग्नि अपार।
> सकल ब्रह्माण्ड तुरज तेज सो मानो होरी दई पजार॥

इस तरह यहीं सारावली का सृष्टि की उत्पत्ति पालन और प्रलय के आश्रय स्वरूप ब्रह्म-वर्णन समाप्त होता है।

जगत् के सृजन और लय को होरी की लीला के रूप में रखने का तात्पर्य सूरनिर्णय में स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि होरी में जिस प्रकार ऊँच नीच का भेद तथा किसी प्रकार की संकुचित भावना नहीं रहती है उसी प्रकार इस सृष्टि के खेल में सभी से सभी प्रकार का खेल ईश्वर करता है इसमें सब एकरस खेल होता है। इसीलिए यह सारा जगत ईश्वर के होरी खेल के रूप में है।[2]

१ अ व गु, पृ २९०।
२ सू नि मी, पृ १४२।

३–साहित्य-लहरी

'सारावली' की तरह 'साहित्य-लहरी' की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे भी दो मत है। डा व्रजेश्वर वर्मा इस ग्रन्थ के मुख्य वर्ण्य-विषय शृङ्गार को लेकर यह मानते है कि सूर जैसा भक्त-कवि इस प्रकार की शृङ्गारिक रचना नही कर सकता है। 'सूरनिर्णय' मे डा. व्रजेश्वर वर्मा के तर्को पर पूरा विचार किया गया है। 'रसो वै स' श्रुतिवाक्य के अनुसार भगवान् को रसरूप मानकर 'साहित्य-लहरी' के शृङ्गार वर्णन को भी इस ग्रन्थ मे भगवान् के आनन्दरस की अभि-व्यक्ति का कारण बताकर इस ग्रन्थ को सूर-कृत ही माना है।[1] डा हरवशलाल शर्मा 'साहित्य-लहरी' के वर्तमान स्वरूप मे कुछ प्रक्षिप्त पदो की सभावना स्वीकार करने पर भी इसे सूर-कृत मानते हुए 'नन्दनन्दनदास हित साहित्यलहरी कीन' के आधार पर इसका निर्माण सूर ने नन्ददास के लिए किया था, ऐसा मानते है।[2] डा गोवर्द्धननाथ शुक्ल 'सारावली' की तरह इसे भी 'सूरसागर' का ही अग मानते है।[3] आपका कथन है कि 'साहित्य-लहरी' पर 'शृङ्गाररसमण्डन', 'विद्वन्मण्डन', 'गुप्तरस' तथा चैतन्य की परकीया भावना का ही अत्यधिक प्रभाव है।

तात्पर्य यह है कि अधिकाश विद्वान् इस ग्रन्थ को सूर-कृत ही मानते है।

वर्ण्य-विषय

सूर ने 'साहित्य-लहरी' मे भगवान् की किशोर लीलाओ को ही अपने काव्य का विषय बनाया है। इस ग्रन्थ मे सम्प्रदाय के भावानुसार जिन दृष्टिकूट पदो का सग्रह मिलता है उनमे परकीया भाव का ही स्वर सबसे ऊँचा है। नायिका-भेद के अनुसार इसमे अवस्था-भेद के आधार पर १०८ नायिकाओ के भेदो का वर्णन है। इसमे अप्रत्यक्ष रूप से दृष्टिकूट शैली मे भगवान् रसेश्वर कृष्ण की ही लीलाओ का गान किया गया है। इसमे कृष्ण की निकुज लीला को कूट के आवरण मे रखने का यत्न किया गया है। उसका प्रयोजन यह है कि कूट जैसे दुर्लघ्य होता है इसी तरह इन दृष्टिकूटो मे निहित मधुर शृङ्गार-भाव भी दुर्लघ्य है।

(ख) नरसी-साहित्य

'गुजरात विद्यासभा' (वर्नाक्युलर सोसायटी) अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित 'गुजराती हाथप्रतोनी सकलित यादी'[4] ग्रथ मे प्रस्तुत कवि की कृतियो का विवरण निम्नानुसार मिलता है–

(१) आठवार	(अप्रकाशित)
(२) कक्को	(अप्रकाशित)
(३) कृष्णजन्म समैना पदो	(१) न म का स मे प्रकाशित। (२) कृष्णजन्म वधाई के ८ और कृष्णजन्म के समय का १ पद 'वृहत्काव्यदोहन' मे प्रकाशित।
(४) गायनी मागणी	(अप्रकाशित)

---

१ सू. नि मी, पृ १४४, १४५। २ सू. सा. इ, पृ ४५। ३ सूर की साहित्य साधना, पृ ५४।
४ 'गुजराती हाथप्रतोनी संकलित यादी'—के का. शास्त्री, पृ ८१ मे ८८।

(५) गोविंदगमन	(१) ब का दो भा ३ म (२) श्री रामनारायण वि पाठक द्वारा स्वतन्त्र रूप से और (३) न म का स म प्रकाशित।
	(२) इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नहीं हुई है।
(६) चातुरी छत्रीसी	(१) ब का दो भा ३ और (२) न म का स म प्रकाशित।
(७) चातुरी षोडशी	(१) ब का दो भा २ और (२) न म का स म प्रकाशित।
(८) दाणलीला	(१) न म का स म प्रकाशित।
(९) द्रौपदीनु कीर्तन	(अप्रकाशित)
(१०) पदसंग्रह	कई पद (१) ब का दो (२) प्रा का त्र, (३) न म का स (४) प्राचीन काव्यसुधा में प्रकाशित हुए हैं फिर भी कई पद अभी तक अप्रकाशित भी हैं।
(११) पांडव जुगटान पद	प्रा का सु भा १ म प्रकाशित।
(१२) बारमास	(१) ब का दो भा ७ और (२) प्रा का सुधा भा १ में प्रकाशित।
(१३) बारमास रामदना	(अप्रकाशित) संदिग्ध रचना।
(१४) मधुकरना बारमास	(अप्रकाशित) संदिग्ध रचना।
(१५) मामेरु	गुज प्रेस बंबई के पंचांग में प्रकाशित।[1]
(१६) मोतीनी खेती	(अप्रकाशित)
(१७) रासना पद	(१) रास के लगभग १२५ पद न म का स मे प्रकाशित।
	(२) ब का दो भा ६ में ११४ पद प्रकाशित।
(१८) विष्णुपद	(अप्रकाशित)
(१९) शशियर	(अप्रकाशित)
(२०) सामळदासनो विवाह	(१) ब का दो भाग ३ और न म का स म प्रकाशित
(२१) सत्यभामानु रूसणु	(अप्रकाशित)
(२२) मालवणनी समस्या	(अप्रकाशित)
(२३) सुदामाचरित्र	(१) ब का दो भा १ म और न म का स म प्रकाशित।

१ गुजरात विद्यापीठ ग्रंथावलि १३ कवि प्रेमानंद अने नरसिंह कृत 'कुंवरबाइनु मामेरु' प्रकाशित अक्टूबर १९४३ म मगनभाइ प्र देसाइ। २ नरसैं महेताना पद' शीर्षक से प्रकाशित, गुजरात साहित्य सभा अहमदाबाद सन १९ ५, श्री के का शास्त्री।

(२४) सुरतसग्राम — (१) बृ का दो भा ४, प्रा का त्रै के १८८६ के अक ४ मे तथा न म का स मे प्रकाशित।

(२५) हारमाळा — (१) प्राचीन काव्य त्रैमासिक के १८८४ के प्रथम अक मे १६५ पद, (२) बृ का दो भा ६ (३) न.म का स मे १४६ पद, (४) फा गु सभा के त्रै. व २ मे ७८ पदो की हारमाळा प्रकाशित। सभी मे क्रम-वैषम्य।

(२६) हारसमेना छूटक पदो — (प्रकाशित)।

(२७) हूडी (८ पद) — (१) 'गुजराती' पत्र के ई स १९२३ के दीपोत्सवाक मे तथा (२) बुद्धिप्रकाश पु ११२ अ ३ मार्च १९१५ मे 'गुजराती' पत्र की ही 'हूडी' का पुन प्रकाशन।

उपर्युक्त रचनाओ मे से जो महत्त्वपूर्ण प्रतीत हुई है उन्हे हम अध्ययन-सौकर्य की दृष्टि से इस प्रकार विभाजित करते हे –

(अ) आत्मचरित सवधी रचनाएँ–
- (१) झारी
- (२) मामेरु
- (३) सामळदासनो विवाह
- (४) हूडी
- (५) हारसमेना पद अने हारमाळा

(आ) आख्यानात्मक कृतियाँ—
- (१) सुदामाचरित्र
- (२) चातुरीओ ('चातुरी छत्रीशी' तथा 'चातुरी षोडशी' दोनो का साथ सपादन, कु चैतन्यबाला ज दिवेटिया)
- (३) दाणलीला
- (४) राससहस्रपदी (इन पदो को फुटकर पदो के रूप मे माना जा सकता है, किन्तु श्री के का शास्त्री ने 'राससहस्रपदीनो समुद्धार' के रूप मे रास-सवधी पदो का कथानुक्रमेण सपादन किया है।)

(इ) कृष्णलीला-सवधी पद–
- (१) श्रीकृष्ण जन्म समाना पद
- (२) श्रीकृष्ण जन्म वधाईना पद
- (३) बाळलीला
- (४) हिडोळाना पदो
- (५) वसतना पद
- (६) शृगारमाळा

(ई) भक्तिमाननां पदो
(उ) अप्रामाणिक रचनाएं—
(१) सुरत-संग्राम
(२) गोविंदगमन

अब हम क्रमश इन रचनाओं का विस्तृत परिचय प्रस्तुत करते है।

(अ) आत्मचरित संबंधी रचनाएँ–

१–झारी

इस प्रसग के चार पद नरसिंह महेता कृत काव्यसग्रह के परिशिष्ट १ म मिलते हैं।[1] कीर्तन करते समय नरसी को प्यास लगी और जल की झारी लेकर उपस्थित हुई रतनबाई को कवि ने भक्ति के आवेश म साक्षात मोहिनी स्वरूप भगवान ही समझ कर य पद गाये। प्रथम दो पदों में कवि ने भगवान के मोहिनी स्वरूप का वर्णन करके तृतीय पद म भगवान् के माहात्म्य का वर्णन किया है। इसके पश्चात् चतुर्थ पद म कवि कहता है कि 'जो इस नारी के रहस्य को समझ सका है उसका जीवन सफल है।'[2] आगे इसी पद म कहा गया है 'तुम व्यभिचरित दृष्टि त्याग कर निर्मल दृष्टि से देखोगे तो तुम्हे स्त्री नही किन्तु प्रत्यक्ष भगवान् ही दृष्टिगत होंगे।'[3] झारी के पदो म कवि ने शब्द चित्रों के माध्यम से मधुर भावो की अभिव्यक्ति की है। उदाहरणार्थ कुछ पंक्तियाँ यहा उद्धृत की जाती है—

(अ) झाझर झमक्ने बिछुवा ठमके हिंडे छ चाके अबोड[4]
(आ) चचळ दृष्टे चोदेश न्याळे, माही मदननो चाळो रे[5]
(इ) आशो चतुराना चित्तनो चाळो रे, एने काइ न्याळो रे[6]

२–मामेरु

झूलणा छन्द म निबद्ध सात पदो का यह काव्य प्रामाणिक माना गया है। श्री मगनभाई प्रभुदास देसाई ने डाह्यीलक्ष्मी लाइब्रेरी नडियाद (गुजरात) म प्राप्त दो हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर कवि प्रेमानन्द अने नरसिंह कृत मामेरु नाम से यह रचना प्रकाशित की है।[7]

इस काव्य म नरसी के पारिवारिक जीवन का एक महत्त्वपूर्ण प्रसग वर्णित है। नरसी अपनी पुत्री कुवरबाई के सीमन्त के अवसर पर खाली हाथ ही पुत्री की ससुराल पहुँचते हैं। तब लोग कुवरबाई को पिता के आने के समाचार इस प्रकार सुनाते हैं–

'बहु वधामणी! आवी पहरामणी, ताल गाठे आगण आव्यो तात'[8]

पिता के दारिद्रय स दु खी पुत्री खाली हाथ आये पिता के पास पहुँच कर कहती है—

' तात खेवड नहीं, शीद आव्या तमे हासु थावा'[9]

---

१ न म का स, पृ ४६८ ४६६। २ ए नारीनी जात जे जाणे, तेनो फेरो फावरे न म का स, पृ ४६६, ३ व्यभिचार मूकी जुओ विचारी ए तो नरसैयानो स्वामी रे न म का स, पृ ४६६।
४ न म का स पृ ४६८। ५ न म का स, पृ ४६८। ६ न म का स, पृ ४६६।
७ कवि प्रेमानन्द अने नरसिंह कृत कुवरबाइनु मामेरु' म प्र देसाइ। ८ 'मामेरु', पृ १।
६ मामेरु, पृ १।

नरसी अपनी पुत्री को आश्वस्त करते हुए कहते है—

"तुं दुःख मा कर दीकरी गाओ गोविंद हरि, वस्त्र पूरशे जो वंकुंठराय"¹.

इसके पश्चात् नरसी सबसे पहले इस कठिन समय मे राधिका से सहायता करने की विनती करते है। क्योकि उन्हे यह भलीभाँति विदित हे कि जव तक राधिका 'विट्ठल' को अपने गाढा-लिंगन से मुक्त न करेगी तव तक भगवान का उनके सहायतार्थ आना कठिन है। कवि ने अत मे राधिका को चुनौती के स्वर मे यह सुना दिया है कि वह यदि इस कार्य मे भगवान् को उसके पास भेजने मे विलव करेगी तो वह भी उसकी सभी पोल खोल कर रख देग।—

'भणे नरसैयो मेल मम नाथ ने, नीकळशे कादव कोठी धोतां'².

तृतीय पद मे भगवान् के माहात्म्य का स्तवन करते हुए नरसी अपनी सहायतार्थ शीघ्र दौड आने की उन्हे विनय करते है। चतुर्थ पद मे भगवान् दामोदर दोशी के रूप मे सीमत के वस्त्राभूषण आदि पहनावे की वहुमूल्य वस्तुएँ लेकर पधारते है। पचम पद मे नरसी को स्नानार्थ एकदम उष्णजल दिया जाता है। नरसी समधी से ठडा जल मागते है। समधी नरसी को हँसकर उत्तर देते है—'गीत गाशो त्यारे मेहुलो वरसशे।' नरसी मल्हार गाते है और वर्षा होती है। आगे के दो पदो मे पहनावे का वर्णन है। अत मे नरसी से आज्ञा प्राप्त कर भगवान् स्वधाम पधारते है।

३—सामलदासनो विवाह—

कवि के आत्मपरक-काव्यो मे यह रचना सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती है। आत्मपरक-काव्यो मे वर्णनो का विस्तार इसी काव्य मे सर्वाधिक रूप मे दृष्टिगत होता है। वरात की सज-धज, लग्न के रीति-रिवाज, लोकाचार, विविध पक्वान्न आदि का कवि ने वडा स्वाभाविक वर्णन किया है। इस काव्य मे कुल मिलाकर ३४ पद है। काव्य के वर्ण्य-विषय का विभाजन निम्नानुसार किया जा सकता है—

१. पूर्व भूमिका

इसके अन्तर्गत नरसी को भाभी का उपालभ, शिवानुग्रह से नरसी को द्वारिका मे कृष्ण के प्रत्यक्ष दर्शन, रासक्रीडा, द्वारिका से विदा होते समय नरसी को भगवान् का 'लक्ष सवा तणा कीर्तन' करने का आदेश, भूतल पर पुनरागमन तथा कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए नरसी का भाभी को धन्यवाद देना आदि का समावेश किया जा सकता है।

२. विषय-प्रारंभ

इसमे अपने पुत्र सामळदास के विवाह की माणेक महेती को चिता, नरसी की कृष्ण पर अनन्य श्रद्धा, पुत्र का वाक्दान, नरसी का द्वारिका जाकर भगवान को रुक्मिणी के साथ अपने पुत्र के विवाह मे पधारने का निमत्रण तथा नरसी का कृष्ण द्वारा किया गया भव्य आतिथ्य आदि प्रसगो का समावेश किया जा सकता है।

१. 'मामेरु', पृ १। २. 'मामेरु', पृ ५।

३ विवाह

इसमे विवाह की धूम धाम से तयारियाँ, बरात मे रुक्मिणी के साथ कृष्ण का पधारना वडनगर पहुँचकर विवाह विधि का सम्पन्न होना, पुन बरात का जूनागढ लौटना आदि प्रसग वर्णित हैं।

सामळदासना विवाह नरसी की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। अत इसका सम्यक परिचय यहा प्रस्तुत किया जाता है।

भाभी के कठोर उपालभ से विद्ध नरसी निजल व्रत लेकर सात दिन तक शिव की शरण मे पड़ रहे। शिव ने प्रसन्न होकर नरसी को ईप्सित वर मागने को कहा। तब उत्तर मे नरसी ने भगवान शकर से कहा—

'तमने ज वल्लभ होय जे दुलभ, आपो रे प्रभु जी मुने दया रे आणी।'[1]

भगवान शकर नरसी को द्वारिका ले जाकर कृष्ण के दशन करवाते है। शरद पूर्णिमा के दिन भगवान कृष्ण ने रासक्रीडा की। नरसी अपने पुरुषत्व को भूलकर सखी रूप मे ताल बजाते हुए गाने लगे। भगवान् कृष्ण नरसी की भक्ति से तुष्ट हुए। उन्होने नरसी को अपने समकक्ष पद देकर सम्मानित किया—

'हु तु ब मध्यमा भेद नहि नागरा, श्री मुख शु कहु गुण तारो
ज रस गुप्त ब्रह्मादिक नव लहे, प्रगट गाजे तु हु ने बचन दीधु।

एक मास पयन्त द्वारका मे कृष्णलीलाओ का प्रत्यक्ष दशन कर नरसी भूतल पर लौटने को प्रस्तुत हुए। अपने परमभक्त के बिछोह की बात सुनकर कृष्ण की आख छलछला आई। वे उसे अपनी पट्टमहिषी रुक्मिणी के पास ले गए—

'नयणे आसु भर्या जदुपति जादवे, दीठ शीख मुज प्राण वाहला
रुक्मिणी पासे तेडी गया भुवनमा, हस्ते कमळीये मारा हाथ झाल्या।'[2]

नरसी के विदा होने की बात सुनकर रुक्मिणी का भी हृदय भर आया। उन्होने नरसी के समक्ष भूलोक को देखने की अपनी अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहा—

'पुत्रनु पगरण'[4] करी तेड जो सग हरी, मतल लोक जोवा तणी होश अमने।'[3]

अत मे विदा के समय सकर्षण अक्रूर उद्धव और पार्थ से आलिंगित होकर नरसी मुहूर्त मात्र मे भूलोक पर आ गए। नरसी को भगवान कृष्ण की कृपा प्रसाद भाभी के कारण ही प्राप्त हो सका था। अत भूलोक पर आते ही सवप्रथम नरसी ने भाभी के पास पहुच कर अपनी सविनय कृतज्ञता इस प्रकार प्रकट की—

'धन्य भाभी तमे धन्य माता पिता, कष्ट आणी मने दयारे कीधी
तमारी कृपायकी हरी हर भेटीया कृष्णजीए मारी सार लीधी।'[5]

पुत्र सामळदास विवाह के योग्य हो गया था। घर की दरिद्रावस्था ने माणेक महेता को चितामग्न कर दिया। एक दिन उचित अवसर पाकर माणेक महेती ने अपने पति से कहा—

'आपणु घर तो आदि मोटु घणु, निरधन विवाह ते केम थाश।'[6]

---

१ न म का स, पृ ७८। २ न म का स, पृ ७८। ३ न म का स, पृ ७
४ पगरण प्रकरण→पगरण=उत्तम प्रसग, यहाँ 'पुत्रनु पगरण' अर्थात् पुत्र का विवाह।
५ न म का स पृ ७९। ६ न म का स, पृ ७७। ७ न म का स, पृ ७८।

उत्तर मे नरसी ने सपूर्ण श्रद्धा से पत्नी को कृष्ण पर भरोसा रखने को कहा।

वडनगर राज्य के मत्री मदन महेता की पुत्री के लिए योग्य वर की शोध मे पुरोहित जूनागढ आए। पुरोहित ने पर्याप्त शोध-खोज की, पर उन्हे कोई उत्तम घर नही दीख पडा। धनिको मे आचारभ्रष्टता एव निर्धनो मे कौलीन्य देखकर पुरोहित दुविधा मे पड गये—

'धनवंत त्याहा कुलाचार देखे नहीं, निरधन ते कुलवत कहावे।'[1].

अत मे निराश होकर पुरोहित जूनागढ से चलने को प्रस्तुत हुए। तब कुछ उपहासको ने पुरोहित को नरसी का घर बताया। नरसी की सरलता, शालीनता एव कौलीन्य से सतुष्ट होकर पुरोहित ने सामळदास के साथ सबध निश्चित कर दिया।

वडनगर पहुँचकर पुरोहित ने कन्या के माता-पिता को शुभ समाचारो से अवगत किया। नरसी महेता का नाम सुनते ही कन्या के माता-पिता मूर्च्छित हो गए। पुरोहित को उन्होने जैसे भी बने वैसे सबध विच्छेद कर आने को कहा। अपने निश्चय पर दृढ पुरोहित आत्महत्या करने को प्रस्तुत हुए। अत मे कन्या के माता-पिता को पुरोहित का सबध मान्य रखना पडा।

विवाह का शुभ मुहूर्त निकलवा कर मदन महेता ने जूनागढ लग्न भेजे।

भगवान् को विवाह मे निमन्त्रित करने के लिए नरसी द्वारिका गये। भक्त का भगवान् ने हृदय से स्वागत किया। भगवान् ने रुक्मिणी के साथ बरात मे आने का वचन दे कर अपने अग की वस्त्र-प्रसादी और सहायतार्थ चार सेवक साथ करके नरसी को विदा किया।

बडे राजसी ठाठ से बरात वडनगर पहुँची। अपने वचन के अनुसार भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणी के साथ स्वय रथ मे विराज कर बरात मे साथ-साथ चल रहे थे। किन्तु भगवान् के दर्शन केवल नरसी ही कर पा रहे थे।

यथासमय मदन महेता ने कन्यादान किया। अतरिक्ष से पुष्पवृष्टि हुई। नरसी ने प्रत्यक्ष भगवान् के चतुर्भुज रूप के दर्शन किए। उन्होने गद्-गद होकर भगवान् की स्तुति की।

अत मे बरात जूनागढ लौटी। पाच सहस्र मशालो के प्रकाश मे बरात ने जूनागढ मे प्रवेश किया। वर-वधू को गृह-प्रवेश करवा कर भगवान् अतरिक्ष-मार्ग से स्वधाम पधारे। तत्पश्चात् नरसी ने भगवान के चार सेवको को भी पूर्ण सम्मान के साथ विदा किया।

यह काव्य वर्णनात्मक शैली मे लिखा गया होने पर भी भावपूर्ण स्थलो से रिक्त नही है। अपने इष्टदेव के प्रति अविचल श्रद्धा प्रकट करना ही इस काव्य का मुख्य उद्देश्य है। काव्य मे कवि ने आराध्यदेव के साथ अपने नैकट्य एव भगवान् के उस पर किये गये अनुग्रह का अति-रजित उल्लेख किया है, जिससे इस लौकिक काव्य मे भी अलौकिकता के मधुर ससपर्श का दिव्य सामजस्य हो गया है। पद ६ मे कवि ने स्वय जो 'लक्ष सेवा तणा नाम किरतन करो' उल्लेख किया है उससे उनके लाख पदो की सभावना की जाती है। इस लघु आत्मपरक काव्य मे कवि ने भगवान् के माहात्म्य-वर्णन मे कई पौराणिक प्रसगो का निर्देश किया है। इसमे एक स्थान

---

१. न. म. का स, पृ. ७७।

पर शिवलाछन ऊर वपु व द्वारा कृष्ण के वक्ष का शिवलाछित बताना पौराणिक दृष्टि म असगत ह क्यकि भगवान् का हृद्देश भृगुपदलाछित है।[१]

४—हूडी

नरसी के सभी आत्मपरक काव्य किसी न किसी अलौकिक घटना स अवश्य सम्बद्ध है। 'हूडी म भी कवि ने अपन जीवन की एक अलौकिक घटना का वणन किया है। द्वारिका क कुछ तीथयात्री ७०० रुपय दकर हूडी लिखवाना चाहत थ। कुछ उपहासक व्यक्तियो न यात्रियो को नरसी के घर जाकर 'हूडी' लिखवाने को प्रेरित किया।

तीथयात्री नरसी की नम्रता, आतिथ्य एव निश्छल व्यवहार से अतीव प्रभावित होकर उन्हे ७०० रुपये दकर हूडी लिख दन का आग्रह करते है। नरसी यात्रियो से रकम लकर द्वारिका क शामळ सठ क नाम हूडी लिख दत है।

तीथयात्रियो के चल जान के पश्चात् नरसी भगवान से 'हूडी स्वीकार करने की प्रार्थना करते है।

मामरु की भाति यहा भी कवि भगवान को उनकी सहायताथ शीघ्र न भजने क कारण कमला से कठोर वचन कहत ह—

'महल मम नाथ नें म भरि तु बाथने, का रे कमला तुहने लाज नावे।''

भक्त की दीन वाणी सुन कर भगवान शीघ्र ही उठ बठत हैं। कमला चकित होकर उस बड भागी का नाम पूछती है जिसके लिए उन्हें जागन का कष्ट लना पडा है—

'उधड की जागीया कोण बड भागीया, सार प्रभुजी तेहनी करोनी दोडी।''

भगवान वणिक वेष धरकर द्वारिका म शामळ सठ का पता पूछन वाले यात्रियो से मिलत हे और 'हूडी' स्वीकार कर उन्ह सात सौ तथा दो सौ रुपये अतिरिक्त दकर विदा करत है।

तीथयात्री भक्त नरसी का जयघोष करत हुए लौटते समय पुन जूनागढ म आकर नरसी के दशन करके अपन जीवन को कृताथ करते है।

वणन की दृष्टि स देखा जाए तो मामेरु एव हूडी काव्य म पर्याप्त साम्य है। नरसी का अन्य व्यक्तियो द्वारा उपहास नरसी की भगवान् स अपनी लाज रखने की विनति, राधा और कमला के प्रति व्यग्य, भक्तराज के लिए भगवान का एकदम सन्नद्ध होकर श्रेष्ठी वेष धारण कर भक्त की सहायता के लिए पहुचना आदि प्रसग समान ही है। दोनो कृतियो म कुटिलजनो द्वारा भक्त नरसी का उपहास तथा भगवान का भक्तवात्सल्य वर्णित है।

५—हारमसेना पद अने हारमाला

प्रस्तुत कृति की प्रामाणिकता के सबध म विद्वानो म पर्याप्त मतभेद रहा ह। श्री कन्हैयालाल मा मुशी इस कृति को नरसी-कृत मानन को प्रस्तुत नही हैं। इस ग्रंथ को अप्रामाणिक सिद्ध

१ श्रीमद् भागवत, दशमस्कध, अध्याय ८९—
　　शयान प्रिय उत्सग पदा वक्षस्यताडयन् ॥८॥
२ हूडी पद ६। ३ हूडी, पद ६।

करने के लिए उन्होने अपने ग्रथ 'नरसैयो भक्त हरिनो' मे सविस्तर चर्चा की है।[1] अपनी विस्तृत चर्चा के अत मे मुशीजी कहते है, 'यह आख्यानात्मक कृति वास्तव मे नरसी की नही है।'[2] श्री के का शास्त्री ने अपने नवीनतम सशोधन के परिणाम स्वरूप इस कृति को नरसी-कृत सिद्ध किया है। उन्होने आजतक उपलब्ध समस्त हस्तलिखित प्रतियो, सकलित यादियो, तथा खोज-रिपोर्ट के आधार पर 'हारसमेना पद अने हारमाळा' ग्रथ सपादित किया है। श्री शास्त्रीजी ने इस कृति के सबध मे अद्यावधि प्रचलित समस्त भ्रात धारणाओ का उचित तर्को के द्वारा निराकरण करके इसकी प्रामाणिकता सिद्ध की है। 'हारसमेना पद अने हारमाळा' कृति दो भागो मे विभाजित है। 'हारसमेना पद' शीर्षक के अन्तर्गत श्री शास्त्रीजी ने कवि के उन पदो का सग्रह किया है जो भगवान् कृष्ण से 'हार' (पुष्पमाला) प्राप्त करने के लिए उसने रा' माडलिक के दरबार मे गाये माने जाते हैं। 'हारमाळा' के अतर्गत वे पद आते है जिनकी रचना कवि ने 'हारप्रसग' के पश्चात् की। इसमे नरसी ने हारप्रसग के समय अपना अन्य मतावलबी सन्यासियो के साथ जो उग्र वाद-विवाद हुआ था, उसका सविस्तार वर्णन किया है। अध्ययन-सौकर्य तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से नरसी के अध्येताओ के लिए यह कार्य विशेष लाभप्रद है।

प्रस्तुत रचना मे भक्त नरसी के ऊपर थोपे गए अभियोग एव भगवद् कृपा से उनके निर्दोष सिद्ध होने का प्रसग वर्णित है। नरसी की वैष्णव-भक्ति से उस समय का अधिकाश समाज चिढा हुआ था। कुछ विद्वेषियो ने राजा रा' माडलिक के समक्ष नरसी पर स्त्रीलपट एवं व्यभिचारी होने का अभियोग लगाया। उन्होने राजा से कहा कि नरसी भक्ति के मिस स्त्रियो को एकत्र करके अपनी वैषयिक तृषा का उपशमन करता है।

राजा ने नरसी को राज्यसभा मे बुलाकर अपनी भक्ति का प्रमाण प्रस्तुत करने को कहा। राजा ने आज्ञा दी कि प्रभात होते तक भगवान् कृष्ण अपनी ग्रीवा का पुष्पहार स्वय आकर उसको प्रदान करेगे तो वह सच्चा भक्त है, ऐसा माना जाएगा, अन्यथा उसे मृत्युदड दिया जाएगा। राजाज्ञा सुनकर नरसी ने भगवान् का कीर्तन प्रारम्भ किया। नरसी की भक्ति से तुष्ट हुए भगवान् कृष्ण ने प्रत्यक्ष प्रकट होकर स्वकर-कमलो से नरसी को पुष्पहार अर्पित किया। 'हारसमेना पद अने हारमाळा' मे सक्षिप्त रूप से यही कथा वर्णित है। नरसी की यह महत्त्वपूर्ण आत्मपरक कृति होने से यहाँ 'हारसमेना पद अने हारमाळा' के सबध मे स्वतत्र रूप से विचार किया जाएगा।

हारसमेनां पद

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है नरसी के ये पद उस समय के है, जिस समय वह 'पुष्पहार' प्राप्त करने के लिए भगवान् से प्रार्थना करता है। कवि प्रथम पद मे ही भगवान् से दीन-वाणी

---

१. नरसैंयो भक्त हरिनो, पृ १४ से ४८।

२. 'ए असल आख्यान नरसिंहनी कृति होई शके नहीं'—नरसैंयो भक्त हरिनो, पृ. ४८।

म विनति करता हुआ स्वय को उनके चरणा की शरण म बनाता हुआ उनसे कृपा जल की कामना करता है—

'निज चरण शरण सभाळय करज्यो
* * *
ताहरे सत छे प्राण तोल्य
जळ चरा जळ विना किम करी जीवश ?[1]

इसके पश्चात नरसी अम्बरीष, द्रौपदी ध्रुव आदि पर किय गय अनुग्रह का उल्लेख करते हुए भक्तवत्सल भगवान का विविध रूपा म गुण-सकीर्तन करत है। भगवान सवभावन भजनीय है। भाव कुभाव किसी भी रूप म व उपास्य है। नरसी कहते है—

शिशुपाल जरासध कस नरकासुरा
* * *
वर भाव तहना बध छोडया
* * *
भावि कु भावि जिणि तू नि उपशिम्रो।

नरसी के कथन का तात्पय यह है कि भगवान जब वरभाव स भजनवाला का भी उद्धार करते ह तब नरसी जस मधुर भक्त की व इस कठिन समय म क्या न सहायता करगे।

यद्यपि हारप्रसग के समस्त पदा म दैन्य एव प्रपत्ति के भाव ही प्रमुख है तथापि हार प्रदान करन म भगवान का विलब करन दख कर कवि की वाणी कठोर एव उपालभ पूर्ण हो उठती है—

(अ) नरसिंअनि एक हार आपता,
ताहरा आपनू शू रे जाये ?[2]
(आ) तूटशे स्नेह वाकम ताण्य।[3]
(इ) निठुर का थ रह्यो [4]

अत म भगवान् नरसी की भक्ति से पसन्न होकर अपने हाथा से उसे पुष्प माला अर्पित करते हैं—

केशवे कठियो हार करियो वडो,
प्रमि आरोप्यु नरसअ ग्रीवा।[5]

भगवान नरसी से कहते हैं कि हम दाना म कोइ अन्तर नहीं है। त्रिभुवन म तू ही एकमात्र मेरा अन्यतम भक्त है—

तूहमा महमा भद किश्य नागरा ?
माय ए माहरी वेद-वाणी
* * *
त्रिभुवने तुम समो को नहीं नागरा।
ताहरु माहरु एक रूप।

१ हा स हा क, पृ ११ २ हा स हा क, पृ ४। ३ हा स हा क, पृ १६। ४ हा म हा क, पृ २०। ५ हा म हा क, पृ २४। ६ हा स हा के, पृ ४। ७ हा म हा क, पृ २८।

भक्तिरस भगवान् का अनुग्रह होने पर ही उपलब्ध होता है। इस रस का पान करने वाला ही सच्चा 'रसिया' माना जाता है। नरसी पर भगवान् की परमकृपा हो चुकी थी। भक्तिरस का आस्वाद लेकर वे सच्चे 'रसिया' हो गये थे—

'भक्ति रस दोह्यलो, विण कृपा नवि जडे,
जेह पियि तेह रसिया काहावे।'[1]

और इसके पश्चात् 'हारप्रसग' के अतिम पद मे भगवान कृष्ण स्वय अपने प्रियभक्त नरसी के समक्ष करबद्ध हो कर सविनय कहते है कि तेरे जैसे वैष्णव ही मेरे प्राण है—

'हार आपी हरि विनय-वीनती करे,
रहया सन्मुख प्रभु जोडी हाथ
प्राण वैष्णव सदा, जनम-जीवन मुदा।[2]

हारमाला

प्रथम सत्रह पदो मे भीम, नरसिहाश्रम और मुकुन्दाश्रम साधु नरसी के साथ धार्मिक वाद-विवाद करते है। वे नरसी से वैष्णव धर्म को छोडने का अनुरोध करते है। इनमे से भीम सन्यासी नरसी को सर्वप्रथम कृष्णभजन छोडकर सन्यास ग्रहण करके निर्गुणोपासना करने तथा कृष्ण के स्थान पर राम कहने को कहते है—

'था संन्यासी, जै रहि काशी, भलु हूआ तो निर्गुण गिहि
भीम भणि कहयू करि माहरु, गर्जना करीनि 'राम' कहि।'[3]

इसके उत्तर मे नरसी कहते है कि वृद्ध होने पर राम कहूगा, अभी तो 'रगीला' कृष्ण ही मेरा आराध्य है। तेरे मुक्तिदाता राम मेरे लिए इस समय किसी काम के नही है—

'गरढा थशि त्यवारि राम कहीशि,
* * *
रंगीलो छबीलो छांडीनि
ताहरा मगवाणिआनि कूण धाय?'[4]

साधु नरसिहाश्रम भी अपने ढग से नरसी को समझाने की चेष्टा करते है। वे कहते है कि स्त्रियो के साथ नाचने गाने से और रास-रग करने से कभी ईश्वर की प्राप्ति नही हो सकती। २६ वर्ष के सतत आत्मचिन्तन एव काशीवास पर भी जब उन्हे 'अविनाशी' की उपलब्धि नही हो सकी तो फिर उसका यह सब करना व्यर्थ है। वे उसको चुनौती के स्वर मे स्पष्ट कहते है कि यदि वह स्त्रियो के साथ राम-रग, भजन-कीर्तन छोड नही देगा तो उसे इसके कुपरिणामो को भोगने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए।

इसी प्रकार मुकुन्दाश्रम नामक साधु भी नरसी के तिलक, माला आदि को ढोग बताकर उन्हे कृष्ण की आराधना का त्याग करने का उपदेश देते है।

---

[1] हा स. हा के, पृ २८। २. हा. स हा के, पृ. ३१। ३ हा स हा. के, पृ ३६। ४ हा. स हा के., पृ. ७७।

नरसी को अपने निश्चय पर दृढ़ देखकर सभी साधु-संन्यासी कुपित होकर राजा रा माडलिक के समक्ष नरसी के असद्व्यवहार की शिकायत करते हैं। संन्यासी राजा से कहते हैं कि नरसी की भक्ति यदि सच्ची है तो वह अपने इष्टदेव दामोदर से हार प्राप्त कर अपनी भक्ति का सभी के समक्ष प्रमाण प्रस्तुत करे।

राजा किंकर्तव्यविमूढ़ की स्थिति में अपनी माता एवं पत्नी से परामर्श लेने गया। माता एवं पत्नी दोनों ने राजा को नरसी जैसे सरल भक्त को न सताने की सलाह दी।

संन्यासी न्याय चाहते थे। अन्त में राजा ने नरसी को राज्यसभा में बुलाकर अपनी भक्ति के प्रमाण स्वरूप दामोदर से हार प्राप्त करने का आदेश दिया। इसके पश्चात नरसी ने हार प्राप्त्यर्थ किस प्रकार भगवान से प्रार्थना की यह ऊपर 'हारसमेना पद' शीर्षक के अन्तर्गत लिखा जा चुका है। आगे के वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में यहाँ इतना और जान लेना अपेक्षित है कि हार प्रदान करने के पूर्व भगवान ने नरसी को 'केदारा' राग गाने का आदेश दिया था। 'केदारा' राग नरसी ने धरणीधर महेता के यहाँ बन्धक रखा था। अतः भगवान् स्वयं नरसी का रूप धारण कर 'केदारा' राग छुड़ाते हैं।

अन्त में 'केदारा' राग गाने पर भगवान नरसी को हार प्रदान करते हैं। सभा में उपस्थित रामानन्द नामक साधु भक्त को सताने के अपराध में राजा को तीन मास में म्लेच्छ बनने का शाप देते हैं[1] और अन्त में अभिशप्त राजा रा माडलिक नरसी के समक्ष आकर क्षमा माँगता है।

(आ) आख्यानात्मक कृतियाँ

१–सुदामाचरित्र

नरसी का ६ पदों का यह संक्षिप्त काव्य 'भागवत' पर आधारित है। गुजरात के भालण, कृष्णदास प्रेमानन्द सुन्दरदास आदि कवियों ने भी अपनी अपनी प्रतिभा के आधार पर इस प्रसंग को लेकर सुदामा के चरित्र का अंकन किया है परन्तु इन सभी में नरसी का सुदामा चरित्र अपनी विशेष महत्ता रखता है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से यह काव्य तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) सुदामा का गार्हस्थ्य-जीवन और उनकी द्वारिका गमन की तैयारी।
(२) द्वारिका में सुदामा का कृष्ण द्वारा आतिथ्य।
(३) सुदामा का गृहागमन।

बिना किसी पूर्व भूमिका के नरसी का यह काव्य पति पत्नी के संवाद के साथ घरेलू वातावरण में प्रारम्भ होता है। सुदामा की सुशील पत्नी अपने घर के दारिद्र्य का उल्लेख करती हुई अपने पति से उनके बालमित्र द्वारिकेश श्रीकृष्ण के यहाँ जाने की प्रार्थना करती है। पत्नी अपने पति की अयाचक वृत्ति से भली भाँति परिचित है अतः वह पति के द्वारिका जाने का उद्देश्य इस प्रकार प्रकट करती है—

'गोमती स्नानथी, कोटी अघ नाशशे, निरखता कृष्णने प्रेम आणी।'[2]

---

[1] इस घटना के पश्चात् मुहम्मद बेगड़ा के हाथों राजा रा' माडलिक पराजित हुआ और उसे मुसलमान बनाकर बादशाह अहमदाबाद लाया। आज भी अहमदाबाद के माणेक चौक के कदोई आत' में राजा रा' माडलिक की कब्र विद्यमान है। [2] न म का स, पृ १८३।

इसके अतिरिक्त वह अपने पति से यह भी कहती है कि भगवान् अन्तर्यामी है। वे अवश्य हमारा दु ख मिटाएगे।

सुदामा परमज्ञानी एव निर्लोभी ब्राह्मण थे। उन्होने अपनी पत्नी से स्पष्ट शब्दो मे कह दिया कि—

'मौन वेसी रहो, सुख-दुःख सउ सहो, भोगवो कर्म जे भाग्य चोट्यु।'[1]

यहाँ नरसी ने निम्नलिखित सिद्धान्त का उल्लेख किया है—

'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'

सुदामा की पत्नी के चरित्र का अकन कवि ने बडे स्वाभाविक एव मनोवैज्ञानिक रूप मे किया है। अपने पति की आदर्शवाणी सुनकर खीज प्रकट करने के स्थान पर वह उनके प्रति विशेष सम्मान प्रकट करती है। वह एक आदर्श भारतीय नारी है। अपने पति के वचन उसके लिए 'वेदवाणी' के रूप मे है—

'स्वामी साचु कहयु बोलबु नव रहयु, कथनां वचन ते वेदवाणी।'[2]

कृष्ण महान् और वह एक अकिंचन ब्राह्मण है। ऐसी स्थिति मे वह उनके समक्ष कैसे जाएगा। पत्नी पति की सशयात्मक स्थिति देखकर 'कान्तासम्मित' मधुर-गिरा से अपने पति के हृदय की लघु-ग्रन्थी को धीरे से इस प्रकार खोलती है—

'ब्रह्मण्य देव, दयाळ श्रीकृष्णजी, निज जन जाणि ने सूध लेशे।
प्रीतिनी रीते, जाय नहि वीसरी, बाललीला तणा चरित्र कहेशे।'[3]

'बाललीला' शब्द के सुनते ही सुदामा थोडे क्षणो के लिए अपने आप को भूलकर कृष्ण के साथ की अपनी बचपन की बालक्रीडा के भाव मे मग्न हो जाते है और वे 'नथी काई ओढवा भेट लेई जवा' के शब्दो मे अपनी अर्ध अनुमति प्रकट कर देते है। पत्नी भी प्रसन्न होकर उपवस्त्र मे थोडे चावल बाँधकर उन्हे द्वारिका के लिए विदा कर देती है।

इसके पश्चात् सुदामा कृष्ण का स्मरण करते हुए द्वारिका की ओर चल पडे। मार्ग मे उनका मन अनेक विचारो मे उलझ गया। पत्नी की विशेष प्रेरणा से वे आज इस पुण्ययात्रा के लिए निकले है अत उसके प्रति भी उनका मन कृतज्ञता से भर जाता है। चलते-चलते उन्होने यह दृढ निश्चय कर लिया है कि वे कुछ भी हो कृष्ण के सामने अयाचक बनकर ही रहेगे।

अपने बालमित्र को अचानक अपने सम्मुख उपस्थित देखकर कृष्ण दौडकर उनका स्वागत करते है। भोजनादि करवाकर सुदामा को श्रीकृष्ण पलग पर सुलाते है और सत्यभामा, रुक्मिणी आदि पट्टमहिषियो के सम्मुख उनके अध्वखेद को दूर करने के लिए चरण दबाते है। धौंकनी

---

१. न म. का. स, पृ. १५७। २ न म. का. स, पृ. १५७। ३ न. म का. सं, पृ. १५७।

का तरह श्वास लते नासामल झरते मलीन सुदामा क प्रति यादवाधीश का अनय सम्यत्व दख कर उपस्थित सम्पूण अन्त पुर समाज आश्चय म डूब जाता है—

भाग्य जो जा कोइ, कृपण भिक्षु तणु, रुक्मिणी आदि सौ नारी बोले,
हळधर जोग्य ते भोग पहोचाडिया अज अम्बरीष थी अधिक तोले
आ कृपण रूप तो प्रगटियु क्या थकी, वस्त्र मेला दिसे कम फूट्यो,
*   *   *
अग अति कम कमे, धमण म्होड धमे, उधरसे ने वळी नाक लूतो,
जो जो कौतुक हरी, देहदशा करी, कृपण ते कृष्ण ने सग सूतो ।[1]

विश्राम के पश्चात् सुदामा के पूण आश्वस्त होने पर श्रीकृष्ण उनसे इस प्रकार हाल पूछते है—

कहो ने बाधव तमा, ब्रह्मचारी के गहधम कीधो'

सुदामा की दीन हीन स्थिति के प्रति कृष्ण स्वय को ही उत्तरदायी मानते है । अपन गहधम म व्यस्त रहकर व ही अपने बालपन के मित्र सुदामा का भूल गय थ । कृष्ण इसके लिए सुदामा के समक्ष अपना अपराध स्वीकार करते हैं ।

इसके पश्चात दोना मित्रा म चावल की पाटली की छीना झपटी होती है । सुदामा ने अनेक कठिन अवसरा पर उन्हे किस प्रकार की सहायता दी थी इसकी स्मति दिलवाकर कृष्ण सुदामा के समक्ष अपना कृतज्ञ भाव प्रदर्शित करते है ।

अन्त मे कृष्ण से विदा होकर सुदामा घर की ओर प्रयाण करते ह । माग म सुदामा का मन कई विचारा म उलझ जाता है । कृष्ण न उनके मन की बात नही जानी और कुछ दने के स्थान पर उनकी जीण शीण पीताम्बरी भी अपने पास रख ली । कुछ पाने की आशा म बठी पत्नी एव बच्चा के समक्ष वह खाली हाथ कस जाएगे ? इस प्रकार की द्वन्द्वात्मक मानसिक स्थिति मे वे जब अपने घर के सामने पहुचते है और जीण कुटिया के स्थान पर दास दासिया स समद्ध दिव्य प्रासाद खडा देखते है तब उन्हे कृष्ण की परमकृपा का पता लगता है ।

इस प्रकार नरसी ने पौराणिक वत्तान्त को ही अपनी मौलिक प्रतिभा से नवीन रूप म हमारे सम्मुख रखने का प्रयत्न किया है । इसमे भावात्मकता की अपेक्षा प्राय वणनात्मकता का आधिक्य है । सुदामा के चरित्र का अध्ययन करने से यह बात निर्विवाद रूप म कही जा सकती है कि कवि ने दम्पति के स्वाभाविक सवादो की श्रमिकता म सूक्ष्म एव मनोवज्ञानिक दृष्टि का सहारा लिया है । दरिद्रावस्था म एक सुशील पत्नी को पति के साथ किस मधुरता से व्यवहार करना चाहिए यह जानने को नरसी का सुदामा चरित्र पर्याप्त है ।

२–चातुरी

नरसी महता कृत काव्यसग्रह म चातुरी छत्रीसी तथा चातुरी षोडशी शीर्षक के अन्तगत प्रकाशित समस्त पदो का समावेश कु श्री चतन्यबाला ज दिवटिया द्वारा सम्पादित नरसी महेता कृत चातुरीओ म हो जाता है । फावस गुजराती सभा बम्बई की चार हस्तलिखित

१ न म का स , पृ १२६ ।

प्रतियो[1] तथा अध्यापक श्री के का शास्त्री की एक हस्तलिखित प्रति के आधार पर सम्पादिका ने विशेप सशोधन करके 'नरमी महेता कृत चातुरीओ' का सम्पादन किया है।[2] इसमे प्रथम २६ चातुरियाँ, इसके पश्चात् परिशिष्ट १ और दो मे क्रमश १५ और १४, यो कुल ५४ चातुरियाँ सगृहीत है। 'चातुरियाँ' नरसी की प्रामाणिक कृतियाँ मानी जाती है।

'चातुरी' नामकरण

'चातुरीओ' मे कृष्ण-राधा की शृङ्गारपरक मधुर लीलाओ का वर्णन किया गया है। सम्भोग शृङ्गार की चेष्टाओ तथा हाव-भाव आदि का वर्णन करते हुए कवि ने कृष्ण को 'रति-चतुर' कहा है—

आघा पधारो शिर भार उतारुं अने कुंज सदन सेजा पाथरी,
रूडी परे जाणो नहि तो जुओ गोपाळ नी चातुरी।[3]

इन पदो मे रति-चतुर कृष्ण के रति-चातुर्य का वर्णन होने से इनको 'चातुरीओ' नाम दिया गया है।

वर्ण्य-विषय

'चातुरी' मे राधाकृष्ण के विहार का वडा रसपूर्ण वर्णन किया गया है। नरसी की समस्त शृङ्गारिक रचनाओ मे कवि जयदेव के 'गीतगोविन्द' का प्रभाव सर्वाधिक रूप मे इन्ही पदो मे लक्षित होता है।[4]

कृष्ण को म्लानवदन वैठे देखकर सखी ललिता उनसे दु ख का कारण पूछती है। कृष्ण अपनी निर्दोपता प्रकट करते हुए राधा के अकारण रूठ कर चले जाने की वात कहते है। रूठी राधा को कृष्णानुकूल वनाने का अपना दृढ सकल्प प्रकट करके ललिता कृष्ण को आश्वस्त करती है और राधा के पास जाती है।

अनेक युक्तियो से समझाकर ललिता राधा को कृष्ण के पास ले आती है। इसके पश्चात् कृष्ण पड्मास प्रमाण रात्रि को दीर्घ करके विविध प्रकार के रतिभावो से राधा के साथ सुरत क्रीडा करते है। नरसी ने सूर की भाँति दृष्टिकूट शैली मे नही किन्तु काव्य की प्राय अभिधात्मक शैली मे ही अमर्यादित शृङ्गार का वर्णन किया है—

(अ) अधुर डसी कर कुच ग्रही कृष्णजी कंद्रप ने दमे,
भुज वळ भीडी करीने कसे तीहा कामनी।[5]

---

1. फार्वस गुजराती सभा, वंवई, न ६८६, 'ख' सवत् १७९२ गु वि. सभा १, ४२२ ग स० १७९९ गु. वि. स २,१६४ 'ख' की 'घ' प्रति विना संवत् की ३, तथा स १७९८ की अध्यापक श्री के. का. शास्त्री की हस्तलिखित प्रति ४।
2. 'नरसिंह महेता कृत चातुरी' सं कु चैतन्यवाला ज दिवेटिया, फार्वस गुजराती सभा, मुवई ४, ई. स. १९४९। ३ चा०, पृ ५४।
4. His Chaturies are again inspired by the 'Gita Govinda' Gujarat & its literature—K. M. Munshi-P. 193.
5. चा, पृ. २८

(आ) भूदरे भाडा रवेस्यू, चुम्बन दीधु गाल,
रसियो ते रस सींचि रह्यो, कन्दर्प ने शिर साल ।[1]

(इ) अबलाए उरबल करी पियुने कुच पर लीधो कामनी,
सरोज सकोमळ सुदरी अने मालती मकरन्द ।[2]

(इ) पर करी पधराव सेजाए, हरखे त हसिया श्री हरि,
मुख चुम्बन लेइने भुजा सरसो बिउ ब्रिढ बाथ भरा
चेत चतुरा, मुगट मणम नेपुर धुनी चाला नरोहरा ।[3]

इस लघुकाव्य म उत्तम कोटि क मधुर काव्यत्व के दर्शन उपलब्ध होते हैं। इसकी सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे सम्भोग शृङ्गार के प्राय सभी भाव अपने चरमभाव को प्राप्त हुए है। सम्भोग शृङ्गार की पुष्टि के लिए इसम राधा एव कृष्ण दोनो के विरह-ताप का वर्णन किया गया है। इस काव्य की एक विशेषता यह है कि इसम नरसी स्वय एव पात्र के रूप म कृष्ण क सम्मुख उपस्थित रहते हैं। इसी कारण यह महद अश म 'आख्यानकाव्य' होने पर भी स्वल्प मात्रा म आत्मपरक काव्य भी माना जा सकता है।

३–दाणलीला

यह काव्य नरसिंह महेताकृत काव्यसग्रह म प्रकाशित किया गया है। इस काव्य के नरसी कृत होने म सन्देह है। काव्यत्व की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नही है। वर्णनात्मक शैली म लिखा गया यह एक लम्बा पद मात्र है।

वर्ण्य विषय

बलराम एव अन्य सखाओ क साथ कृष्ण गोचारणाय वन म जाते है। वहाँ विविध बाल सुलभ क्रीडाओ के पश्चात वे सभी सखाओ के साथ भोजन आरोगते हैं। इसके बाद गायो को एकत्र करने के लिए वे गोवर्द्धन पर्वत के शिखर पर पहुँचते हैं। वहाँ उन्हें दूर से कोई युवती दीख पडती है। कृष्ण शीघ्र उसके पास पहुचकर उससे अपना नाम-धाम पूछकर दान मागते हैं। परिचय देती हुई युवती अपना नाम राधा बता कर दान देने से स्पष्ट इन्कार कर देती है। आगे इसी प्रकार के मधुर सलाप के साथ यह काव्य समाप्त हो जाता है।

४–रासंसहस्रपदी

इस काव्य का विषय नाम से ही स्पष्ट है। श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के २९ से ३३ तक के पाच अध्याय रासपचाध्यायी नाम से प्रसिद्ध हैं। नरसी की इस कृति का विषय भी इन्हीं पर आधारित है।

जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है इसमे सहस्र पद होने चाहिए किन्तु नरसिंह महेताकृत काव्यसग्रह म इस शीर्षक के अन्तर्गत मात्र १८८ पद प्रकाशित हैं। श्री कन्हैयालाल मा मुन्शी

1 वही पृ २५। 2 वही पृ २७। 3 वही, पृ ५८।

ने इस काव्य को नरसी की संदिग्ध कृति माना है।[1] इधर श्री के का शास्त्री ने पर्याप्त संशोधन के पश्चात् इस सम्बन्ध मे कहा है कि नरसी ने रास सम्बन्धी सहस्रपद अवश्यमेव लिखे होगे।[2] शास्त्रीजी ने 'नरसिंह महेता-कृत काव्यसग्रह' मे प्रकाशित 'शृङ्गारमाळा' से ८ तथा इसी सग्रह के परिशिष्ट १ एव २ से क्रमश ३३ एव ४ और इसी सग्रह मे प्रकाशित 'राससहस्रपदी' मे से ६८ रास सम्बन्धी पद लेकर ११३ पदो की भागवत-क्रमानुकूल 'राससहस्रपदी' का भाषा के संशोधन परिवर्द्धन के साथ स्वतन्त्र सस्करण सम्पादित किया है, जिसके सम्बन्ध मे ग्रन्थ की भूमिका मे उन्होने लिखा है, "ये ११३ पद इसी क्रम से लिखे गये होगे यह कहना कठिन है। यह प्रस्तुत काव्य का समुद्धार मात्र है। 'हारमाळा' की स १७३३ की हस्तलिखित प्रति के आधार पर मैने तत्कालीन भाषा का स्वरूप प्रदान किया है। नरसी की भाषा का स्वरूप यही था यह कहना कठिन है। किन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि भाषा का यह स्वरूप नरसी के समय से अतीव निकट का है।"[3]

श्री के का शास्त्री की 'राससहस्रपदी' की संशोधित कृति को ही विशेष उपयुक्त समझकर इस शोध-ग्रन्थ मे उसीका उपयोग किया गया है। इसमे पदो के वर्ण्य-विषय का विभाजन इस प्रकार किया गया है —

१	अध्याय प्रथम	१ रासप्रसगोपक्रम	पद १ से १८
		२ आदिरास	पद १९ से ४५
२	अध्याय द्वितीय	३ विरहदशा	पद ४६ से ५०
३	अध्याय तृतीय, अध्याय चतुर्थ, अध्याय पचम	४ विरहदशा	पद ५१
		५ महारास	पद ५२ से ११३

वर्ण्य-विषय

वशी-ध्वनि सुनते ही गोपियाँ शरद् पूर्णिमा की अर्धरात्रि मे अपने गुरुजनो की उपेक्षा कर कृष्ण के पास दौड पडती है। गोपियो को कृष्ण कठोर शब्दो मे उपालम्भित करते हुए उन्हे पुन स्वगृह लौट जाने का आदेश देते है। गोपियाँ कृष्ण के प्रतिकूल वचन सुनकर स्तब्ध रह जाती है। उत्तर मे कृष्ण को बहुत-कुछ खरी-खोटी सुनाने के पश्चात् अन्त मे वे आत्मघात करने तक

१. (अ) "नरसिंह महेताना का योमा 'राससहस्रपदी' गणाय छे, पण आ विशे मने अनेक शंकाओ छे", 'नरसैयो भक्त हरीनो', पृ. ११।

(आ) 'राससहस्रपदी' नामनु काव्य जे 'नरसिंह महेता काव्यसंग्रह' मा छपायु छे ते असल नथी', 'नरसैयो भक्त हरिनो', पृ० १२।

२. 'राससहस्रपदी': संशोधक श्री के का शास्त्री, सन् १९३९।

३ आ ११३ पदो काई ए ज क्रमे हशे, एम सिद्धवत् हु कही शकु तेम नथी, मात्र भागवतानुकूल संगति पूरता ज छे

आ मात्र समुद्धार छे, अने ते मारा तरफथी थतो होवाथी भाषास्वरूप 'हारमाला' नी स० १७३३ नी हाथप्रत जेवु मारा तरफथी आपवामां आव्यु छे एनी जवाबदारी सपूर्ण पणे मारी छे नरसिंहनु भाषास्वरूप जे हतु, ते आज आपणे मेलवी शकता नथी, तेना निकटना समयनी भाषा, आम छता ए छे 'राससहस्रपदी', श्री के. का शास्त्री, पृ २०।

को उद्यत हो जाते हैं। फलत गोपियों की अनन्य भक्ति से तुष्ट होकर कृष्ण उनके साथ रास प्रारम्भ करते हैं। कृष्ण के साथ गोपियाँ उन्मत्त होकर नाचने लगती हैं। इस अद्भुत दृश्य को देखकर चन्द्र स्थिर हो जाता है और रात्रि भी छ मास के प्रमाण जितनी दीर्घ हो जाती है। ब्रह्मा शारदा और अन्य समस्त देवकुल रास के दिव्य सौंदर्य के दर्शन कर धन्य हो जाते हैं। मुनिवृन्द हर्षनाद करने लगते हैं। रास क्रीडा में नरसी भी स्वयं एक पात्र के रूप में उपस्थित रहता है। रास के आनन्द में मत्त होकर वह अपने पुरुषत्व का भान तक भूल जाता है।

कुछ समय के पश्चात रासरत गोपियों के मध्य से कृष्ण सहसा अन्तर्धान हो जाते हैं। गोपियाँ उन्मत्त दशा में जड चेतन का विवेक भूल कर वन के वृक्षों लताओं आदि से कृष्ण का अता पता पूछती हुई वन में घूमने लगती है। अन्त में गोपियाँ एक ऐसे स्थान पर पहुँचती हैं जहाँ उन्हें कृष्ण के साथ किसी अन्य गोपिका के चरण चिह्न दिखाई पड़ते हैं। इसके पश्चात कुछ आगे बढ़ने पर उन्हें वह गोपिका भी मिल जाती है, जिसे कृष्ण ने अकेली छोड़ दिया था।

अन्त में कृष्ण पुन प्रकट होकर गोपियों के साथ महारास प्रारम्भ करते हैं। नरसी ने इसका भी विशद वर्णन किया है।

चातुरीओ में जिस भाँति गीतगोविन्द का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है वैसे ही रास की कई शृङ्गारिक उद्भावनाओं में भी यह प्रभाव अच्छी तरह लक्षित होता है। उदाहरणार्थ यहाँ रासमहस्रपदी एवं गीतगोविन्द की पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

रासमहस्रपदी

धीर समीरे जमुना तीरे विविध तनना ताप समे।[1]

गीतगोविन्द

धीरसमीरे यमुनातीरे वसति वने वनमाली।

दोनों के रास में इतना अन्तर अवश्य है कि 'गीतगोविन्द' का रास जहाँ वसन्तरास है वहाँ रासमहस्रपदी का भागवतानुसार शरद रास।

(ङ) कृष्णलीला परक पद

(१) श्रीकृष्णजन्म समानां पद

'नरसी महेतानी कृत काव्यसंग्रह' में इस विषय से सम्बद्ध ११ पद मिलते हैं। भागवत दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के ४६ तथा उत्तरार्ध के प्रथम अध्याय तक के सविस्तृत कथानक को कवि ने इन पदों में अतीव संक्षिप्त रूप में समावेश करने का प्रयत्न किया है। सभी पद कथात्मक शैली में निबद्ध हैं। सूर ने कृष्णजन्म समय के आनन्दोल्लास का जिस रूप में विस्तृत वर्णन किया है उसका इन पदों में सर्वथा अभाव है।

वर्ण्य विषय

प्रथम पद में हरि को प्रणाम करके कवि माया मानव विषय का आरम्भ करता है। मथुरा के दुराचार से त्रस्त देवताओं के द्वारा भगवान की स्तुति समस्त यदुकुल का गोकुल में स्थानान्त

[1] रासमहस्रपदी न का दो न पृ २१।

होने की भगवदाज्ञा, वसुदेव-देवकी का पाणिग्रहण, आकाशवाणी और निर्दोष दम्पति को कस द्वारा कारावास मे डालने का वर्णन प्रथम दो पदो मे कर दिया गया है। इसके पश्चात् शेष ६ पदो मे कृष्ण-जन्म से लेकर कृष्ण के द्वारा कस-वध तथा मथुरा का राज्य उग्रसेन को सौपकर कृष्ण के द्वारिका-प्रस्थान तक का वर्णन किया गया है। कवि ने सभी महत्त्वपूर्ण प्रसगो का प्राय उल्लेख मात्र किया है।

(२) श्रीकृष्णजन्म वधाईनां पद

'नरसी महेता-कृत काव्य-सग्रह' मे इस प्रसग के आठ पद प्रकाशित है, जिनमे कृष्ण-जन्म के पश्चात् नन्द-यशोदा तथा अन्य व्रज-वासियो द्वारा जन्मोत्सव मनाने का विषय वर्णित है। कवि ने अधिकाश पदो मे लीलाधारी कृष्ण के अलौकिक गुणो का सकीर्तन किया है।

(३) बाळलीला

'नरसिंह महेता-कृत काव्यसग्रह' मे इस शीर्षक के अन्तर्गत तीस पद सकलित है, जिनमे कवि ने कृष्ण की विविध बाल-सुलभ चेष्टाओ का वर्णन किया है। कृष्ण का चन्द्र को प्राप्त करने के लिए हठ करना, छोटे-छोटे पैरो से नृत्य करना, गोरस चुराना, व्रज मे सखाओ के साथ ऊधम मचाना आदि प्रमुख बाल-चेष्टाओ एव क्रीडाओ का कवि ने बडा स्वाभाविक वर्णन किया है। नरसी का 'नाग-दमन' वाला नाग-पत्नी एवं कृष्ण का सुसम्वादात्मक प्रसिद्ध पद 'जलकमळ छाडी जाने बाळा' इसी के अन्तर्गत है।

(४) हींडोळाना पद

'नरसिंह महेता-कृत काव्यसग्रह'[१] मे प्रस्तुत शीर्षक के अन्तर्गत ४५ पद सगृहीत है। इस विषय से सम्बद्ध कुछ पद श्री के का. शास्त्री सम्पादित 'नरसैं महेताना पद' मे भी प्रकाशित है।[२] इन पदो मे श्रावण मे कृष्ण-गोपियो के झूला झूलने का मधुर शैली मे वर्णन किया गया है। वृन्दावन की अप्रतिम शोभा, वर्षा के उद्दीपक सौन्दर्य तथा वर्षा की सुखद बौछारे आदि का कवि ने अतीव प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। काव्यत्व की दृष्टि से मधुर शृङ्गार के इन पदो का नरसी-साहित्य मे महत्त्वपूर्ण स्थान है।

रास की तरह 'हींडोळे' की लीला मे भी नरसी प्रत्यक्ष रूप मे स्वय कृष्ण-गोपियो के बीच मे उपस्थित रहते है।[३] 'हींडोळ लीला' के मद-मत्त वातावरण मे नरसी कही गोपियो को पान बीडा देने मे व्यस्त दृष्टिगत होते है[४], तो कही करताल लेकर कृष्ण के गुण कीर्तन मे मग्न दिखाई पडते है।[५] एक बार तो वे स्वामिनीजी श्री राधिका द्वारा पुरस्कृत भी किये जाते है।[६]

(५) वसंतनां पद

'हींडोळाना पद' जिस प्रकार कृष्ण की वर्षाऋतु की लीलाओ से सम्बद्ध है, उसी प्रकार प्रस्तुत पदो मे कृष्ण की वसन्त-लीलाओ का चित्रण किया गया है। कवि ने इन पदो मे कृष्ण-गोपियो के होली खेल का बडा स्वाभाविक एव भावपूर्ण वर्णन किया है। स्थान-स्थान पर कवि

---

१. न. म. का. सं., पृ ४३८ से ४५७ तक। २ 'नरसैं महेताना पद' पृ. ११ से २३ तक।
३. न. म. का. सं., पृ ४४०। ४. न. म. का. सं., पृ. ४४०। ५. न. म. का. स., पृ ४४३।
६. न. म. का. सं., पृ. ४३६।

ने सम्भाग श्रृङ्गार व अमर्यादित भावा का प्रचुर मात्रा म चित्रण किया है। एक पद म राधा कृष्ण का विवाह भी वर्णित है।[1] गोपिया का कृष्ण के साथ स्वच्छन्द वसन्त विहार ही इन पदा का प्रमुख प्रतिपाद्य है। वसन्तश्री का वणन ता यहाँ मात्र उद्दीपन के रूप म ही किया गया है।

(६) शृङ्गारमाळा

इस शापक के अन्तगत कवि के सर्वाधिक पद सकलित है। नरसिंह महेता-कृत काव्य-सग्रह म उक्त शीर्षक के अतगत ४४१ पद प्रकाशित हैं।[2] श्री कन्हैयालाल मा मुन्शी ने इस विषय के पदा की सख्या ७५० बताई है।[3] यदि नरसिंह महेता-कृत काव्य-सग्रह के परिशिष्ट एव और दा तया श्री के का शास्त्री सम्पादित नरस मेहेतानां पदो म उद्धृत इस विषय के पदा का भी हम ग्रहण कर लें तो कुल मिलाकर सभी पदा की सख्या लगभग सात सौ तक पहुच जाती है।

वण्य विषय

प्रस्तुत पदा का मुख्य प्रतिपाद्य गोपी-कृष्ण की मधुर लीलाओ का गान है। सम्भाग श्रृङ्गार के इन पदा म प्राय शृङ्गार के अमर्यादित भावा का ही अभिव्यक्ति हुई है। चातुरी तथा रास के पदा का भाति इन पदा म भी गीतगोविन्द का प्रभाव स्पष्ट रूप स प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ यहा नरसी तथा जयदेव के काव्य की कुछ पक्तियाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

शृगारमाळा

कंठे बाहे ग्रही, सनमुख गुण उचरे तुमसो मम जीवन हम नाथ बोले,
तुमसी शृङ्गार उर हार मम भूषण, तुमसो मम मगन चित्त सग डोले।

गीतगोविन्द

त्वमसि मम भूषण त्वमसि मम जीवन,
त्वमसि मम भवजलधिरत्नम्।
भवतु भवतीह मयि सततमनुरोधिनी,
तत्र मम हृदयमतियत्नम ॥३॥[5]

(ई) भक्ति ज्ञानना पदो

प्रस्तुत शापक के अतगत नरसिंह महेता-कृत काव्य-सग्रह' म ६६ पद सकलित हैं। सभी पद उक्त विषय से सम्बद्ध नहीं हैं। दो पद ढेडवाड प्रसग के है जिनम समदृष्टा भक्त नरसी शूद्र द्वारा आमन्त्रित होकर उसके यहा रात भर भजन कीतन करते रहते हैं।[6] दूसरे दिन नागरा का जब इस घटना के समाचार मिलते है तब व नरसी के जाति-व्यवहार पर प्रतिबन्ध लगा देते हैं जिसका उत्तर नरसी एवा रे अमो एवा रे एवा तमे कहो छो वळी तेवा रे के रूप म देते हैं। द्रौपदी प्रार्थना म सम्बद्ध कुछ पदा म द्रौपदी प्रह्लाद आदि पर किये गये अनुग्रह का स्मरण

---

१ न म का स, पृ ४८०। २ न म का स पृ २६४ से ४०७ तक।
३ Gujarat and its literature P 191
४ न म का म, पृ ४०७। ५ गीतगोविन्द, सर्ग १। ६ न म का स पृ ४७०, ४७१।

दिलवाती हुई अपनी लाज रखने के लिए कृष्ण से प्रार्थना करती है।[1] एक पद मे मीरा का भी उल्लेख मिलता है। मीरा का समय नरसी के बाद सिद्ध हो चुका है। अत इस पद की प्रामाणिकता के विषय मे सन्देह है।[2] सम्भव है यह पद प्रक्षिप्त भी हो। एक पद कृष्ण-जन्म से सम्बन्धित है।[3] कुछ पद कृष्ण के गोचरण प्रसग के भी मिलते है।[4]

इनके अतिरिक्त शेष पदो मे भक्ति की महिमा[5], नवधा भक्ति की अपेक्षा दसवी प्रेम भक्ति की विशेष महत्ता[6], कृष्णभक्ति के प्रति अनन्यता[7], नाम-माहात्म्य[8], ब्रह्म, ईश्वर, प्रकृति, माया सम्बन्धी उपनिषद् एव वेदान्त के सिद्धान्त[9], गुरु-महिमा[10], ससार की नश्वरता[11], अहकारादि के त्याग[12], कुसग के दुष्परिणाम[13], धार्मिक बाह्याचारो के त्याग[14], आदि के सम्बन्ध मे कवि ने अपने गम्भीर एव सूक्ष्म दार्शनिक विचार प्रस्तुत किये है। जिस पद-राशि को लेकर नरसी गुजरात मे ही नही अपितु समूचे भारत मे विख्यात है वह यही है। सदियो से ये पद गुजरात मे 'प्रभातियो' के नाम से प्रात काल के समय गाये जाते रहे है। श्री अनन्तराय रावळ इनके सम्बन्ध मे कहते है—"जिस भाँति गुजरात मे नरसी और मीरा के पद, अखा और शामळ के छप्पा, वल्लभ घोळा के गरबे, धीरा की काफियाँ, भोजे के चाबखे और दयाराम की गरबियाँ प्रसिद्ध है उसी भाँति नरसी की प्रभातियाँ भी।"[15]

(उ) अप्रामाणिक रचनाएँ

'सुरत-सग्राम' एव 'गोविन्द-गमन' दोनो कृतियाँ आज से लगभग ७५ वर्ष पूर्व प्राचीनकाव्य त्रैमासिक (वडोदा) मे सबसे पहले प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् इसी पर से ग्रन्थो की भाषा को शुद्ध रूप देकर स्व इच्छाराम सूर्यराम देसाई ने 'नरसिंह महेता-कृत काव्य-सग्रह' मे ये दोनो कृतियाँ प्रकाशित की।

उक्त दोनो कृतियो की अभी तक कोई हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नही हुई है और भाषा, भाव, शैली आदि की दृष्टि से भी ये नरसी की अन्य रचनाओ से पर्याप्त भिन्न दृष्टिगत होती है। इन सभी कारणो के आधार पर सर्वप्रथम प्राध्यापक के का. शास्त्री ने तथा तत्पश्चात् श्री अनन्तराय रावळ ने इनको नरसी-कृत नही माना है। इस सम्बन्ध मे श्री के का शास्त्री लिखते है, "'गोविन्द-गमन' मे 'वळिया पळिया अगे, त्यारे मे लखियु रे' (पद ३३) के

---

१. न. म. का. सं., पृ. ४७१-७२। २. न म का. सं, पृ ४७२। ३ न म का. सं, पृ ४८३।
४. न म. का स., पृ. ४७२, ४७३, ४७५, ४७६। ५ न म. का. सं., पृ ४६६, ४८०, ४८३, ४८४, ४९१, ४९२। ६. न. म. का. सं, पृ. ४७८, ४९०, ४९१।
७. न. म. का सं, पृ ४७५, ४७६, ४७७, ४७८, ४८०, ४८१, ४८२, ४८८, ४८९, ४९०, ४९१, ४९४।
८. न. म. का. सं., पृ ४७४, ४७७, ४९०। ९. न म का. सं, पृ ४८४, ४८५, ४८६।
१० न. म. का. सं., पृ ४८७, ४८८, ४९०। ११. न. म का स, पृ. ४८२, ४९२, ४९३।
१२. न. म का. सं, पृ ४७३, ४८१, ४९४। १३. न. म. का. स, पृ. ४७७। १४. न. म. का. सं, पृ ४८६। १५ जेम नरसिंह मीराना पद, अखा शामळना छप्पा, वल्लभना गरबा, धीरानी काफीओ, भोजाना चाबखा अने दयारामनी गरबीओ तेम नरसिंहना प्रभातिया तेनी लोकख्यात अथवा कीर्तिदा कविता छे. 'गुजराती साहित्य', पृ ६६।

उल्लेख से यह काव्य नरसी की वृद्धावस्था की कृति है, ऐसा सूचित होने पर भी गोविन्द-गमन के साथ सुरत-संग्राम भी नरसी की प्रामाणिक कृति है, यह कहना असम्भव हो गया है।[1] श्री अनन्तराय रावळ इन कृतियों को नरसी की अप्रामाणिक कृतियाँ मानते हुए अपना मत इस प्रकार स्पष्ट करते हैं दोनों (गोविन्द गमन सुरत-संग्राम) काव्यों की प्रगल्भ कल्पना, विलक्षण रसवृत्ति अनेक फारसी शब्द (प्रधानतः सुरत-संग्राम) संस्कृत प्रचुर अनारसिंही भाषा, शब्दानुप्रास का प्राचुर्य, हस्तलिखित प्रतियों का सर्वथा अभाव, प्रेमानन्द के नाटक और वल्लभ के आख्यानों की ही तरह दोनों कृतियों का प्राचीन काव्य माला त्रिमासिक में प्रकाशित होने का एक विलक्षण योग ये सभी ऐसे प्रमाण हैं कि जो नरसी की इन कृतियों को सन्दिग्ध एवं अर्वाचीन युगीय मानने को बाध्य करते हैं।[2]

भाषा की कृत्रिमता को विचारणीय मानते हुए भी श्री के एम मुंशी के मतानुसार डा जगदीश गुप्त इन कृतियों को नरसी-कृत ही मानते हैं किन्तु इनको नरसी-कृत न मानने के पक्ष में जो प्रमाण ऊपर प्रस्तुत किये गये हैं, वे इतने सशक्त हैं कि वे इनको नरसी की संदिग्ध एवं अप्रामाणिक कृतियाँ मानने को ही बाध्य करते हैं।

(ग) तुलना

सूर एवं नरसी के कृतित्व पर स्वतन्त्र रूप में विचार कर चुकने के पश्चात् दोनों कवियों के कृतित्व पर तौलनिक दृष्टि से विचार किया जाए तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि सूर का जो पद-साहित्य आज उपलब्ध होता है वह नरसी की अपेक्षा परिमाण में कई गुना अधिक है। अब तक के अनुसंधान के फलस्वरूप जहाँ सूर के ८ १० सहस्र पद उपलब्ध होते हैं वहाँ नरसी के लगभग २४०० पद ही मिलते हैं। सूर के केवल सूरसागर में ही ४९३६ पद प्रकाशित हैं।

सूर एवं नरसी दोनों के सम्बन्ध में समान रूप से सवालाख पदों के निर्माण की मान्यता

---

१ गोविन्दगमनमां वळिया पळियां अंग, त्यारे मे लख्युं रे' (पद ३३) माम वृद्धावस्थामां ए काव्यनी रचना कर्यानो निर्देश छे, पण नरसिंहनो न गोविन्दगमन' उपरांत 'सुरत संग्राम' पण प्रामाणिक रचना छे ए कहेवुं असमर्थित थयुं छे ' 'गुजरात', गुरुवार, पृ ६, ता० १० ११ ६४६ स।

२ पण बन्ने काव्यमांनी प्रगल्भ कल्पना, बंने मां देखाती कविनी कशक विलक्षण रसवृत्ति मस्यावध फारसी शब्दोथी भरपूर एमांनी (खास करीने 'सुरत संग्राममां) संस्कृत प्रचुर अनारसिंही भाषा, भड़ यमक अने शब्दानुप्रासनो एमां रसालो प्रेमानन्दनां नाटको अने वल्लभनां आख्यानोनी भाषानी पेठे आ बे नो हस्तलिखित प्रतोना सदन्तर अभाव अने प्रेमानन्दनां नाटको अने वल्लभनां आख्यानो जेवा ए बे ने प्राचीन काव्यमाला त्रिमासिक' मां छपावानो अकस्मात्—आ बधुं एवुं छे के ए आ बन्ने कृतिओमां नरसिंहना कर्तृत्व विशे शंका उठावी तेनो रचनाकाळ अर्वाचीन मानवा प्रेरे छे ' गु सा म० रावळ, पृ० ६५।

प्रचलित रही है,[1] एक लाख पद-रचना के सम्बन्ध मे तो दोनो कवियो ने समानरूप से अपनी-अपनी रचनाओ मे उल्लेख किया है—

सूर

'ता दिन ते हरिलीला गाई एक लक्ष पद बन्द ।'[2]

नरसी

'लक्ष सेवा तणा नाम किरतन करो, नरसहींयाने मन लाग्युं मीठुं'[3]

सूर एव नरसी दोनो कवियो के काव्य का मुख्य प्रतिपाद्य कृष्णलीला-गान रहा है। सूर के 'सूरसागर', 'साहित्यलहरी' और 'सूरसारावली' ग्रन्थो का विषय वस्तुत 'कृष्णलीला' गान ही है। 'सूरसागर' भागवतानुरूप द्वादश स्कन्धात्मक ग्रन्थ होने पर भी कृष्णलीला-परक दशम-स्कन्ध ही इसमे प्रमुख है। 'सूरसागर' के ४९३६ पदो मे से ४३०९ पद केवल दशमस्कन्ध के ही हैं ।[4]

नरसी के सम्पूर्ण कृतित्व पर विचार करे तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि सूर की भाँति उनके काव्य का मुख्य विषय कृष्णलीला-गान ही रहा है। सूर की तरह कृष्ण की मधुरलीला के समस्त भाव नरसी के पदो मे अपनी चरमावस्था तक पहुँचे हैं।

सूर की अपेक्षा नरसी के सम्बन्ध मे इतना अवश्य अधिक कहा जा सकता है कि उन्होने स्वजीवन से सम्बद्ध कई आत्मपरक काव्यो का प्रणयन किया है, जिसका सूर-साहित्य मे सर्वथा अभाव है। जैसा कि नाम से ही प्रतीत होता है, नरसी ने इन काव्यो मे स्वजीवन मे सम्बद्ध घटनाओ का काव्य शैली मे वर्णन किया है, किन्तु इन काव्यो का मुख्य प्रयोजन तो मात्र भगवद् यश-वर्णन ही है। इनमे कवि ने अपने जीवन के विषमक्षणो मे भगवान् कृष्ण द्वारा सहायता मिलने पर जिस प्रकार की परमशान्ति की अनुभूति प्राप्त की, उसका ही प्रमुख रूप से चित्रण किया है। आत्मपरक काव्यो के अतिरिक्त नरसी की रचनाओ मे जो कुछ शेष रहता है, वह कृष्ण-लीला से ही सम्बद्ध है।

'सूरसागर' मे कृष्ण-लीला-गान भागवतानुक्रमेण किया गया है, किन्तु नरसी का कृष्णलीला विषयक जो पद-साहित्य आज तक उपलब्ध हो सका है, वह प्राय स्फुट रूप मे ही।

---

१. (अ) "सो तब सूरदास जी मन मे विचारे, जो मैं तो मन मे सवालाख कीर्तन प्रकट करिवे को संकल्प कियो है। सो तामे तैं लाख कीर्तन तो प्रकट भये है सो भगवत् इच्छा ते पच्चीस हजार कीर्तन और प्रकट करने हैं।" सूरदासजी की वार्ता, प्रसंग १०, पृ० ५५। (अग्रवाल प्रेस, मथुरा)

(आ) "एनी कविताना सग्रह माटे एम कहेवाय छे के मघला मली ने एणे सवालाख पदो कीधा जेमाना एक लाख पदो कीधा पछी, एनु मृत्यु आव्यु एनो जीवात्मा २५ हजार पदो पूरा करवामा धुंटायो त्यारे एना दीकरा शामलदासनी वखियाणीए कह्यु के बाकी रहेला पदो हु तमारे नामे पूरा करीश।" न. म. का. स पृ ४८। २ सूरसारावली, ११०३ पद। ३ न म. का सं, पृ. ७७।

४. सूरसागर (सभा)।

सूर को भगवल्लीलागान की प्रेरणा आचार्य वल्लभ द्वारा प्राप्त हुई थी। आचार्य वल्लभ ने ही शुष्क मानापमानाग्रस्त सूर को लीलामें सुनाकर स्थिरता प्रदान की थी। इस सम्बन्ध में सूर ने स्वयं इस प्रकार लिखा है —

कर्मयोग पुनि ज्ञान उपासन सब ही भ्रम भरमायो।
श्रीवल्लभ गुरुतत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो॥

जैसा कि नरसी ने स्वयं कहा है उनको भगवल्लीलागान की प्रेरणा एवं भगवल्लीलागान का आदेश भगवान् कृष्ण के द्वारा ही प्राप्त हुआ था। नरसी की अनन्य भक्ति से प्रसन्न होकर भगवान् स्वयं उन्हें अपनी गुप्तलीलाओं के गान का इस प्रकार आदेश देते हैं—

धन्य तु धन्य एम कहे श्री हरी, धन्य तु नरसैंया भक्त मारो।
* * *
जे रस गुप्त ब्रह्मादिक न व लहे, प्रगट गाज तु हु ते वचन दीधु।[1]

इस प्रकार सूर एवं नरसी दोनों के भक्ति-काव्य का मूलाधार एवं प्रतिपाद्य समान हो रहे हैं। यहाँ नरसी की अपेक्षा सूर के विषय में इतना अवश्य अधिक कहा जा सकता है कि कृष्ण-लीला सम्बन्धी जो प्रचुर पद-साहित्य उन्होंने निर्मित किया है वह परिमाण की दृष्टि से तो नरसी की अपेक्षा कई गुना अधिक है ही किन्तु काव्यत्व की दृष्टि से भी वह किसी अंश में उत्कृष्ट है। कृष्ण लीला-परक भावों के वर्णन में जो सूक्ष्मता एवं व्यापकता सूर में उपलब्ध होती है वह नरसी में नहीं।

१ न म का म, पृ ७८।

तृतीय अध्याय

(क) सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि

(ख) नरसी-साहित्य की पृष्ठभूमि

(ग) तुलना

तृतीय अध्याय
सूर एवं नरसी के साहित्य की पृष्ठभूमि

गत अध्यायो मे सूर एव नरसी के जीवन एव कृतित्व पर प्रकाश डाला गया है। अपने-अपने क्षेत्र के ये इतने प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे कि जब तक इनकी पूर्व एव सामयिक प्रवृत्तियो का अध्ययन न कर लिया जाए तब तक इनके विवेच्य-विषय का पूर्णत. स्पष्ट होना सम्भव नही। इनके काव्य-वैभव से परिचय प्राप्त करना वास्तव मे मध्ययुग की समस्त सास्कृतिक धाराओ का अवगाहन करना है। जिन सांस्कृतिक प्रवाहो ने इनके काव्य-निर्माण मे योग प्रदान किया है, उन पर यहाँ विचार किया जा रहा है।

(क) सूर-साहित्य की पृष्ठभूमि

राजनीतिक परिस्थिति

सूर के लगभग सौ वर्ष के जीवन-काल मे दिल्ली साम्राज्य मे अनेक परिवर्तन हुए। इस काल मे दिल्ली पर एक-एक करके लोदी, सूरी, और मुगलवशीय बादशाहो का अधिकार रहा। इस समय व्रजप्रदेश पर भी दिल्ली का ही शासन चलता था। 'केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' के अनुसार इन बादशाहो का राज्यकाल निम्नानुसार है[1] —

१. बहलोल लोदी	सन्	१४५१	से	१४८९	तक
२. सिकन्दर लोदी	सन्	१४८९	से	१५१७	तक
३. इब्राहिम लोदी	सन्	१५१७	से	१५२६	तक
४. बाबर	सन्	१५२६	से	१५३०	तक
५ हुमायूँ	सन्	१५३०	से	१५४०	तक
६ शेरशाह सूरी	सन्	१५४०	से	१५४५	तक
७ इसलाम शाह	सन्	१५४५	से	१५५४	तक
८. मुहम्मद आदिल शाह तथा					
९. सिकन्दर शाह	सन्	१५५४	से	१५५५	तक
१०. हुमायूँ (दुबारा)	सन्	१५५५	से	१५५६	तक
११. अकबर	सन्	१५५६	से	१६०५	तक

१. (अ) Cambridge History of India, Vol. III, by Lt Colonal Sir Wolseley. 1958 S Chand & Co

(आ) Cambridge History of India, Vol. IV, by Sir Richard Burn, S. Chand & Co.

सूर से पूर्व मुसलमान शासकों का प्रजा के प्रति व्यवहार कैसा था। तब मुसलमान बादशाहों के शासन में गया और बादशाहों द्वारा शासित हिन्दू दुःखी थे। भारत के इतिहासकारों के अनुसार से यह ज्ञात होता है कि अकबर से पूर्व खिलजी (सन् १२९० १३२०) तुगलक (सन् १३२० १४१४) सैयद (सन् १४१४ १४५१), लोदी (सन् १४५१ १५२६) और मुगलवंश के कुछ बादशाहों के शासित शासन सभी की राजनीति क्रूर धर्मान्ध तथा अत्याचार-पूर्ण थी। खिलजी से पूर्व गुलाम वंश (सन् १२०६ १२९०) के समय की शासन व्यवस्था भी इसी प्रकार अत्याचारपूर्ण एवं कठोर था। इतिहासकारों ने गुलामवंश से (सन् १२०६ १५२६) हिन्दू प्रजा की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थिति का वर्णन किया है। हिस्ट्री आफ मिडिवियल इण्डिया में इस समय की हिन्दू प्रजा की दयनीय स्थिति का वर्णन करते हुए लिखा है[1] कि इस्लाम का प्रसार भारत में उसके सरल सिद्धान्तों के कारण नहीं वरन् इसलिए हुआ कि यह एक राजनीति का धर्म था जिसका प्रसार विजित प्रजा में बलात् तलवार और दण्ड के आधार पर किया जाता था। राजसभा में उच्चपद प्राप्त करने के लोभ से लोग इस्लाम को स्वीकार कर लेते थे। धार्मिक एवं राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से हिन्दू सताये जा रहे थे। मूर्तियों को तोड़ना, सब प्रकार के विरुद्ध विश्वासों का हनन और काफिरों को इस्लाम में दीक्षित करना धार्मिक कार्य माने। इस्लाम राज्य के कर्तव्य समझे जाते थे। राज्य की ओर से गैर मुस्लिम प्रजा पर बड़े प्रतिबन्ध थे। उन पर एक प्रकार का विशेष कर 'जजिया' देना पड़ता था। राज्य के उच्च पद मुसलमानों के लिए सुरक्षित थे। हिन्दू निर्धनता, दीनता और कठिनाई का जीवन व्यतीत करते थे।

इस समय बादशाहों में फिरोज तुगलक (सन् १३५१ १३८८) तथा शेरशाह सूरी जैसे उदारमना बादशाह भी हुए जिनके अनुचित कर माफ उठा लिये[2] और हिन्दू-मुसलमान सब के साथ पक्षपात रहित व्यवहार करने से समस्त प्रजा लाभान्वित हुई।[3] शेरशाह के पश्चात् शक्तिहीन बादशाहों के कारण सूबे स्वतन्त्र होने लगे थे। इस राजकीय शक्तिहीनता के कारण भारत में धार्मिक आन्दोलनों को उचित अवसर प्राप्त हुआ। शेरशाह सूरी और इसी वंश के इतर शासकों के समय में कई धार्मिक सम्प्रदाय प्रवर्तन वेग से उठ खड़े हुए।

महाकवि सूर का अधिकांश जीवन अकबर के शासन से पूर्व ही व्यतीत हुआ। अकबर के सुव्यवस्थित शासन में उनके पिछले कुछ ही वर्ष बीते थे। बाबर के (सन् १५२६) शासन के साथ ही देश में एक सभ्य प्रशासन-व्यवस्था की नींव पड़ी। इसके पश्चात् हुमायूँ और सूरवंश का शासन-काल इस दृष्टि से अच्छा कहा जा सकता है किन्तु शासन की दृष्टि से सर्वोत्तम काल अकबर (सन् १५५६) से ही प्रारम्भ होता है। उसने विश्वव्यापी धर्मान्धता के युग में भी असाम्प्रदायिक राष्ट्रनीति अपनाकर हिन्दुओं पर पूर्व मुस्लिम शासकों से चले आते 'जजिया' कर को हटा दिया। उसने पिछले बादशाहों की कठोर दमनपूर्ण क्रूर नीति का त्याग कर समस्त प्रजा के साथ समदृष्टि से व्यवहार करना प्रारम्भ किया। वह सत्य का उपासक था और सभी

---

१ हिस्ट्री आफ मिडिवियल इण्डिया, डा० ईश्वरीप्रसाद, पृ० ४६५ से ४७१ तक।
२ भारतवर्ष का इतिहास', रामकृष्ण माथुर, पृ० २२६।
३ भारतवर्ष का इतिहास, रामकृष्ण माथुर पृ० ३५८।

धर्मो को पूज्य दृष्टि से देखता था। उसने अपने समय मे प्रचलित समस्त धार्मिक भावनाओ का समन्वय करने का यत्न किया। कट्टर मुसलमान तथा मुल्लो ने उसे इस्लाम से च्युत होने का फतवा दे दिया था, पर फिर भी वह अपने सिद्धान्त पर अटल रहा। उसने अपनी धार्मिक उदार भावनाओ को मूर्त रूप देने के लिए 'दीने इलाही' धर्म चलाया। फतेहपुर सीकरी मे उसने एक इबादतखाना बनवाया था, जहाँ सभी धर्म के लोग जा सकते थे। वह हिन्दुओ के धार्मिक आचार्यो तथा महात्माओ का सम्मान ही नही किन्तु उनकी आर्थिक सहायता भी करता था। सूर से अकबर की भेट का उल्लेख पहले किया जा चुका है। अकबर ने व्रजभूमि मे गोहत्या तक बन्द करवा दी थी। गो० विट्ठलनाथजी के नाम पर उसने कई फरमान जारी किये थे, जिनमे उनको कई प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करने का उल्लेख किया गया था।

तात्पर्य यह है कि सूर के समय की देश की राजनीतिक परिस्थिति कुछ को छोडकर अन्य सभी बादशाहो के समय मे पक्षपातपूर्ण थी। ऐसे अराजकता के समय मे हिन्दू जनता का जीवन अपेक्षाकृत असन्तुष्ट ही रहा।

सामाजिक परिस्थिति

यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि सुल्तानो के शासनकाल मे हिन्दुओ को मुसलमानो से धार्मिक, राजनीतिक आदि अधिकार अल्प मात्रा मे उपलब्ध थे। हिन्दू प्रजा की स्थिति बडी दयनीय थी। वह अपने सामाजिक स्वत्वो का उपयोग पूर्णत नही कर सकती थी। पर्याप्त श्रम करने पर भी गरीब अपनी उदरपूर्ति नही कर पाते थे। सम्भ्रान्त जन आभूषण आदि से सुसज्ज होकर अभिमानपूर्वक अपना ऐश्वर्य प्रदर्शन करते थे। हिन्दू वर्णव्यवस्था शिथिल दशा मे थी। ब्राह्मण दुर्गुण-ग्रस्त थे और क्षत्रियो मे भेदवृत्ति ने घर कर लिया था। वे अपने सकुचित माना-पमान के प्रश्नो पर आये दिन झगडा करते थे। स्पृश्यास्पृश्य के विचार समाज मे प्रबल मात्रा मे विद्यमान थे। मोची, जुलाहे आदि अस्पृश्य समझे जाते थे। उनके घर गावो से बाहर हुआ करते थे। चाण्डालो की दशा इनसे भी अधिक घृणित थी। हिन्दू अपने पवित्र त्यौहार स्वतन्त्रता एव निर्भयतापूर्वक नही मना सकते थे। उस समय की सामाजिक प्रवृत्तियो का वास्तविक चित्रण अमीर खुसरो की रचनाओ मे मिलता है। हिन्दू जनता मे सगठन और शिक्षा का अभाव था। राज्य की ओर से मुसलमानो के 'मकतबो' को तो पर्याप्त सहायता प्रदान की जाती थी, किन्तु हिन्दू पाठशालाओ के लिए ऐसा कोई प्रबन्ध नही था।

मुगलकाल मे मुख्यत अकबर के समय मे हिन्दू और मुसलमान जातियो के बीच की खाई को पाटने का प्रयास किया गया। बादशाह अकबर ने दोनो जातियो के अधिकार समान कर दिये। मुसलमानो की तरह हिन्दुओ को भी राज्य के उच्चपदो पर नियुक्त किया जाने लगा। अनुचित करो के हट जाने से देश के वातावरण मे एक नवीन स्फूर्ति सचरित होने लगी। प्रजा की आर्थिक स्थिति भी कुछ अश मे सुधरी और फलत विलास की सामग्री बढी। मद्य, अफीम जैसी मादक वस्तुओ का सेवन बढ गया। तात्पर्य यह कि सुल्तानो के राज्यकाल की अपेक्षा मुगल-काल मे हिन्दू-समाज अधिक राहत का अनुभव कर रहा था।

सन्तो एव भक्त कवियो की रचनाओ के अनुशीलन स भी उस समय के सामाजिक वाता वरण का अनुमान किया जा सकता है। कबीर न हिन्दू और मुसलमान दोनो का पथ भ्रष्ट बताया है—अरे इन दोउन राह न पाई[१]

गोस्वामी तुलसीदासजी के काव्यो म उस समय के कुत्सित दुव्यवस्थापूण एव घणित सामाजिक चित्रो का दश्य अकित हुआ है। 'रामचरितमानस' के उत्तरकाण्ड म गो० तुलसीदासजी ने उस समय के समाज का चित्रण किया है जिसम तत्कालीन हिन्दू समाज का ही चित्र अकित है। वहा कागभुशुडी गरुड को कलियुग के वातावरण का ज्ञान इस प्रकार करवाते है[१]—

बरन धम नहिं आश्रम चारी, स्रुति बिरोध सब नरनारी ॥१॥
द्विज स्रुतिवचक भूप प्रजासन, कोउ नहि मान निगम अनुसासन ॥२॥
मारग सोइ जाकहँ जो भावा, पडित सोइ जो गाल बजावा ॥३॥
मिथ्यारभ दभरत जोइ ताकहँ सत कहै सब कोइ ॥४॥
सोइ सयान जो परधन हारी, जो कर दभ सो बड आचारी ॥५॥
जो कह झूठ मसखरी जाना, कलियुग सोइ गुनवत बखाना ॥६॥
निराचार जो स्रुतिपथ त्यागी, कलियुग सोइ ज्ञानी बरागी ॥७॥
जाके नख अरु जटा बिसाला, सोइ तापस प्रसिद्ध कलिकाला ॥८॥

* * *

असुभ वेष भूषन धरे भच्छाभच्छ जे खाहि।
ते जोगी ते सिद्ध नर, पूजित कलियुग माहि ॥१४१॥
ब्रह्मज्ञान बिन नारिनर कहहि न दूसरि बात।
कौडिउ कारन मोहबस करहि विप्र गुरुघात ॥१४२॥
बाद सूद्र कर द्विजन्ह सन, हम तुम त कछु घाटि।
जान ब्रह्म सो विप्रवर आखि दिखावहि डाटि ॥१४३॥

* * *

जे वर्णाधम तेलिकुम्हारा स्वपच किरात कोल कलवारा ॥५॥
नारि मुई गहसम्पति नासी मुड मुडाइ भये सयासी ॥६॥
ते विप्रनसन पाव पुजावहि उभयलोक निज हाथ नसावहि ॥७॥

वल्लभाचाय सद्धान्तिक रूप से शुद्धादवतवाद के प्रतिष्ठापक थ किन्तु उनके द्वारा अपने मत का जो व्यावहारिक रूप पुष्टि सम्प्रदाय मे प्रस्तुत किया गया वह तत्कालीन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियो का ही परिणाम कहा जा सकता है। पुष्टि सम्प्रदाय का उद्देश्य एक ओर जहा भक्त की वासना का परिष्कार करके उसे कृष्ण म लगाना ह वहा दूसरी ओर भौतिक वभव के समस्त उपकरणो को कृष्णार्पित करवा कर मानव के ऐद्रिक स्वाथ का मगलीकरण करना भी। वल्लभाचाय ने कृष्णाश्रय ग्रन्थ म देश की वतमान परिस्थिति का वणन करते

१ 'रामचरितमानस', निर्णयसागर, बबई, ८वीं आवृत्ति, पृ ६२० ६२२। २ मू, मा ह पृ ७५ ७६।

हुए लिखा है, "देश म्लेच्छो से आक्रान्त है, यह पापस्थान बन गया है। सत्पुरुष पीडित किये जा रहे है। समस्त लोक इससे पीडित है। ऐसी स्थिति मे भगवान् कृष्ण ही मेरे रक्षक है। गंगा आदि उत्तम तीर्थ भी दुष्टो से आवृत है। आधिदैविक तीर्थो का महत्त्व भी लुप्त हो गया है। ऐसे समय मे कृष्ण ही मेरी गति है। अशिक्षा और अज्ञान के कारण वैदिक तथा अन्य मन्त्र नष्ट हो रहे है, ब्रह्मचर्यादि व्रत से लोग भ्रष्ट हो रहे है। ऐसे लोगो से सेव्य वेदमंत्र भी प्रभावरहित हो गये हैं। ऐसी दशा मे केवल कृष्ण ही मेरी गति है।[1]

धार्मिक दशा

सूर के साहित्य का अध्ययन करने के लिए उस समय की धार्मिक पृष्ठभूमि का ज्ञान भी अपेक्षित है। उनकी भक्ति के समन्वित रूप मे अनेक प्रभावो के दर्शन प्राप्त किये जा सकते है।

इस्लामी बादशाहो की क्रूर शासन-प्रणाली से यह विदित होता है कि वे अपना शासन तलवार की धार और मुल्लाओं के धार्मिक फरमानो के अनुसार ही चलाते थे। उनका ध्येय एक ओर जहाँ 'येन केन प्रकारेण' राज्य-विस्तार का था वहाँ दूसरी ओर बलपूर्वक इस्लाम के प्रसार का भी। इस्लाम के प्रचारको को राज्य की ओर से अनेक सुविधाएँ प्रदान की जाती थी। राजनीतिक पारतन्त्र्य के इस विकट काल मे छिन्न-विच्छिन्न हिन्दू समाज ने भी अपनी सस्कृति तथा धर्म के रक्षार्थ गुप्तरूप से आन्दोलन प्रारम्भ किये। इस तरह सुलतानो के समय मे देश मे एक ओर जहाँ इस्लाम का प्रचार तीव्र गति से बढ रहा था वहाँ दूसरी ओर हिन्दू धर्म के अन्तर्गत भी कई प्रकार के धार्मिक आन्दोलन चल रहे थे।

देश मे मुसलमान एव भारतीय धर्मो के मतभेद को दूर करने के लिए सूर से पहले सूफी फकीर और सन्त पर्याप्त प्रयत्न कर चुके थे। सूफी धर्म भारत मे आकर यहाँ के वेदान्त के दार्शनिक विचार तथा आचार-विचारो को लेकर फैला। सन्त मत भी रामानन्द जैसे महात्माओ के प्रभाव से कबीर आदि अनेक पन्थो मे चला। सूफी और सन्त मतो ने वेद, उपनिषद् एव स्मृति-ग्रन्थो की अवहेलना के साथ-साथ 'कुरान की शरीयत' के प्रति भी अपनी उपेक्षा प्रकट की। भारतीय धार्मिक आन्दोलन के पीछे मात्र इस्लाम-धर्म-प्रचार की प्रतिक्रिया ही नही, किन्तु वह बौद्ध, जैन, मायावाद, शून्यवाद, शैव, शाक्त, वैष्णव आदि विभिन्न रूपो मे एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता के रूप मे भी प्रसृत हो रहा था। ऐसी स्थिति मे सूर के समय मे उक्त सभी धार्मिक मतो मे से भक्ति-आन्दोलन ने पर्याप्त प्रभाव जमा लिया था।

बौद्ध-धर्म के उन्मूलन के बाद शकराचार्य के अद्वैतवाद, सन्यास, ज्ञान एव योग का देश के समस्त धार्मिक क्षेत्रो मे इतना व्यापक प्रचार बढा कि धर्म ने लोकधर्म का रूप छोडकर वैयक्तिक साधना का रूप अपना लिया। अधिकारी साधको के अनुकरण पर सामान्यजन भी 'अहं ब्रह्मास्मि' कहते हुए तत्त्वज्ञ होने का दम्भ करने लगे। श्रुति-पथ का त्याग करके लोग स्वय को

---

१ म्लेच्छाक्रान्तेषु देशेषु पापैक निलयेषु च। सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥२॥
गंगादितीर्थवर्येषु दुष्टैरेवावृतेष्विह। तिरोहिताधि दैवेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥३॥
अपरिज्ञान नष्टेषु मन्त्रेष्वव्रतयोगिषु। तिरोहितार्थवेदेषु कृष्ण एव गतिर्मम ॥५॥
—आचार्य वल्लभकृत षोडश ग्रन्थान्तर्गत 'कृष्णाश्रय'

ब्रह्मज्ञानी कहते थे और ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त कोई बात ही मुह से नहीं निकालते थे। यह किसी अंश में शंकर के अद्वैत का ही परिणाम था। वृंदावनदास और कृष्णदास ने कई स्थानों पर उल्लेख किया है कि चैतन्य के भक्ति प्रचार में कर्मकाण्डी ब्राह्मणों और शंकर सिद्धान्त के अनुयायी मायावादी (अद्वैतवादी) संन्यासियों ने सर्वाधिक अन्तराय खड़े किये थे।[1]

इससे यह विदित होता है कि उस समय ब्रह्मज्ञान का प्रसार तो प्रचुर रूप में हो चुका था पर इसके तत्वतः अधिकारियों की संख्या स्वल्प थी। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

परत्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने।
तेइ अभेदबादी ज्ञानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर॥[2]

तात्पर्य यह कि सूर के भी बहुत पहले से चला आता अद्वैतवादी ब्रह्मज्ञान उस समय तक अतीव विकृत हो गया था। जनता उसके बहाने अनेक दूषित कार्यों में प्रवृत्त थी। फलतः समाज में दम्भ और अकर्मण्यता का पर्याप्त प्रसार दीख पड़ता था। मशाधवो का कहना है कि मुसलमान काल में पहले तक तो उक्त पंथों में मनुष्य तत्वतः गम्भीर शास्त्रीय चिन्तन में लगे रहे किन्तु मुसलमानी शासन के समय स्वतन्त्र बुद्धि के कुण्ठित होने तथा दार्शनिक तथ्यों का समझने की वृद्धि के अभाव में तत्वप्रधान बौद्धिक धर्मों का प्रचलन दुष्कर हो गया।[3] फलतः मुसलमान काल में कई ऐसे पाखंड पंथ चल पड़े थे, जिनको वेद शास्त्रों का कुछ भी ज्ञान न था।

वैष्णव भक्ति आन्दोलन और उत्तर भारत

भारत के प्राचीन ऐतिहासिक ग्रंथों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि ई. सन ४०० से ५५० तक के गुप्तवंश के शासकों ने उत्तर भारत में भागवत धर्म एवं वैष्णव भक्ति का प्रचुर रूप में प्रचार किया किन्तु गुप्त साम्राज्य के पतन के पश्चात् इस भूभाग में शैव और बौद्ध धर्म की शक्ति बढ़ गई। हर्षवर्धन जैसे प्रतापी सम्राटों के युग में भी भागवतधर्म के प्रति पर्याप्त उपेक्षा बताई गई थी। फलतः यह धर्म उत्तरी भारत में उस समय दब गया किन्तु दक्षिण भारत में इसका प्रसार अपनी निश्चित गति से बढ़ता ही गया। वहां आलवार भक्तों के गीतों के रूप में यह अपनी विशेष प्रभा से प्रकाशित होने लगा। आलवार भक्तों के गीत तमिल में लिखे गये थे, जिनकी संख्या चार हजार तक बताई जाती है। इन भक्तों के सिद्धान्त ही प्रायः परवर्ती विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों की मूल भित्ति है।

आलवार भक्त विष्णु के उपासक थे। उनका दृढ़ विश्वास था कि भक्ति एवं प्रपत्ति के द्वारा ही विष्णु की प्राप्ति होती है। विष्णु की कृपा उनके प्रति अनन्य प्रेम और आत्म समर्पण से ही प्राप्त होती है। वात्सल्य दास्य एवं कान्ताभाव से वे रामकृष्णादि विष्णु के अवतारों की भक्ति करते थे।

आलवारों से प्रेरणा प्राप्त कर दक्षिण के आचार्यों द्वारा वही पुरातन भागवत धर्म शंकराचार्य द्वारा बौद्ध धर्म के उन्मूलन के पश्चात् पुनः उत्तर भारत में विद्युत गति से व्याप्त हो गया। आचार्यों ने आलवारों से प्रेरणा रूप में जो कुछ ग्रहण किया उसका प्रतिपादन उन्होंने बड़े

---

[1] १६वीं शती में हिन्दी और बंगाली वैष्णव कवि, पृ० ८, डा० रत्नकुमारी।
[2] रामचरित मानस, उत्तरकांड, दोहा, पृ० ५४३। [3] भ० व० गु०, पृ० ३/।

उपनिषद्, तथा ब्रह्मसूत्रो के प्रमाणो के आधार पर किया था। उन्होने अपने वैष्णव धर्म मे कर्म और ज्ञान का भी समावेश कर दिया। इन आचार्यो मे नाथमुनि, पुण्डरीकाक्ष, यामुनाचार्य, रामानुजाचार्य आदि मुख्य है। रामानुजाचार्य ने उत्तर भारत मे आकर वैष्णव-भक्ति का पुनरुद्धार किया। ई सन् की १५वी तथा १६वी शती मे उत्तर भारत मे वैष्णव-भक्ति का प्रसार प्रवल वेग से हो गया था, किन्तु इससे भी पूर्व ई सन् की १२वी से १५वी शती तक रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य आदि के प्रयत्नो से यह उत्तर भारत मे किसी न किसी रूप मे वृद्धि प्राप्त कर ही रहा था।

व्रज एवं भागवत धर्म

ई सन् की प्रथम शती मे व्रज मण्डल पर बौद्धधर्मावलम्वी कुशानवशी राजाओ का शासन था। अत. इस समय इस प्रदेश पर भागवत धर्म की प्रवलता नही कही जा सकती। इसके पश्चात् ई. सन् ४०० से ५५० तक गुप्तकाल मे इसने थोडी शक्ति सचित की ही थी कि गुप्त साम्राज्य के पतन के साथ ही साथ यह भी जीर्ण दशा को प्राप्त हो गया। इस समय व्रज पर बौद्धधर्म का प्रावल्य था। उत्तर-भारत मे 'शैवधर्म' तथा 'शैवोपासना' का प्रचार था। इसके पश्चात् दक्षिण भारत से आये मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी तथा निम्बार्काचार्य जैसे विष्णु के अवतार के उपासको ने व्रज मे बौद्ध और शैव धर्म के स्थान पर भागवत धर्म का प्रचार किया। १५वी तथा १६वी शताव्दी मे उक्त आचार्यो की भक्ति-पद्धति के प्रचलन के साथ-साथ व्रज मे अन्य भी कई सम्प्रदाय उठ खडे हुए।

भक्ति का प्रवाह उत्तर भारत मे दक्षिण की ओर से ही प्रवाहित हुआ है। 'भागवत-माहात्म्य' मे इस तथ्य का उल्लेख इस प्रकार उपलब्ध होता है[1]—

उत्पन्ना द्रविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ॥४८॥
तत्र घोरकलेर्योगात् पाखण्डैः खण्डितागका।
दुर्वलाहं चिरं याता पुत्राभ्यां सह मन्दताम् ॥४९॥
वृन्दावनं पुनः प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
जाताहं युवती सम्यक्श्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम् ॥५०॥

व्रज मे अपने ज्ञान एव वैराग्य नामक दोनो मुमूर्षु पुत्रो के पास बैठी हुई युवती भक्ति नारदजी से आपवीती कह रही है—"मै द्रविड प्रदेश मे उत्पन्न हुई, कर्णाटक मे वढी, महाराष्ट्र मे कही-कही सम्मानित हुई, किन्तु गुजरात मे पहुँचकर वृद्धा हो गई। वहाँ घोर कलिकाल के प्रभाव से पाखण्डियो ने मेरा अग-भग कर दिया। चिरकाल तक मेरी ऐसी ही स्थिति रही, जिससे मै निस्तेज हो गई। किन्तु जव से मै व्रज मे आई हूँ तव से पुन अतीव सुन्दरी युवती हो गई हूँ।"

द्रविड देश का अर्थ, जैसा कि सभी आज तक मानते चले आ रहे है, दक्षिण-भारत होता है। किन्तु डा सत्येन्द्र द्रविड देश का अर्थ मोहन-जो-दा-डो और हडप्पा के द्रविडो से लगाते है।[2] 'भक्ति द्राविड ऊपजी लाये रामानन्द' इस लोकोक्ति का अर्थ स्पष्ट करते हुए आप लिखते

---

१ श्रीमद्भागवतमाहात्म्य, पृ ५, गोरखपुर स० १९९७, प्रथम सस्करण।
२. 'सूर की झाँकी', पृ० ११, डा सत्येन्द्र।

हैं— नयी प्राग ऐतिहासिक शाधा से यह सिद्ध होता है कि भक्ति का मूल द्रविडा म है और दक्षिण के द्रविडा म नही उनके महान पूवज मोहन जा-दा डो और हडप्पा के द्रविडा म।"

लगता ह यह प्रश्न अब भी विशेष सशोधन की अपेक्षा रखता है। अद्यावधि भक्ति-परम्परा के सभी अध्येता दक्षिण भारत क तमिल आदि प्रदेशो को ही द्रविड प्रदेश मानते चल आ रहे ह।

दक्षिण से उत्तर भारत की ओर आकर जिन आचार्यो न भागवतधम (वष्णवधम) का पुनरुत्थान किया, उनके सम्प्रदाय निम्नानुसार हैं—

१ श्री रामानुजाचाय	विशिष्टाद्वतवाद	श्री सम्प्रदाय
२ श्री विष्णुस्वामी	शुद्धाद्वतवाद	रुद्र सम्प्रदाय
३ श्री निम्बार्काचाय	द्वताद्वतवाद	निम्बाक सम्प्रदाय
४ श्री मध्वाचाय	द्वतवाद	माध्व सम्प्रदाय

इन सम्प्रदाया से प्रभावित एव प्रेरित होकर ई सन की १४वी स १६वी शती तक के दो सौ वर्षों म जो सम्प्रदाय अस्तित्व म आये वे इस प्रकार है—

१ श्री रामानन्द	रामानन्दी सम्प्रदाय	(विशिष्टाद्वतवाद)
२ श्री चतन्य महाप्रभु	चतन्य सम्प्रदाय	(गौडीय सम्प्रदाय)
३ श्री वल्लभाचाय	पुष्टिमाग	(शुद्धाद्वतवाद)
४ श्री राधावल्लभीय सम्प्रदाय		गो हितहरिवश
५ श्री हरिदासी सम्प्रदाय		

उक्त सम्प्रदाया म स प्रथम का छोडकर शष चार सम्प्रदाय सूर के समय व्रज म विद्यमान थ। सूर-साहित्य के पूण अध्ययन के लिए उपयुक्त सभी सम्प्रदाया का विस्तत अनुशीलन आवश्यक समझा जाता है। रामानुजाचाय के विशिष्टाद्वत स लकर राधावल्लभीय सम्प्रदाय तक के वष्णव सम्प्रदाया के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि इन सम्प्रदाया म अनुक्रमण भक्ति एव प्रपत्ति का भाव बढता ही चला गया है और भक्ति में रागात्मिका वत्ति का अधिकाधिक बल प्राप्त होता गया है। उपयुक्त सम्प्रदाया एव आचार्यों म स हमार विवेच्य कवि की भक्ति का सम्बध विष्णुस्वामी एव वल्लभाचायजी क साथ हो रहा है। अत यहाँ दोना का परिचय प्रस्तुत किया जाता है।

विष्णुस्वामी

वल्लभाचाय क साम्प्रदायिक ग्रथो क आधार पर यह कहा जाता है कि विष्णुस्वामी की परम्परा म ही वल्लभाचाय हुए थ। वल्लभाचाय और विष्णुस्वामी दोनो क दार्शनिक विचार समान थ।[१] इनके सम्प्रदाय का नाम शुद्धाद्वत था जिस रुद्र सम्प्रदाय भी कहत हैं। महाराष्ट्र क वारकरी सम्प्रदाय क सन्त ज्ञानेश्वर विष्णुस्वामी क सम्प्रदाय स ही सम्बद्ध थ। नाभादास

१ Vaishnavism and Shaivism R G B P 110

२ अ व गु, पृ० ४२।

जी के निम्न छप्पय से भी विष्णुस्वामी के सम्बन्ध मे पर्याप्त ऐतिहासिक तथ्यो की उपलब्धि होती है—

नाम तिलोचन शिष्य, सूरससि सदृश उजागर ।
गिरा गंग उनहारि काव्य रचना प्रेमाकर ॥
आचारज हरिदास अतुल बल आनँद दाइन ।
तिहि मारग वल्लभ विदित पृथु पधित पराइन ॥
नवधा प्रधान सेवा सुहृद मनवचक्रम हरिचरण रति ।
विष्णुस्वामि सम्प्रदाय दृढ ज्ञानदेव गम्भीर यति ॥
(छप्पय ४८)

वल्लभाचार्य ने इसी मार्ग का अनुसरण करके अपना शुद्धाद्वैत-मूलक पुष्टिमार्ग प्रशस्त किया ।

वल्लभाचार्य

'वल्लभदिग्विजय' मे इनका जीवन-वृत्त दिया हुआ है । १० वर्ष की अल्पायु मे ही इन्होने वेद, वेदाग, दर्शन, पुराणादि का अध्ययन कर लिया था । इन्होने अपने मत शुद्धाद्वैत के प्रचारार्थ तीन यात्राएँ की थी । इनके मत का साधना-पक्ष, आचरण-पक्ष अथवा शरणमार्ग पुष्टि सम्प्रदाय कहलाता है । इनकी भक्ति-पद्धति मे प्रपत्ति को विशेष महत्त्व दिया गया है । कृष्ण की लीलाओ का इनके सम्प्रदाय मे बडा महत्त्व है । भगवान श्रीकृष्ण राधिका के साथ गोलोक मे नित्य लीला-विहार करते है । मानव-जीवन की कृतार्थता भगवान की लीलाओ मे भाग लेना अथवा लीलाओ का गान करना ही है ।

उत्तर-भारत मे निम्वार्क के पश्चात् राधा एव कृष्ण को आधार मानकर भक्ति का प्रचार करनेवाले वल्लभाचार्य और चैतन्य हुए । उत्तर-भारत के भक्ति-आन्दोलन को इन्हीसे विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई । वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तो का विशद विवेचन आगे दर्शन-सम्बन्धी चतुर्थ अध्याय मे किया गया है ।

साहित्यिक-परिस्थिति

इतिहासकारो ने सूर तक के हिन्दी-साहित्य के इतिहास को वीरगाथा-काव्य, सन्त-काव्य, प्रेमगाथा-काव्य, राम-काव्य और कृष्णभक्ति-काव्य के रूप मे पाच धाराओ मे विभक्त किया है ।

वीर-काव्य

वीरगाथा-काव्यो मे प्राय वीरो के पराक्रम और उनके यश का वीर तथा शृङ्गार रसो मे वर्णन मिलता है । इस धारा के दो प्रमुख काव्य है—नरपति नाल्ह विरचित 'वीसलदेव रासो' एव चन्द विरचित 'पृथ्वीराज रासो' । ये काव्यग्रन्थ प्राय दोहा, कवित्त, छप्पय तथा इतर मात्रिक गेय छन्दो मे विरचित है । सम्भव है, सूर इस काव्य-शैली से परिचित हो, क्योकि उन्होने कुछ स्थानो पर राजाओ की सेवा तथा उनके आश्रय की निन्दा की है ।

संत काव्य

संत-काव्यधारा का प्रारम्भ गुरु गोरखनाथ (वि० १३वीं शती के उत्तरार्ध) में माना जाता है। पीपा, सेना, रैदास, कबीर तथा महाराष्ट्र के नामदेव इस धारा के प्रमुख सन्त-कवि हैं। इन सन्तों में से प्रायः सभी ने अपने स्वतन्त्र धार्मिक पन्थों की नींव डाली थी। गुरु गोरखनाथ, कबीर और रैदास के पन्थ इनमें सर्वाधिक महत्त्व रखते हैं। सन्त-साहित्य की भाषा में पूर्वी अवधी, भोजपुरी, खड़ीबोली, ब्रज, पंजाबी आदि का मिश्रण मिलता है। सन्त-काव्य का प्रधान रस शान्त है। संसार की असारता, गुरु महिमा, वैराग्य, नाम महिमा, मन शुद्धि की प्रक्रिया, सदाचार-बोध, ज्ञान और योग के वैयक्तिक अनुभव तथा स्वानुभूतियों की अयातियों में अभिव्यक्तीकरण आदि इस काव्य के मुख्य वर्ण्य विषय कहे जा सकते हैं। सन्तों ने मुख्यतः साखी एवं पदशैली में ही अपनी काव्यधारा प्रवाहित की है।

सूर के कई पदों में नाथों के शून्यवाद और हठयोग एवं कबीर जैसे सन्तों के निर्गुण ब्रह्म की तथा उनके सिद्धान्तों की उपेक्षा की गई है। उनके उद्धव गोपी सम्वाद प्रसंग में हठयोग आदि की क्रियाओं के प्रति प्रदर्शित किये गये उपेक्षा के भाव स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं, जिनको लक्ष्य में रखकर देखा जाए तो संत और सूर दोनों के साहित्य में पर्याप्त समानता पाई जाती है। वैराग्य, संसार की निस्सारता, गुरु एवं उनकी महिमा आदि विषयों पर सूर ने भी अनेक पद लिखे हैं।[1] कबीर की उलटवासियों की अर्थगोपनीयता सूर के दृष्टिकूट शैली के पदों में उपलब्ध होती है, किन्तु वर्ण्य विषय की दृष्टि से दोनों में पर्याप्त अन्तर है। उक्त समान तत्त्वों के आधार पर यह अनुमान स्वाभाविक है कि सूर इस काव्यधारा से परिचित होने के साथ साथ स्वल्प अंश में इससे प्रभावित भी रहे हों।

सूर पर मराठी संतों का प्रभाव

आचार्य वल्लभ ने नामदेव के उपास्य देव विठोबा के समक्ष ही भक्ति की प्रेरणा प्राप्त की थी। सम्भव है उन्होंने वहां नामदेव के अभंग भी सुने हों। अतः सूर पर मराठी सन्तों का प्रभाव भी किसी अंश में माना जा सकता है।[2]

प्रेमगाथा-काव्य

सूफी प्रेमगाथा-काव्य की भाषा अवधी थी। दोहा चौपाई की प्रबन्ध शैली में यह साहित्य निर्मित हुआ है। सूर के काव्य में प्रेम विरहानुभूति की व्यंजना हुई है पर वह प्रेमगाथा-काव्य का प्रभाव नहीं किन्तु भागवत जैसे भक्ति ग्रन्थों का प्रभाव ही कहा जाएगा। सूर में दोहा चौपाई की छन्द शैली का प्रयोग मिलता है पर वह सूफी-काव्य का प्रभाव नहीं माना जा सकता है। क्योंकि इस काव्य की शैली का प्रचलन सूफी-काव्य से बहुत पहले जन-साहित्य में मिलता है।

राम-काव्यधारा

अष्टछाप के प्रथम चार कवियों से पूर्व रामकाव्य परम्परा में हिन्दी का कोई ग्रन्थ उपलब्ध

---

१ सूरसागर, प्रथम स्कंध। २ अ० व० गु० पृ० २८। ३ अ० व० गु०, पृ० २६।

नही होता है। अत सूर पर राम-काव्यधारा का प्रभाव मानना उचित नही। 'सूरसागर' के नवम-स्कन्ध मे जो रामकथा आती है वह भागवत के नवम-स्कन्ध पर ही आधारित है।

इनके अतिरिक्त विषय एव भाव की दृष्टि से सूर का काव्य श्रीमद्भागवत से सर्वाधिक रूप मे प्रभावित रहा है। आदर्श की दृष्टि से सूर के समक्ष कोई ऐसा समर्थ कवि विद्यमान नही था, जिसका अनुसरण वे करते। जयदेव, विद्यापति, नामदेव एवं कबीर की गेय-पद शैली उनके सामने अवश्य विद्यमान थी, किन्तु व्रजभाषा मे अपने पूर्ण अधिकार के साथ साहित्य-सर्जन करने-वाले सूर ही पहले कवि थे। डा धीरेन्द्र वर्मा लिखते है, "सूरदासजी ने आजीवन श्री गोवर्द्धन-नाथजी के चरणो मे बैठकर व्रजभाषा काव्य के रूप मे जो भागीरथी बहाई, उसका वेग आज तक भी क्षीण नही हो पाया। सोलहवी शताब्दी के पहले भी कृष्ण-काव्य लिखा गया था, लेकिन वह सबका सब या तो सस्कृत मे है, जैसे जयदेव-कृत 'गीत-गोविन्द' या अन्य प्रादेशिक भाषाओ मे, जैसे मैथिल कोकिल कृत 'पदावली'। व्रजभाषा मे लिखी हुई सोलहवी शताब्दी से पहले की प्रामाणिक रचनाएँ उपलब्ध नही है।"[1]

(ख) नरसी-साहित्य की पृष्ठभूमि

राजनीतिक परिस्थिति

राजपूत युग—गुजराती साहित्य के मध्यकाल के प्रारम्भ मे सिद्धराज और उनके अनुगामी सोलकी राजा (ई सन् ९४२-१२४२)[2] तथा इसके पश्चात् वाघेला राजाओ का (ई सन् १२२२-१२९८) काल आता है। यह समय गुजरात के लिए परमोत्कर्ष का माना जाता है। गुजरात के व्यापार ने जल एव स्थल दोनो भागो से इस समय अद्भुत प्रगति की। इसी काल मे गुजरात मे नवीन नगर बसाये गये। इन नगरो मे यहाँ के राजाओ ने उत्तर भारत से ब्राह्मणो, शिल्पियो एव कलाकारो को आमन्त्रित करके बसाया। राजपूत युग के प्रतापी राजाओ की धाक मालवा और कन्नौज तक पहुँची थी। इसी समय यहाँ विमल, वस्तुपाल और तेजपाल जैसे वीर एव कलाप्रिय मन्त्री हुए। सोलकी युग के सिद्धराज और कुमारपाल के राजत्व-काल मे कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र हुए। इस समय के गुजराती साहित्य का इतिहास भी हिन्दी साहित्य के इतिहास के वीरगाथा काल की भाँति वीररस से समन्वित है।[3]

मुस्लिम युग—इसके पश्चात् द्वितीय युग गुजरात पर मुसलमानी सल्तनत की स्थापना के साथ प्रारम्भ होता है। ई सन् १२९७-९८ मे अल्लाउद्दीन ने अपने सरदार उलूगखान को भेजकर गुजरात के अन्तिम हिन्दू राजपूत राजा कर्ण वाघेला को परास्त करवा कर 'पाटण' पर अपना अधिकार

---

१. 'नाममाहात्म्य श्री व्रजाक', अगस्त सन् १९४६। व्रजभाषा शीर्षक लेख।
२. History of Gujarat P. IVI, Vol I, M S Commissariat
३. गुजराती साहित्यनो आ प्रथम युग ते गुजरातना भव्य उदयनो हतो। तेथी ते युगना साहित्यमां पुरुष पराक्रमनु गभीर गान छे। गु. सा. म, पृ० २५।

जमा लिया।[1] इसके पश्चात् एक शती तक दिल्ली नियोजित हाकिम (सूबेदार) गुजरात पर शासन करते रहे पर तमूर लग की लूट के बाद दिल्ली का केन्द्रीय सत्ता जर्जरित हो गई। उचित अवसर पाकर उस समय गुजरात का हाकिम ज़फरखान भारत के प्रान्तीय हाकिमो की तरह स्वतन्त्र हो गया। उसने मुजफ्फरशाह के नाम से ई सन् १४४७ म पाटण म अपने स्वतन्त्र राज्य की नीव डाली।[2] मुजफ्फरशाह एव उसके परवर्ती सुल्ताना ने शन शन आस पास के कई प्रदेशो को हथिया लिया। इन सुल्ताना म अधिकाश धर्मांध, कट्टर इस्लामी और बलपूवक हिन्दुओ का धर्म भ्रष्ट करनेवाले थ। इन्होने हिन्दुओ के मन्दिर मठ एव मूर्तियो को ही ध्वस्त नही किया अपितु हिन्दू स्त्रियो के साथ बलात्कार जस अमानुषी कृत्य भी किय। इनके अत्याचारो से त्रस्त होकर हिन्दू जातियाँ आश्रय ढूढती हुई इधर उधर भटकने लगी। गुजरात के इतिहासकारो ने इसीलिए इस युग को भ्रमण युग कहा है।[3]

जसा कि एतिहासिको का कहना है इस युग की अस्त-व्यस्त परिस्थिति स गुजराती भाषा एव साहित्य को दो विशेष लाभ प्राप्त हुए। प्रथम यह कि विविध जातियो के सम्पर्क म आकर गुजराती भाषा एव विशेष रूप म समृद्ध हुई और द्वितीय यह कि इस अशान्तकाल म गुजरात के विरक्त जन साधु अन्तर्मुखी होकर अहर्निश अपनी साहित्य-साधना म लग रहे।

गुजरात म जन साधुओ की भाति हिन्दू कवियो न भी राजनीतिक अस्त-व्यस्त परिस्थिति म अपने एकान्त धार्मिक स्थानो म बठकर हिन्दी साहित्य के भक्तिकालीन सन्तो एव भक्तो की भाति भक्ति साहित्य का सजन प्रारम्भ किया।

ज़फरखान के बाद उसका पौत्र अहमदशाह गुजरात का शासक बना। अहमदशाह ने गुजरात की राजधानी अहमदाबाद को बसाया। अहमदशाह इस्लाम का कट्टर अनुयायी होने के साथ साथ एक अजय बादशाह भी था। उसका पुत्र सुलतान महमुद बहुत डरपोक था। मालवे के मुहम्मद खिलजी के गुजरात पर आक्रमण के समाचार मिलते ही वह भाग खडा हुआ। अमीरो ने उसके पुत्र कुतुबुद्दीन को ई सन १४५१ में तख्त पर बिठा दिया। इसके पश्चात कुतुबुद्दीन का सौतेला भाई फतेहखान महमुद बेगडा के नाम से ई सन १४५८, २५ मई को तख्तनशीन हुआ।[4]

महमुद बेगडा ने जूनागढ के राजा रा' माडलिक को ई सन १४७० ४ दिसम्बर को परास्त करके मुसलमान बनाया।[5] रा' माडलिक का मुसलमानी नाम खान जहान था। वह हमारे आलोच्य कवि नरसी का समकालीन था। साधु सन्यासियो के बहकावे म आकर उसने नरसी को किस प्रकार की यातनाएँ दी इसका उल्लेख गत दो अध्यायो म किया जा चुका है।

---

१ History of Gujarat P 2 Vol I M S Commissariat
२ History of Gujarat P 58 Vol I M S Commissariat
३ गु० सा म, पृ० १६।
४ History of Gujarat P 162 Vol I M S Commissariat
५ वही

सामाजिक परिस्थिति

राजनीतिक उथल-पुथल के साथ ही सामाजिक जीवन का विशृङ्खलित होना स्वाभाविक है। यह हम ऊपर स्पष्ट कर चुके है कि मध्यकाल के प्रारम्भ से सोलकी और वाघेला वश के राजाओ के पश्चात् गुजरात पर मुसलमानो की सल्तनत कायम हो गई। विदेशी शासन-काल मे हिन्दूप्रजा का जीवन विक्षुब्ध हो गया। धर्मान्ध मुसलमान वादशाहो का उद्देश्य तलवार के वल पर धर्म-प्रचार करना था। इसलिए उस समय की समस्त हिन्दू-प्रजा भयत्रस्त दशा मे विकल हो रही थी। मुसलमानो के अत्याचारो से पीडित हिन्दूजाति स्वरक्षार्थ इधर-उधर लुक-छिपकर भटक रही थी। उनकी वहू-वेटियो की लाज की रक्षा करना उनके लिए दूभर हो गया था। मुसलमानो के आगमन के कई वर्षो वाद तक गुजरात की यही स्थिति वनी रही। 'कान्हड दे प्रवन्ध' मे तुर्को के हाथ मे पडे हिन्दू-कैदी अपनी दयनीय दशा का वर्णन इस प्रकार करते है—

वाल वृद्ध टलवलता दीठा कटकि उछली धाह
एक भणइ अह्मेजन्मि आगिलइ हीडया किस्युं अणुरूं
तुरक साखि कइ अह्मे दीधी, कई चडाव्या आल
कइ जणणी उछंगी रडतां थान विछोह्या वाल
गाई तणा कई गोयर खेड्यां कइ लोप्या आघाट
कइ अह्मे जंगलि मधु लीधा, कहि कइ पाडी वाट।

*   *   *

कइ घरि आव्या अतिथि न पूज्या, तरस्यां नीर न पाया
भर्या सरोवर पालि उससी, तरुअर दीधा घाउ
देव तणा प्रासाद विणास्या, कई हरि लायु पाउ
लाख लूण तिल चुहर्या वीकया, कन्या-विक्रय कीधा,
सोम सू कई राहु गलंतई महादान को लीधा।

इसी तरह 'विमल प्रवन्ध' (स. १५६८) मे भी मध्यकालीन सामाजिक स्थिति की कई महत्त्वपूर्ण वातो का उल्लेख मिलता है।

इस समय एक ओर सामान्य जनसमाज की इस प्रकार की दयनीय स्थिति थी तो दूसरी ओर राव, उमराव और वादशाहो के आस-पास का समाज अपने राग-रग मे मग्न था। सन् १५०८ से पूर्व विरचित 'वसन्तविलास' ग्रन्थ से तत्कालीन रसिक समाज के वैभव एव विलासपूर्ण जीवन का पता चलता है—

वनि विरच्या कदली हर, दीहर मंडप माल,
तलीआ तोरण सुन्दर चन्दरवा छि विशाल ८
खेलन वावि सुखाली, जाली गुख विश्राम
मृगमद पूरि कपूरहि पूरिहिं जल अभिराम ९
रंगभूमि सजकरि झारि कुकुम घोल,
सोवन साकल सांधी बांधी चम्पक दोल १०
तिहां विलसइं सवि कामुक जामि हृदयचि रंगि
कामुजिस्या अलवेसर वेस रचइ वर अंगि ११

नरसी की कृतियों के अनुशीलन से भी उस समय की सामाजिक स्थिति का पता चलता है। नरसी के ढेढवाड के प्रसंग से यह विदित होता है कि शूद्र अस्पृश्य माने जाते थे और उनकी बस्ती गाँव से बाहर हुआ करती थी। उच्च वर्ण का कोई भी व्यक्ति शूद्रों से सम्बन्ध स्थापित करने के कारण जाति बहिष्कृत कर दिया जाता था। मुसलमानों के लिए म्लेच्छ जैसे घृणात्मक शब्द का प्रयोग नरसी-साहित्य में उपलब्ध होता है।[1]

धार्मिक परिस्थिति

महाभारत एवं कई पुराणों में द्वारिका एवं सोमनाथ सम्बन्धी अनेक उल्लेख उपलब्ध होते हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि सम्राट अशोक के पूर्व तथा ई० सन् की तृतीय शती से भी पहले गुजरात में सबल वैष्णव एवं शैव सम्प्रदायों का प्रचार था।[2]

वैदिकेतर धर्मों में अशोक के शासन के समय गुजरात में बौद्ध धर्म के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं। जूनागढ की एक शिला पर अशोक के धर्मवचन उत्कीर्ण हैं। इसके पश्चात ढाई सौ वर्ष तक गुजरात की धार्मिक परिस्थिति को जानने का एक भी साधन हमें उपलब्ध नहीं होता है। इसी भाँति आगे क्षत्रपकालीन गुजरात की धार्मिक गतिविधि भी अन्धकाराविष्ट ही रही है।

गुप्तकाल (ई० सन् चौथी शती) गुजरात में वैदिकधर्म का पुनरुद्धार-काल कहा जाता है। इस काल में यहाँ वैदिकधर्म के साथ साथ बौद्ध धर्म के प्रचार के भी प्रमाण मिलते हैं।

गुप्तकाल के पश्चात वलभी-काल (ई० सन् ४७५-७७५) आता है। वलभी के मैत्रक राजाओं के कई ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं।[3] ताम्रपत्रों की वर्णभांकित राजमुद्रा से यह प्रतीत होता कि इन राजाओं के कुल-देव शंकर थे। इस वंश के १६ में से १६ राजाओं ने स्वयं को परम माहेश्वर कहा है। इसी वंश के एक ध्रुवसेन राजा ने स्वयं को परमभागवत (महान् विष्णु भक्त) तथा अन्य ने परमोपासक (महान बुद्ध) कहा है। इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय शैव मत के साथ-साथ वैष्णव एवं बौद्ध धर्म भी प्रचलित थे। राजाओं के परमभागवत एवं परमादित्य जैसे विरुदों से यह विदित होता है कि राजाओं ने अपने अपने इष्टदेवों के मन्दिरों का निर्माण करवाया होगा पर अभी तक वला गाँव (जहाँ प्राचीन वलभी नगर था) के निकट केवल शिव मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं।[4] वलभी-काल में डुड्डा नामक एक बौद्धविहार तथा विद्यापीठ भी था जो वलभी की एक राजकन्या ने दक्षिण होने पर उसकी स्मृति में बनवाया गया था।[5] भारत के अन्य प्रान्तों में जब गुप्तकाल के समय बौद्धधर्म उन्मूलित कर दिया गया था उस समय गुजरात के धर्मसहिष्णु राजाओं के छत्र तले वह सुरक्षित था। बौद्ध प्रवासी इत्सिंग लिखता है कि भारत में दो बड़े विद्यापीठ हैं एक बिहार में नालन्दा और दूसरा सौराष्ट्र

---

१ हा० स० हा० के, पृ० २८।

२ मानसी गुजराती साहित्य परिषद्ना भंडेरान' इतिहास विभाग पृ० १२ स्वाध्याय बालकृष्ण शिवराम।

३ ४ ५ वही

६ सा० गु० सा० प० इतिहास विभाग स्वाध्याय बालकृष्ण शिवराम।

७ वही

मे वलभी।"[1] ई सन् ७७० अथवा ७८५ मे अरबो ने समुद्री मार्ग से आक्रमण करके वलभी-शासन के साथ ही बौद्धविहारो का भी विध्वस कर दिया। ८वी शती की एक बुद्ध मूर्ति का 'अडालज' के निकट प्राप्त होने का उल्लेख मिलता है, जिसमे नीचे लिखा है 'देवधर्मोऽय'।[2] इस समय के आस-पास शकराचार्य ने बौद्ध धर्म का सम्पूर्ण भारत से उच्छेद करके विभिन्न स्थानो पर जिन चार मठो की स्थापना की थी, उनमे से एक द्वारिका का मठ भी है।

इसके पश्चात् चालुक्यो का काल आता है, जो धार्मिक दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता है। चालुक्य काल से पूर्व गुजरात मे जैन धर्म के अस्तित्व के प्रमाण उपलब्ध नही होते है, किन्तु इस युग मे जैन धर्म का पर्याप्त प्रसार हुआ। हेमचन्द्राचार्य तथा उनके शिष्य रामचन्द्र ने इस धर्म का मूल खूब गहराई तक पहुँचा दिया। इस समय के राजाओ के कुलदेव मुख्यत शिव ही थे। इस समय मे यहाँ शैव सप्रदाय का लकुलीश पाशुपत पथ विद्यमान था, जिसका १४वी शती के पश्चात् चालुक्यो के साथ ही उन्मूलन हो गया।[3] वडोदा से १५ मील दक्षिण मे मुसलमानो द्वारा ध्वस्त 'कारवण' नामक गाव है। वही प्राचीन काल मे भगवान् शकर ने लकुलीश नामक १८वा अवतार लिया था। 'मूर्ति' के हाथ मे दड है। डा सत्येन्द्र लकुल को शकर का अवतार न मानकर शैव सप्रदाय के गुरु मानते है। वे लिखते है, "शैव सप्रदाय मे तो गुरु के नाम से भी शिव अभिहित होते है—यथा लकुल सप्रदाय के शिव लकुलीश है। लकुल गुरु है। वे स्वय शिव का अवतार माने जाते है। वे स्वय शिव हो गये।"[4] चालुक्य काल मे शैवधर्म की भाँति गुजरात मे वैष्णवधर्म के भी उपासक प्रचुर सख्या मे थे।[5] इस समय सौराष्ट्र मे एक 'गायत्री' का मदिर भी विद्यमान था।

गुजरात में वैष्णव धर्म

ऊपर ई सन् की तृतीय शती से लेकर १३वी शती तक गुजरात की धार्मिक परिस्थिति का सक्षेप मे चित्र प्रस्तुत किया गया है। हमारा सबंध मुख्यत वैष्णवधर्म के साथ होने से यहाँ स्वतत्र रूप से गुजरात की वैष्णवधर्म की गति-विधि पर विचार किया जाता है।

यह पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है कि गुप्तकालीन राजा भागवत धर्मानुयायी थे। उनका शासन सौराष्ट्र तक प्रसृत था, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वैष्णवधर्म का अस्तित्व किसी न किसी रूप मे गुजरात मे भी उस समय विद्यमान था। जूनागढ के निकट सुदर्शन तालाव की स्कन्दगुप्त (ई सन् ४५६) के समय की प्रशस्ति मे तालाव की पाल पर विष्णु मदिर वनवाने का उल्लेख किया गया है।[6] वलभी का राजा ध्रुवसेन स्वय अपने आप को वडे गर्व से परमभागवत कहता था। ६वी शती के भिन्नमाल-निवासी माघ कवि ने 'शिशुपालवध' नामक महाकाव्य का प्रणयन किया। अणहिलपुर पाटण के उत्तर मे १५ मील दूर के कसा गाव मे १०वी

---

१ 'सातमी गुजराती साहित्य परिषदनो अहेवाल', इतिहास विभाग, दत्तात्रेय वालकृष्ण डिसलकर। पृ० १३

२. वही

३. वही

४. 'सूर की झाकी' डा. सत्येन्द्र, पृ० ६०।

५. सा. गु मा. प। ६. वै. ध सं. इ, पृ० १६३।

शती के एक त्रिमूर्ति मन्दिर का भग्नावशेष मिलता है।[1] ई सन् १०७४ का एक ऐसा ताम्रपत्र मिला है जिसका प्रारभ 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' से किया गया है और तत्पश्चात् आगाकृति भगवान् वराह की स्तुति की गई है।[2]

उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि गुजरात में इस समय पौराणिक भागवतधर्म का प्रचार किसी न किसी रूप मे था।

१२वी शती के उत्तरार्ध मे हेमचन्द्राचार्य ने 'द्व्याश्रय' काव्य के प्रारभ मे अणहिलपुर पाटण का वर्णन करते समय गुजरात के प्राचीन राजाओ ने विष्णु के मन्दिर बनवाये थे, उनका उल्लेख किया है।[3] राजपुरोहित सोमेश्वर पाटण मे उपेन्द्र के मन्दिर का वर्णन करते हैं।[4] भीमदेव राजा के मत्री श्रीधर (१२वी शती) का मुररिपु के मन्दिर निर्माण करवाने का उल्लेख मिलता है। ई सन् १२६२ के एक दानपत्र मे गीतगोविन्द' का 'वेदानुद्धरते जगन्ति वहते' श्लोक उद्धृत मिलता है।[5] उपर्युक्त प्रमाणो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि १३वी शती के पूर्व तक गुजरात के विभिन्न भागो मे वैष्णवधर्म का प्रचार हो चुका था। इसके पश्चात १४वी शती धर्म विध्वस की थी। इस समय मुसलमानो ने स्वच्छन्दतापूर्वक हिंदू देव मन्दिरो का ध्वस किया।

इसके पश्चात् १५वी शती मे एक बार पुन शाति स्थापित हो गई। अनुकूल वातावरण मिलते ही वैष्णवधर्म का पुन प्रसार प्रारभ हो गया। हमारे विवेच्य कवि नरसी इसी शती मे हुए थे। ई सन् १४१७ के जूनागढ (गिरनार) के रेवतीकुड लेख का प्रारभ नवनीतचोर की स्तुति से किया गया है। १५वी शती के पश्चात गुजरात मे वैष्णव धर्म का प्रवाह अनेक धाराओ मे प्रवाहित होने लगा था। इनमे पौराणिक वैष्णव धर्म एक प्रमुख धारा के रूप मे था। गुजरात के *द्वारिका एव डाकोर तीर्थ पौराणिक वैष्णवधर्म से ही सबद्ध है।*

इस प्रकार के वातावरण मे नरसी ने भगवान कृष्ण की मधुर लीलाओ का गान किया था। इस काल मे नरसी के अतिरिक्त अन्य कई वैष्णव कवि हुए होगे पर उनका कही भी विशेष उल्लेख प्राप्त नही होता है। इस सम्बन्ध मे दुर्गाशकर शास्त्री लिखते है "वास्तव मे नरसी के ही तीव्र प्रकाश मे सभी तारे (सामान्य कवि) तिरोहित हो गये।"[6] श्री दुर्गाशकर के शास्त्री ने १५वी शती के कई गुर्जर वैष्णव कवियो का उल्लेख किया है जो किसी सप्रदाय विशेष से सबद्ध नही थे। इन कवियो की भक्ति का मूल श्रीमदभागवत जैसे पुराण तथा गीतगोविंद मे सन्निहित है। भागवत का प्रचार गुजरात मे १३वी शती से भी पहले हो चुका था। हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण मे राधा कृष्ण की प्रीति के दो श्लोक उद्धृत है जिनसे यह प्रतीत होता है कि गुजरात मे जयदेव से भी पूर्व अपभ्रश मे राधा कृष्ण की प्रीति के गीत गाये जाते थे।

नरसी के पूर्व जूनागढ के चूडासमा राजा भगवान विष्णु के उपासक थे। गीता नारायणीय उपाख्यान विष्णु-पुराण भागवत कृष्णजन्मखड कृष्णोपनिषद पद्मपुराण हरिवश शाडिल्य सूत्र, नारदपचरात्र गर्गसहिता आदि विष्णु भक्ति सबधी पुराण एव ग्रथ नरसी से भी बहुत पहले

१ वै ध स इ, पृ १६८। २ वै ध स इ, पृ १६६। ३ 'द्व्याश्रय', स १, श्लो ४६।
४ कीर्तिकौमुदी स १, श्लो ७२। ५ वै ध स इ, पृ १६६। ६ वै ध स इ, पृ १=३।
७ वै ध स इ, पृ १७६।

गुजरात मे अध्ययन-अध्यापन के विषय रहे है। गुजरात मे नरसी से पूर्व १४वी शती मे निर्मित 'विष्णु-भक्ति-चन्द्रोदय' और 'विष्णु-भक्ति कल्पलता' ग्रथ उपलब्ध होते है।

इन प्रमाणो के आधार पर यह दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि नरसी से पूर्व गुजरात मे वैष्णव धर्म और वैष्णव-साहित्य का पर्याप्त प्रसार एव प्रचार हो चुका था।

ऊपर नरसी के पूर्व की तथा समसामयिक धार्मिक परिस्थिति पर विचार किया गया है। अब यहाँ कुछ ऐसे सप्रदायो एव सतो के सबध मे विचार किया जाएगा, जिन्होने हमारे विवेच्य कवि को किसी न किसी रूप मे प्रभावित किया है।

महानुभाव पंथ[1]

इस पथ के प्रमुख सत चक्रधर थे, जिन्होने सन् १२६३ मे सन्यास ग्रहण करके इस पथ का प्रवर्तन किया। वे भरुच (भृगुकच्छ, गुजरात) के निवासी थे। सन्यास ग्रहण करने से पूर्व वे गुर्जर ब्राह्मण थे। इस पथ मे कृष्ण की उपासना की जाती है। इस पथ के साहित्य ने वारकरी सप्रदाय के प्रसिद्ध संत ज्ञानेश्वर को प्रेरणा प्रदान की थी।[2] नामदेव वारकरी सप्रदाय के दूसरे प्रसिद्ध सत थे, जिनके अभंगो का नरसी के पदो पर पर्याप्त प्रभाव पडा है। अत सभव है, अप्रत्यक्ष रूप से इस पथ का प्रभाव नरसी पर भी पडा हो।[3]

वारकरी संप्रदाय

यह सप्रदाय रुक्मिणी और विट्ठल का उपासक है। भारत के अन्य वैष्णव सप्रदायो मे इसका भी महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। ई सन् की १३वी शती के उत्तरार्ध मे यह सप्रदाय बडे प्रबल वेग से बढ चला था। शरणागति, शाति, सत्सगति, विरक्ति, त्याग आदि इसके प्रमुख तत्त्व है। इसमे सगुण-निर्गुण दोनो की उपासना सम्मान्य है। इस सप्रदाय के भक्त सदा भजन-कीर्तन द्वारा ईश्वर के लीलागान मे निरत रहा करते है। कीर्तन इस सप्रदाय की भक्ति का मुख्य अग माना जाता है। यह एक सारग्राही सप्रदाय है। इसमे ज्ञान एव भक्ति का सुदर सामजस्य दृष्टि-गत होता है। चित्तशुद्ध्यर्थ कर्ममार्ग के कई आचारो को इस सप्रदाय मे अपेक्षित माना गया है। इसमे स्पृश्यास्पृश्य के भेदभाव को कोई स्थान नही है। स्त्रियाँ, कुम्हार, महार एव चमार तक इस सप्रदाय मे उच्च स्थान प्राप्त कर चुके है। गोरा कुम्हार (ई सन् १३००), वका महार (ई सन् १३१९), चोखा मेला (ई सन् १३४०) और रोहिदास चमार इस सप्रदाय मे सम्मान प्राप्त कर चुके है।

वारकरी सप्रदाय के सन्तो ने शैव एव वैष्णव, राम एव कृष्ण, सगुण एव निर्गुण, द्वैत एव द्वैताद्वैत, अद्वैत एव विशिष्टाद्वैत के परस्पर के विभेदो को तथा स्त्री-शूद्रादि के ऊँच-नीच एव अधिकारी-अनधिकारी के भेदो को दूर करने मे पर्याप्त साफल्य प्राप्त किया था। इस सप्रदाय के भक्त

---

१ श्री स्व अ . बु जानी ने नरसी के साहित्य पर निबार्क संप्रदाय का प्रभाव माना है, किन्तु नरसी के साहित्य का अध्ययन करने से इस सप्रदाय का उन पर प्रभाव हो, ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है। श्री अं. बु जानी ने 'हरिलीला षोडशकलानो उपोद्घात' (पृ० २९ से ४३ तक) मे नरसी पर उक्त सप्रदाय का प्रभाव होने की सम्भावना व्यक्त की है।

२ 'हरिलीला षोडशकलानो उपोद्घात,' पृ० ४६, अं बु जानी।

३. वही, पृ० ४४।

एक ओर जहाँ नाम-स्मरण तथा नाम-कीर्तन को प्रमुखता देते हैं वहा दूसरी ओर सिद्धात के क्षत्र म अद्वैत को मानते है। एकमेवाद्वितीय ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन इस सम्प्रदाय का मुख्य आधार भूत सिद्धात है। सगुण ब्रह्म की उपासना करने पर भी इस सम्प्रदाय के भक्तो का चरम लक्ष्य निर्गुण है। इनके मत म परमानद की पराकाष्ठा अद्वैतावस्था मे सन्निहित है।

वारकरी सम्प्रदाय एव नरसी की भक्ति म पर्याप्त साम्य है। भक्त्या, भक्ति म शुष्क ज्ञान तथा बाह्याचारो की निरर्थकता ब्राह्मण एव शूद्र दोनो को समान रूप स ब्रह्मज्ञान का अधिकारी होने की मान्यता ससार की असारता, साधु-सगति ईश्वर का भजन कीर्तन, नाम-स्मरण, सगुण के साथ निर्गुण ब्रह्म की उपासना आदि वारकरी सम्प्रदाय के प्रमुख तत्त्व नरसी म भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त नरसी ने वारकरी सतो के अनुरूप हरि-हर म अभद माना है। इस सबध म उन्होंने कहा है कि जो इन दोनो म भेद मानता है, वह अवैष्णव है और ऐसे व्यक्तियो को वेद अधम कोटि म रखने की आज्ञा करते है—

गगधर ने गोकुलपति विचि जे को आणे भद,
भण नरसैया वैष्णव नहि ते अधम कहि किहि वेद।[1]

वारकरी सतो की भाति नरसी की भी भजन मडली थी। प्रेम भक्ति एव मधुर लीला क भाव जिस प्रकार वारकरी सम्प्रदाय के नामदेव आदि मराठी-सतो के अभगो म मिलते है ठीक वैसे ही नरसी मे भी। नरसी के मधुरभाव के सबध मे इतना अवश्य अधिक कहा जा सकता है कि उनम स्थूल शृगार के भाव अधिक मात्रा म उपलब्ध होते है जिनका इन सतो म प्राय अभाव रहा है।

रामानद एव कबीर

नरसी क पूर्ववर्ती गुजराती साहित्य पर इन दोनो का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगत होता है। इस सबध मे श्री अनतराय रावळ का मत हम पहले उद्धृत कर चुके है, जिसम उन्होंने यह कहा है कि गुजरात म भक्ति के प्रचार एव प्रसार म रामानद का प्रभाव भी एक प्रेरणा स्रोत माना जाएगा। हारमाळा प्रसग म राजा रा माडलिक क नरसी पर किए गए अत्याचार म कुपित होकर जिस साधु ने राजा को म्लेच्छ होने का शाप दिया था उसका नाम भी रामानद ही था। किन्तु यह रामानद कोई अन्य साधु ही रहा होगा। नरसी ने कबीर का कई स्थानो पर उल्लेख किया है और कबीर के नामोपासना सबधी कई तत्त्वो का नरसी की भक्ति म भी पर्याप्त साम्य दृष्टिगत होता है। इन सभी को देखते हुए यह प्रतीत होता है कि नरसी पर कबीर का भी किसी न किसी रूप म प्रभाव रहा है। रामानद का प्रभाव नरसी पर सभव है प्रत्यक्ष न होकर अप्रत्यक्ष रूप म ही पडा हो।

नरसी पर अन्य प्रभाव

इनके अतिरिक्त नरसी पर मुख्यत भागवत, गीतगोविन्द एव पद्मपुराण का प्रभाव परिलक्षित होता है। नरसी ने अपने समकालीन अन्य भी कई ऐसे सम्प्रदायो यथा प्राणि क भक्तो एव सतो

[1] राम सहस्रनाम म भ, भा श्रा श्री, पृ० २०।

के सम्पर्क मे आकर भक्ति की प्रेरणा प्राप्त की होगी, जिनके संबंध मे आज हमे कुछ भी जानकारी उपलब्ध नही है।

साहित्यिक पृष्ठभूमि

प्रस्तुत विषय पर विचार करने से पूर्व यहाँ हम संक्षेप मे गुजरात प्रदेश एवं गुजराती भाषा के नामकरण, विस्तार आदि पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते है।

गुजरात का नामकरण

इतिहासकारो का कहना है कि शककुल की विदेशी गुर्जर जाति ई. सन् की ५वी शती से भी पूर्व भारत मे प्रविष्ट होकर दक्षिण पंजाब, राजस्थान और फिर वहाँ से नर्मदा तक के विस्तृत भू-भागो मे फैलकर बस गई।[1] विद्वानो की मान्यता है कि इसी गुर्जर जाति पर से गुर्जर+त्रा, गुर्जर+ट्ठ, गुर्जर+राष्ट्र, आदि रूप मे विकसित होकर 'गुजरात' शब्द बना है। आठवी से दसवी शती तक के उत्कीर्ण लेखो मे गुजरात के लिए गुर्जरत्रा–मण्डल, गुर्जरत्रा–भूमि, गुज्जरत्ता आदि प्रयोग मिलते है।[2] श्री एन. बी. दिवेटिया ने गुजरात शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए लिखा है, "सम्भव है 'गुज्जर' शब्द मे अरबी का 'आत' प्रत्यय मिलने पर 'गुजरात' शब्द बना हो, क्योकि 'जाहिरात', 'ठकरात' जैसे शब्दो मे भी यही प्रत्यय जुडा हुआ है।"[3] प्रसिद्ध अरब यात्री अल्बरुनी (ई. सन् ९७०-१०३०) ने भी एक स्थान पर गुजरात के लिए 'गुज्रात' शब्द का प्रयोग किया है।[4]

गुजराती भाषा : नामकरण, विस्तार एवं विकास

उत्तर मे कच्छ और मेवाड, मारवाड, दक्षिण मे थाणा जिला, पश्चिम मे अरब सागर एवं पूर्व मे मालवा खानदेश के मध्य आजकल प्रयुक्त होनेवाली भाषा 'गुजराती' नाम से अभिहित की जाती है।[5] गुजरात की भाषा के अर्थ मे 'गुजराती' शब्द का प्रयोग कवि प्रेमानन्द (१७वी शती) ने सर्व प्रथम किया है।[6] इसके पश्चात् ई. सन् १७३१ मे जर्मनी की राजधानी बर्लिन के एक पुस्तकालयाध्यक्ष ला क्रोझ ने अपने एक लेख मे गुजराती भाषा के लिए गुजराती शब्द का प्रयोग किया है।[7] इसके बाद प्रायः सभी विद्वानो ने गुजराती भाषा के लिए सर्वत्र इसी शब्द का व्यवहार किया है।

गुजराती भाषा की उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से विकसित नागर अपभ्रंश मे मानी जाती है। अपभ्रंश से अर्वाचीन गुजराती भाषा की विकास-दशा को बताते हुए श्री अनन्तराय रावळ लिखते है—"वि. स. ९५० तक अपभ्रंश, ९५० से १३वी शती तक मध्यकालीन अपभ्रंश, १५५०

---

१. गु. ना. म., पृ. १। २. हिन्दी साहित्य कोश, पृ. २६६। ३. गुजराती भाषा अने साहित्य, भाग २।
४. (अ) हि. सा. को., पृ. २६६।
(आ) अल्बरुनी ने 'आबू' से 'जयपुर' तक के प्रदेश के लिए ही 'गुज्रात' का प्रयोग किया है। Gujarati Language and Literature P. 193 ५. गु. सा. म., पृ. १।
६. दशम स्कन्ध, नागदमण प्रसंग, 'भाखु नागदमण गुजराती भाखा', प्रेमानंद, पृ० १२०।
७. हि. सा. को. पृ० २६७।

से १६५० तक आरम्भकालिक गुजराती १६५० से १७५० तक मध्यकालीन गुजराती और १७५० के पश्चात् अर्वाचीन गुजराती का काल माना जाता है।[1]

गुजराती साहित्य का काल-विभाजन

गुजराती साहित्य के इतिहासवेत्ताओं ने गुजराती साहित्य के विकास को मुख्य चार भागों में विभाजित किया है[2] —

१ प्राचीन गुजराती साहित्य (ई सन १२००–१४५०)
२ पूर्व मध्यकालीन गुजराती साहित्य (ई सन् १४५०–१७००)
३ उत्तर मध्यकालीन गुजराती साहित्य (ई सन १८५० से आज तक)

आचार्य हेमचन्द्र के समय से कवि दयाराम तक का साहित्य प्राचीन एवं मध्यकाल के अन्तर्गत माना जाएगा और कवि दयाराम के पश्चात अंग्रेजों के आगमन से अब तक का साहित्य अर्वाचीन साहित्य।

गुजराती का प्राचीन तथा मध्यकालीन साहित्य

हिन्दी की भाँति गुजराती की प्रारम्भिक रचनाएँ भी पद्य में ही उपलब्ध होती हैं। व्याकरण व्याख्या धार्मिक कथा-वार्ता सम्बन्धी गद्य रचनाएँ पद्य की अपेक्षा प्रमाण में स्वल्प हैं। आरम्भिक गुजराती साहित्य कई काव्य शैलियों में मिलता है। हमारे आलोच्य कवि नरसी के पूर्व जैन साधुओं ने रास-साहित्य को उन्नति के उस चरम शिखर पर पहुँचा दिया था कि आगे आने वाले गुजराती साहित्य के इतिहासकारों ने उस युग को भी रास युग के नाम से अभिहित किया है। जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के 'वीरगाथा काल' में वीररस प्रधान रासो ग्रन्थों के प्रचुर रूप में प्रणयन के साथ-साथ विद्यापति की शृङ्गार प्रचुर रचनाएं तथा अमीर खुसरो की हास्य रसपूर्ण पहेलियाँ–मुकरियाँ उपलब्ध होती हैं उसी प्रकार गुजराती-साहित्य के इतिहास के इस आरम्भिक साहित्य में रास-साहित्य के अतिरिक्त फागु, बारहमासा, कक्को, प्रबन्ध आख्यान चच्चरी, धवल आदि विभिन्न काव्य शैलियों में निर्मित साहित्य मिलता है। 'रास साहित्य' का प्राचीन भाग मुख्यतः जन-कवियों द्वारा ही प्रणीत हुआ है किन्तु हंसावली के रचयिता प्रसिद्ध भवाईकार असाइत नायक रणमल्ल छन्द के रचयिता श्रीधर व्यास (ई सन् १३९६) सन्देश रासक के रचयिता अब्दुल रहमान (ई सन १४२०) तथा सदय वत्सचरित्र के प्रणेता भीम (ई सन १५वी शती) जनेतर कवि थे।

इनके अतिरिक्त इस युग में भक्ति मूलक पद साहित्य का भी निर्माण हुआ, जो गेय एवं वर्णनात्मक दोनों शैलियों में उपलब्ध होता है।

अब यहाँ हम उपर्युक्त मध्यकालीन काव्य शैलियों का परिचय देते हुए नरसी द्वारा प्रयुक्त काव्य शैलियों पर विचार करेंगे।

---

१ गु सा म पृ १। २ 'गुजराती साहित्य का रेखादर्शन, पृ० ३ क का शास्त्री।

१–रास-रासो

'रास' देशी रागो मे धार्मिक अथवा वर्णनात्मक विपय को लेकर लिखा जाता है। 'रासो' 'रासक' का ही विकसित रूप है। १२वी शती के अन्तिम चरण से लेकर नरसी तक रास-साहित्य का प्रचुर रूप मे सर्जन हुआ है। इसमे धर्मपुरुप एव उत्तम श्रावको के चरित्र, तीर्थ-कथा एव उपदेश आदि विपयो के आधार पर काव्य-रचना की गई है। 'राम' के लघु-अध्यायो को 'भास', 'ठवणी', अथवा 'कडवक' सज्ञा दी जाती है।

प्रारम्भ मे 'रासक-काव्य' ताल और लय के आधार पर गाया जाता था और अभिनीत भी होता था। रासक नृत्य मे स्त्री-पुरुप तालियाँ अथवा छोटे डडो से ताल देते हुए नाचते थे। यही आगे चलकर भाव एव गेय-तत्त्व-रहित हो जाने पर केवल धार्मिक आख्यान अथवा उपदेश का विपय रह गया। 'मप्तक्षेत्रिरासु' मे 'रामक-साहित्य' के सम्वन्ध मे इम प्रकार का उल्लेख मिलता है—

वइ सइ सहूइ श्रमणसंघ सावय गुणवंता
जोयइ उच्छवु जिनह भुवणि मनि हरष धरंता।
तीछे तालरस पडइ बहु भाट पढंता ॥४८॥
सविहू सरीषा सिणगार सवि तेव तेवडा।
नाचइ धामीय रंग भरे तउ भावइ रुअडा
सुललित वाणी मधुरि सारि जिण गुण गायंता
ताल मानु छन्द गीत मेलु वजित्र वाजंता ॥४९॥

२–फागु अथवा फाग

सस्कृत के फलगु शव्द से 'फाग' विकसित हुआ है। इसमे वसन्तश्री का उद्दीपन के रूप मे वर्णन करते हुए गेय-शैली मे भी प्रेमिकाओ के सयोग एव वियोग का वर्णन किया जाता है। जैन कवियो ने फागु काव्य मे सयम एव त्याग के उज्ज्वल चित्र प्रस्तुत किये है। इनमे प्रेमी युगल अन्त मे जैन धर्म मे दीक्षित हो जाते है। यह एक प्रकार से 'रास' का ही सक्षिप्त रूप है। इममे वर्णनात्मक की अपेक्षा गेय-तत्त्व की प्रधानता रहती है। कुछ जैनेतर कवियो ने भी फागु काव्य लिखे है, जिनका विपय प्राय कृष्ण-गोपियो की मधुर लीलाओ का गान रहा है।

३–षड्ऋतु

पड्ऋतु नाम से ही यह स्पष्ट होता है कि इसमे छ ऋतुओ का वर्णन किया जाता है। इसका विपय सम्भोग शृङ्गार रहता है।

४–बारहमासी

इसमे विप्रलभ शृङ्गार के भावो की अभिव्यजना की जाती है। प्रेमिका अपनी वियोग-दशा का वर्णन स्वय करती है। जैन तथा जैनेतर दोनो कवियो ने इस शैली मे काव्यो का प्रणयन किया है। जैनेतर कवियो के पात्र राधा-कृष्ण अथवा राम-सीता होते है।

से १६५० तक आरम्भकालिक गुजराती, १६५० से १७५० तक मध्यकालीन गुजराती और १७५० के पश्चात अर्वाचीन गुजराती का काल माना जाता है।"[1]

गुजराती साहित्य का काल-विभाजन

गुजराती साहित्य के इतिहासवेत्ताओ ने गुजराती साहित्य के विकास को मुख्य चार भागों म विभाजित किया है[2] —

१ प्राचीन गुजराती साहित्य (ई सन १२००–१४५०)
२ पूव मध्यकालीन गुजराती साहित्य (ई सन १४५०–१७००)
३ उत्तर मध्यकालीन गुजराती साहित्य (ई सन १८५० से आज तक)

आचाय हेमचन्द्र के समय से कवि दयाराम तक का साहित्य प्राचीन एव मध्यकाल के अन्तगत माना जाएगा और कवि दयाराम क पश्चात अग्रेजो के आगमन से अब तक का साहित्य अर्वाचीन साहित्य।

गुजराती का प्राचीन तथा मध्यकालीन साहित्य

हिन्दी की भाति गुजराती की प्रारम्भिक रचनाए भी पद्य म ही उपलब्ध होती है। व्याकरण व्याख्या, धार्मिक कथा-वार्ता सम्बन्धी गद्य रचनाए पद्य की अपेक्षा प्रमाण म स्वल्प हैं। आरम्भिक गुजराती साहित्य कई काव्य शैलियो म मिलता है। हमारे आलोच्य कवि नरसी के पूव जन साधुओ ने रास-साहित्य को उन्नति के उस चरम शिखर पर पहुचा दिया था कि आगे आने वाले गुजराती साहित्य के इतिहासकारो ने उस युग को भी रास युग के नाम स अभिहित किया है। जिस प्रकार हिन्दी-साहित्य के वीरगाथा काल म वीररस प्रधान रासो ग्रन्थो के प्रचुर रूप म प्रणयन के साथ-साथ विद्यापति की शृङ्गार प्रचुर रचनाएँ तथा अमीर खुसरो की हास्य रसपूर्ण पहेलिया–मुकरिया उपलब्ध होती हैं, उसी प्रकार 'गुजराती-साहित्य के इतिहास के इस आरम्भिक साहित्य म रास-साहित्य क अतिरिक्त फागु, बारहमासा कक्का प्रबन्ध आख्यान चच्चरी, धवल आदि विभिन्न काव्य शैलिया म निर्मित साहित्य मिलता है। रास साहित्य का प्राचीन भाग मुख्यत जन-कवियो द्वारा ही प्रणीत हुआ है किन्तु हसावली के रचयिता प्रसिद्ध भवाईकार असाइत नायक रणमल्ल छन्द के रचयिता श्रीधर व्यास (ई सन् १३९९) सन्देश रासक के रचयिता अब्दुल रहमान (ई सन १४२०) तथा सदय वत्सचरित्र' क प्रणेता भीम (ई सन १५वीं शती) जनेतर कवि थे।

इनके अतिरिक्त इस युग म भक्ति मूलक पद-साहित्य का भी निर्माण हुआ जो गेय एव वर्णनात्मक दोनो शैलियो म उपलब्ध होता है[3]।

अब यहाँ हम उपयुक्त मध्यकालीन काव्य शैलियो का परिचय देते हुए नरसी द्वारा प्रयुक्त काव्य शैलियो पर विचार करेंगे।

---

१ गु सा म पृ १। २ 'गुजराती साहित्य का रेखाचित्र' पृ० ३, के का शास्त्री।

इस काव्य शैली म नरसी की भी रचाएँ उपलब्ध होती है। 'नरसिंह महेता-कृत काव्य संग्रह म बारहमासा' का एक पद प्रकाशित है जिसम कार्तिक से आश्विन मास तक का राधिका के विरह का वणन किया गया है।[1] आश्विन म कृष्ण मिलन होन पर राधा का वियोग सयोग की सुखद स्थिति म परिवर्तित हो जाता है। नरसी का एक बारहमासा' काव्य अप्रकाशित है जिसका उल्लेख पिछले अध्याय म किया जा चुका है।

५–कक्का अथवा मातका

यह एक ऐसा काव्य रूप है जिसम प्रत्येक पंक्ति का प्रथम अक्षर ककारादि अथवा अकारादि क्रम म आता है। कक्का म ककारादि तथा मातका म अकारादि क्रम रहता है। जन साधुओ ने प्राय धर्म और नीति के उपदेश के लिए ही इस शैली का व्यवहार किया है। धारा पीतम आदि जनतर कवियो न भी इस शैली म काव्य रचनाएँ की हैं। गुजराती हाथप्रतानी गर नित यादी म इस शैली की नरसी द्वारा प्रणीत एक रचना का उल्लेख मिलता है।

६–विवाहलउ

जैन साधु-साध्वियो के दीक्षा प्रसग को लेकर जन कवियो द्वारा चरितात्मक गय-काव्य के रूप म लिखे गये काव्य विवाहलउ के नाम से अभिहित किये जाते हैं। इनम दीक्षा के लिए प्रस्तुत व्यक्ति का सयम-सुदरी के साथ विवाह वर्णित होता है। जनेतर कवियो ने भी इस शैली के अनुकरण पर शिव विवाह (नाकर) ईश्वर विवाह (मुरारी) जस काव्य लिखे हैं। इस शैली म निबद्ध एक भी रचना नरसी की उपलब्ध नहीं हुई है किन्तु उनके राधा-कृष्ण की मधुर प्रीति के पदो म राधा विवाह के पद अवश्य मिलते हैं।[2]

७–प्रबध

प्रबध में एतिहासिक घटना के आधार पर ओजपूर्ण शैली म वीररस का वणन किया जाता है। जन एव जनेतर दोनो कवियो ने इस शैली म काव्य लिखे हैं। नरसी का मुख्य विवेच्य विषय राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओ का गुणगान ही था। अत इस शैली के काव्य का उनमे अभाव रहना स्वाभाविक है।

८–आख्यान

किसी भी पूर्वकालिक प्रसग के कथन को आख्यान' कह सकते हैं। इसकी कथावस्तु पुराण या इतिहास स ली जाती है। विभिन्न देशीरागो म आख्यान लिखे जाते हैं। गुजराती साहित्य म नरसी इस शैली के प्रथम प्रणेता माने जाते है।[3] जिस प्रकार जैन साधुओ न अपने जनागमो से कथावस्तु लेकर रासो का प्रणयन किया उसी प्रकार जनेतर कवियो न भी अपने पुराणो स भगवल्लीला के प्रसग लेकर आख्यान-काव्यो का सृजन किया है। नरसी की सुदामाचरित्र चातुरीओ, दाणलीला, राससहस्रपदी' आदि काव्यकृतियाँ आख्यानात्मक ही है। नरसी के आत्मपरक काव्य पुराणो से सम्बन्धित न होन पर भी प्राय आख्यान शैली के ही अतगत समा

[1] न म का स, पृ ५२४, ५२८। [2] न म का स पृ ४९७। [3] गु सा म, पृ ३१।

हित किए जाएँगे। गुजरात के भालण और नाकर आदि कई कवियो ने भी आख्यान-काव्य लिखे है, किन्तु इस काव्य-शैली का चरम विकास प्रेमानन्द के आख्यान-काव्यो मे ही दृष्टिगत होता है।

६—गरबो-गरबी

इस काव्य-शैली का मूल 'देशियो' मे सन्निहित है। दोहा, सोरठा, चौपाई आदि मात्रिक छन्दो के आधार पर निर्मित गीत 'देशी' कहलाते है। पन्द्रहवी शती के पूर्व जैन रास-साहित्य मे दोहा, चौपाई आदि मात्रिक छन्दो का प्रयोग मिलता है। 'रास-काव्य' गेय होने के कारण उसमे गेयता विषयक प्रयोग वैविध्य के दर्शन भी मिलते है। इन्हीसे देशियाँ अस्तित्व मे आई है। इसके पश्चात् छोटी देशियो से 'पद' और वडी देशियो से 'कडवा' काव्य-शैलियाँ उद्भूत हुई। आगे इन्ही 'पद' एव 'कडवो' से क्रमश. 'गरवी' और 'गरवा' काव्य-शैलियाँ विकसित हुई।

हमारे विवेच्य कवि नरसी के कई पद रास-गरवा की भाँति गोलवृत्त के रूप मे घूमते हुए गाये जा सकते हे। 'गरवा' और 'गरवी' दोनो काव्य-शैलियो के विवेच्य विषय मे भी पर्याप्त भिन्नता रहती है। भावात्मकता और सक्षिप्तता 'गरवी' की मुख्य विशेषताएँ मानी जाती है। 'गरवा' वर्णनात्मक शैली मे निर्मित एक दीर्घ रचना होती है। डा अनन्तराय रावळ इनके अन्तर को अन्य रूप से स्पष्ट करते हुए लिखते है—"नरसी, भीम, भालण, दयाराम आदि भक्तो ने अपने पदो मे राधा-कृष्ण की मधुर-लीला के गीत गाये हैं। तथा वल्लभ और रणछोडजी दीवान के पद शक्तिपूजा से सम्वद्ध है। अत 'गरवी' एव 'गरवा' का सम्वन्ध क्रमश वैष्णव-भक्ति और शक्तिपूजा से माना जा सकता है।"[1]

उपर्युक्त काव्य-शैलियो मे से नरसी ने मुख्यत आख्यान काव्य-शैली के आधार पर ही अपने साहित्य का प्रणयन किया है। उनके राधा-कृष्ण की मधुर भावनाओ के स्फुट पद 'गरवी' से सम्वद्ध माने जा सकते है। इनके अतिरिक्त 'वारकरी सम्प्रदाय' के सन्त नामदेव की अभग शैली का भी नरसी पर पर्याप्त प्रभाव पडा है। 'झूलणा' नरसी का प्रिय छन्द रहा है। नरसी-रचित झूलणा छन्द के पदो पर नामदेव के अभगो का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगत होता है।

(ग) तुलना

राजनीतिक परिस्थिति

सूर एव नरसी के समय की राजनीतिक परिस्थिति लगभग समान ही रही। इसलाम एक राजशक्ति का धर्म होने के कारण दोनो प्रदेशो की विजित हिन्दू जाति पर वह वलात् कृपाण एव दण्ड के आधार पर थोपा जा रहा था। उत्तर भारत की ही भाँति इस समय की गुजरात की राजनीतिक परिस्थिति भी विशृङ्खलित एव अराजकतापूर्ण रही। लगभग १३वी शती के अन्तिम चरण से ही गुर्जर-धरा पर से हिन्दू राजाओ का सूर्य सदा के लिए अस्त हो गया। मुसलमानो ने भयकर अमानुषी एव घृणित अत्याचारो से हिन्दू प्रजा के शान्त जीवन को छिन्न-विच्छिन्न कर दिया। दिल्ली के सुल्तानो (सन् १२०६-१५२६) की भाँति गुजरात के भी सुल्तान

---

१. गु सा. म, पृ. ५४।

धर्मान्ध क्रूर कट्टर इस्लामी थे और बलपूर्वक हिन्दुओं को मुसलमान बनाने लगे थे। हमारे विवेच्य कवि नरसी के समय कुछ काल तक जूनागढ पर हिन्दू राजा रा माडलिक का शासन रहा किन्तु वह भी महमूद बेगडा द्वारा पराजित होकर मुसलमान बना लिया गया।

इस भाँति सूर ने जिस प्रकार के विषम राजनीतिक वातावरण में रहकर साहित्य-सृजन किया लगभग उसी प्रकार की राजनीतिक अराजकतापूर्ण स्थिति में नरसी ने भी अपने साहित्य का निर्माण किया था। नरसी को लेकर इतना अवश्य अधिक कहा जा सकता है कि राजनीतिक विषम-वातावरण का प्रभाव जितना उन पर पडा उतना सूर पर नहीं।

सामाजिक परिस्थिति

राजनीतिक परिस्थितियों की ही भाँति दोनों कवियों के समय की सामाजिक परिस्थिति भी विषमतापूर्ण थी। दोनों प्रदेशों की हिन्दू प्रजा मुसलमान बादशाहों के घोर अत्याचारों से संत्रस्त थी। उस समय समाज में स्पृश्यास्पृश्य के विचार आज से भी अधिक प्रबल रूप में विद्यमान थे। केवल एक गत शूद्र के यहाँ भजन-कीर्तन करने के कारण नरसी को जाति एवं समाज ने भयंकर यन्त्रणाएँ दी थीं जिसका वर्णन पहले किया जा चुका है।

धार्मिक परिस्थिति

सूर एवं नरसी के समय की दोनों प्रदेशों की धार्मिक परिस्थिति भी चिन्त्य दशा को पहुँच गई थी। मुसलमानों के समय में जनता की स्वतन्त्र-बुद्धि के कुण्ठित होने से अद्वैतवाद जैसे बुद्धि प्रमुख दर्शन को समझने की शक्ति के अभाव में उस समय उत्तर भारत एवं गुजरात में कई पाखण्डी पन्थ चल पडे थे। अष्टछाप के कवियों ने भी धर्म की विकृत स्थिति का कई स्थानों पर संकेत किया है। परमानन्ददास इस सम्बन्ध में इस प्रकार लिखते हैं —

> पाखण्ड दम्भ बढ्यो कलियुग में श्रद्धाधर्म भयो लोप।
> परमानंद वेद पढि बिगर्यो, का पर कीजे कोप॥

हारमाला प्रसंग में नरसी का कई ऐसे पाखंडी साधु-सन्यासियों के साथ विवाद हुआ, जो ब्रह्मज्ञान तथा निर्गुण ब्रह्म पर बडी-बडी डींगें मारने पर भी निरे जड एवं अज्ञानी थे। नरसी से पूर्व गुजरात में वैष्णव धर्म का प्रचार एवं प्रसार होने पर भी गुजरात के जिस भू भाग में नरसी हुए वहाँ का तत्कालीन धार्मिक वातावरण राधा-कृष्ण की मधुर भक्ति के लिए पूर्णत अनुकूल नहीं था। इसके विपरीत ब्रज राधा-कृष्ण की प्रेम भक्ति के लिए अतीव अनुकूल प्रदेश था। सूर के समय तक वह विभिन्न वैष्णव-सम्प्रदायों का केन्द्र बन गया था। क्योंकि ब्रज को प्राप्त कर भक्ति ने नारदजी से कहा था—

> वृन्दावन पुन प्राप्य नवीनेव सुरूपिणी।
> जाताहं युवती सम्यक् प्रेष्ठरूपा तु साम्प्रतम॥[1]

मैं ब्रज को पुन प्राप्त कर अतीव सुन्दरी युवती हो गई हूँ।

---

[1] श्रीमद्भागवत, 'भागवत माहात्म्य', पृ० ४, गोरखपुर, प्रथमावृत्ति, स १९९७।

साहित्यिक परिस्थिति

अपने पूर्व की वीरगाथा काव्य, सन्तकाव्य आदि विविध काव्यधाराओं के विषय एव शैली से सूर जिस भाँति किसी न किसी रूप मे प्रभावित रहे, उसी भाँति नरसी भी अपने पूर्व की काव्य-प्रणालियो से प्रभावित रहे है। नरसी के पद गरबी शैली से सम्बद्ध हे। उनके झूलणा छन्द मे निबद्ध पद मराठी सन्त नामदेव से प्रभावित माने जाते है। इसके अतिरिक्त विषय की दृष्टि से हमारे दोनो विवेच्य कवि 'भागवत' से प्रभावित रहे है। जिस भाँति सूर-काव्य का मेरु-दण्ड 'श्रीमद्भागवत' माना जाता है, उसी भाँति नरसी के समस्त कृष्णलीला-परक काव्य एव स्फुट पद 'भागवत' पर ही आधारित है।

इस प्रकार सूर एव नरसी के साहित्यिक प्रेरणा-स्रोत कुछ को छोडकर प्राय समान ही रहे है। श्रीमद्भागवत, जयदेव, कबीर, नामदेव आदि दोनो के समान रूप से 'प्रेरणा-स्रोत' कहे जा सकते है।

चतुर्थ अध्याय

सूर एवं नरसी के काव्य का दार्शनिक-पक्ष

चतुर्थ अध्याय

सूर एवं नरसी के काव्य का दार्शनिक-पक्ष

सूर एव नरसी के साहित्य की पृष्ठभूमि पर विचार करने के पश्चात् यहाँ दोनो के काव्य के दार्शनिक-पक्ष पर विचार किया जा रहा है।

सूर एव नरसी तत्त्वत दार्शनिक नही थे। उनके साहित्य का प्रयोजन दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण नही किन्तु रास-रसेश्वर भगवान् कृष्ण की मधुर-लीलाओ का गान था। कृष्ण को भक्ति-लभ्य मानकर ही दोनो अहर्निश उनका माहात्म्य गान किया करते थे[१], किन्तु भक्ति का दर्शन के साथ प्रगाढ सम्वन्ध होने से दोनो के काव्य मे उच्चकोटि के दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण भी हुआ है।

सूर का सम्वन्ध ऐसे सम्प्रदाय से रहा, जिसका मूल भारतीय दर्शन की किसी विशेष चिन्तनधारा से सम्वद्ध है। सूर शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ के शिष्य थे। अत. उनके काव्य मे वल्लभाचार्य के अनुसार ब्रह्म, जीव, जगत्, ससार, माया, मोक्ष आदि दार्शनिक तत्त्वो का निरूपण होना स्वाभाविक है।

सूर की भाँति नरसी का किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्वन्ध नही था। उनके दीक्षागुरु कौन थे, इसका आज तक एक भी प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नहीं हुआ है। सूर की तरह उनको आचार्य वल्लभ जैसे श्रेष्ठ गुरु से विधिवत् न 'तत्त्व श्रवण' का अवसर प्राप्त हुआ था और न 'लीलाभेद' सुनानेवाला कोई अधिकारी आचार्य ही उनको मिला था। अपने जीवन-काल मे वे अनेक सन्तो के सम्पर्क मे आए। सम्भव है, सन्तो के पावन सत्सग से ही उनको उत्तम भक्ति एव उच्चकोटि का दार्शनिक ज्ञान उपलब्ध हुआ हो। ब्रह्म, जीव, जगत्, माया आदि विषयो से सम्वद्ध उनके दार्शनिक विचार 'भक्तिज्ञानना पदो' मे मिलते है। यहाँ उनके दार्शनिक विचारो पर प्रकाश डालने से पूर्व हम यह स्पष्ट कर लेना आवश्यक समझते है कि उनकी विचार-धारा किस दर्शन के अधिक निकट है।

इस सम्वन्ध मे डा थूथी अपने शोधग्रन्थ मे लिखते है, "नरसी एव वल्लभाचार्य के विचारो एव भावो मे अद्भुत साम्य है।"[२] नर्मद नरसी के विष्णुस्वामी मतावलम्वी होने की सम्भावना वताते हुए लिखते हैं—"विष्णुस्वामी ने शालिग्राम के पूजन, भागवत और गीता को प्रमुखता दी है। नरसी शालिग्राम की पूजा करते थे और कृष्णावतार की महिमा गाते फिरते थे। अत

---

१ पुरुषः स पर: पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया। श्लोक ८८, शुद्धाद्वैत मार्तण्ड, गो० गिरधर।

२ There is remarkable similarity of views and sentiments between Narasinha and Vallabhacharya. Vaishnavas of Gujarat.

सम्भव है वे विष्णुस्वामी के मतानुयायी हो।[१] ऐसी सम्भावना की जाती है कि विष्णुस्वामी की दार्शनिक परम्परा में आचार्य वल्लभ हुए थे। अतः नर्मद अप्रत्यक्ष रूप से नरसी की दार्शनिक विचारधारा का सम्बन्ध शुद्धाद्वैत के साथ निर्धारित करना चाहते हैं। हरिप्रसाद के भट्ट लिखते हैं, 'इनका वैष्णव मार्ग वल्लभाचार्य के जैसा ही था, पर उस समय वह पर्याप्त विकसित अवस्था में नहीं था।'[२]

डा जगदीश गुप्त ने अपने शोधग्रन्थ में नरसी के दार्शनिक विचारों पर प्रकाश डालते हुए उनके विचारों को शुद्धाद्वैत के अनुरूप ही सिद्ध किया है। वे लिखते हैं 'वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को सच्चिदानन्द, पूर्णपुरुषोत्तम, अक्षर सर्वशक्तिमान स्वतन्त्र व्यापक, अनन्त, षडगुणोपेत, विरुद्धधर्माश्रयी तथा अविकृतपरिणामी माना है। प्रथम और अन्त के कुछ विशेषण शुद्धाद्वैत के अन्तर्गत मान्य ब्रह्म की सबसे महत्वपूर्ण विशेषताओं को व्यक्त करते हैं। नरसी महेता के काव्य में भी ब्रह्म की ये विशेषताएँ उपलब्ध होती हैं। वस्तुतः ब्रह्म के विषय में शुद्धाद्वैत और नरसी महेता के दार्शनिक मत की समानता दर्शनीय है।[३]

अध्यापक केशवराम का शास्त्री ने भी नरसी के दार्शनिक सिद्धान्तों पर विचार किया है। उन्होंने नरसी को विष्णुस्वामी-परम्परा से ही सम्बद्ध माना है। वे लिखते हैं, 'श्रीवल्लभाचार्य के अविकृतपरिणामवाद विशुद्ध ब्रह्मवाद अथवा शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के बीजरूप में तथा उपनिषद् के महावाक्य 'एतदात्म्यमिदं सर्वं, स आत्मा तत्त्वमसि' और समग्र सृष्टि भगवदिच्छा का परिणाम है आदि सिद्धान्तों के दर्शन नरसी के इन पदों में उपलब्ध होते हैं।[४] शंकराचार्य अथवा उनके परवर्ती भर्तृ प्रपंच के सिद्धान्त में इन सिद्धान्तों को विकसित परम्परा का निरूपण हुआ है। इसीके समकालीन विष्णुस्वामी के सिद्धान्तों में तो शुद्धाद्वैत के दर्शन उपलब्ध होते ही हैं। हमारे विवेच्य कवि नरसी का इसी परम्परा में होना अधिक सम्भाव्य है।'[५]

डा थूथी, नर्मद ह फ भट्ट, डा जगदीश गुप्त तथा के का शास्त्री के विचार प्रायः समान ही हैं। सभी नरसी को शुद्धाद्वैत दर्शन से ही सम्बद्ध मानते हैं। इसके साथ ही नरसी के पदों में विराट एवं सकलव्यापी ब्रह्म तथा माया जीव, जगत् आदि का जिस रूप में निरूपण मिलता

---

१ नर्मगद्य', द्वितीयावृत्ति, १८८०, पृ० ४१।

२ 'बुद्धिप्रकाश' पु० ५०, १६०३, 'पन्दरमा तथा सोलमा सैकामा गुजरातमा थइ गयेला भक्तकविओ' निबन्ध मे पृ० २३६।

३ गु ब्र कृ तु अ, पृ १७५।

४ 'अ' जागीने जोउ तो। न म का स, पृ ४८६।
'आ' निरखने गगनमा। न म का स, पृ ४८४।

५ श्री वल्लभाचार्यना अविकृतपरिणामवाद, विशुद्ध ब्रह्मवाद किंवा शुद्धाद्वैत सिद्धान्तना बीज रूपे अने उपनिषद्‌ना महावाक्य 'एतदात्म्यमिदं सर्वं, स आत्मा, तत्त्वमसि, ना तेम ज समग्र सृष्टि भगवाननी इच्छासृष्टि छे उपनिषत्सिद्धान्तना दर्शन, नरसिंहना उक्तपदोमा सुलभ छे श्री शंकराचार्य के पछी तरतमा थएला भर्तृप्रपंचना सिद्धान्तमा आनो थोडो पण विकास देखाय छे लगभग एनी नजीकमा ज थयेला द्रविड देशना नृसिंहोपासक विष्णुस्वामीना सिद्धान्तमा तो 'शुद्धाद्वैत' नी भाळी थाय छे न नरसिंहनी आ परम्परामा होवानी भारी सभावना नथी 'नरसे महेताना पद', के का शास्त्री, पृ ३७।

है, उसके आधार पर भी यही कहा जा सकता है कि उनके दार्शनिक विचार शुद्धाद्वैत अथवा ब्रह्मवाद के ही अनुरूप है। जगत् की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उन्होने शुद्धाद्वैत के अनुसार 'अविकृत-परिणामवाद' को ही माना है। शुद्धाद्वैत के मूल प्रवर्तक विष्णुस्वामी एव पुनरुद्धारक वल्लभाचार्य माने जाते है। अपने दार्शनिक सिद्धान्तो को लक्ष्य मे रखकर विष्णुस्वामी ने 'सर्वज्ञ-सूक्ति' नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया था, जो आज अनुपलब्ध है। 'श्रीमद्भागवत' के प्राचीन भाष्यकार श्रीधर ने लगभग १३वी शती मे अपने भागवत के भाष्य मे 'सर्वज्ञसूक्ति' के निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किये है, जो विष्णुस्वामी के दार्शनिक विचारो की ओर सकेत मात्र करते है—

तदुक्तं विष्णुस्वामिना—

ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः।
स्वाविद्या संवृतो जीवः संक्लेश निकराकरः॥

तथा

स ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयार्ऽदितः।
स्वाविर्भूत परानन्दः स्वाविर्भूत सुदुःखभूः॥
स्वादृगुत्थविपर्यासभव-भेदजनीशुचः।
यन्मायया जुषान्नास्ते तमिमं नृहरि नुमः॥'

"ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है और वह अपनी ह्लादिनी सविद् के द्वारा आश्लिष्ट है। जीव अपनी ही अविद्या-माया से आवेष्टित है और वह सर्वक्लेशो का आगार है। माया ईश्वराधीन एव जीव माया से आवृत है। जीव स्वय आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है और स्वय दु.ख भी भोगा करता है। सत्, चित्, नित्य एव पूर्णानन्दमय ईश्वर को विग्रहधारी नृसिह भी कह सकते है।"

नरसी के ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप तथा जीव, माया विषयक विचार विष्णुस्वामी के उपर्युक्त विचारो से पूर्ण साम्य रखते है। अत नरसी के दार्शनिक विचार महद् अश मे शुद्धाद्वैत से ही सम्बद्ध है। इसके अतिरिक्त उनमे कही शकराचार्य के केवलाद्वैत अर्थात् अद्वैतवेदान्त के सिद्धान्त की विचारधारा भी दीख पडे, तो वह उनके जगत् के प्रति सामान्य रूप से अभिव्यक्त किये गये विचार ही कहे जाएगे।[2]

उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो सका है कि सूर की भाँति नरसी के काव्य मे भी मुख्यत शुद्धाद्वैत दर्शन के ही तत्त्व उपलब्ध होते है। यहाँ हम प्रथम इस सिद्धान्त के ही प्रमुख तत्त्वो का निरूपण करने के पश्चात् दोनो कवियो के ब्रह्म, जीव, जगत्, माया, मोक्ष, रास आदि विषयो पर विवेचन प्रस्तुत करेगे।

शुद्धाद्वैतवाद

'शुद्धाद्वैत' मे शुद्ध शब्द का अर्थ है मायारहित। माया के सम्बन्ध से रहित ब्रह्म ही जगत् का कारण एव कार्य है। माया-शवलित ब्रह्म जगत् का कारण और कार्य नही है। ब्रह्मविदो

---

१ श्रीमद्भागवत, श्रीधरी टीका, स्कं ३, १-७-६। २ गु सा म, पृ. ६७।

का भी यही मत है।[1] शुद्धाद्वैत शब्द का 'शुद्धं च तद् अद्वैतम्' इस प्रकार से कर्मधारय अथवा 'शुद्धयोः अद्वैतम्' के रूप में षष्ठि-तत्पुरुष समास करना उचित है।[2] ब्रह्मवाद से अभिप्राय है सब ब्रह्म इतिवाद ब्रह्मवाद अर्थात् ब्रह्म, जीव और जगत् सभी ब्रह्मरूप हैं। जीव और जगत दोनों ही सत्य हैं। जगत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शुद्धाद्वैतवाद में अविकृतपरिणामवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया गया है। इसका तात्पर्य यह कि जगत ब्रह्म का विकाररहित परिणाम है। ब्रह्म ने ही अपनी रमण करने की इच्छा से समस्त चराचर का सृजन किया है। जिस प्रकार साँप अपनी इच्छा से कुण्डलाकृति हो जाता है और फिर भी वह निर्विकार रहता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी जगद्रूप में परिणमित होकर भी विकाररहित हो रहता है। सुवर्ण से कटक कुण्डलादि आभूषण निर्मित किये जाने पर भी सुवर्ण जिस प्रकार अविकारी रहता है और कामधेनु एवं चिन्तामणि से समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होने पर भी ये जिस भाँति अविकारी रहते हैं, उसी भाँति ब्रह्म भी अविकारी है। इसी को अविकृतपरिणामवाद कहते हैं।[3]

ब्रह्म का स्वरूप

आचार्य वल्लभ ने कहा है कि ब्रह्म सत्, चित और आनन्द स्वरूप है। वह सर्वत्र व्यापक, अव्यय, सर्वशक्तिमान, स्वतन्त्र, सर्वज्ञ एवं गुणवर्जित है। वह अद्वैत है। अन्य दार्शनिकों ने ब्रह्म को जहाँ अत्यन्त निर्विशेष, निराकार एवं निर्गुण माना है वहाँ आचार्य वल्लभ ने ब्रह्मसूत्र के आधार पर ब्रह्म को 'सर्वधर्मोपपत्तेश्च' के अनुसार सर्वमय कहा है।

ब्रह्म अनन्त स्वाभाविक गुणों से युक्त एवं मायाधीश है। वह अद्वैत है, सर्वरूप है और सत्य है। वह अन्तर्यामी, वैश्वानर, आधार, आश्रय, भुक्त, प्राणभूत, भूमन, अक्षर, प्रकाशक एवं परमात्मा है। शंकर की श्रुतियों की तरह वह सर्वांग आनन्द स्वरूप है। सच्चिदानन्द ब्रह्म नित्य है और उसकी लीला भी नित्य है। वल्लभ-सम्प्रदाय में ब्रह्म के तीन रूप मुख्य माने जाते हैं—(१) आधिदैविक परब्रह्म, (२) आध्यात्मिक अक्षरब्रह्म और (३) आधिभौतिक जगत ब्रह्म। आधिदैविक परब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। वह एकमात्र भक्ति से ही लभ्य है। तैत्तिरीयोपनिषद् के अनुसार वह 'रसो वै सः' रसरूप है। श्रीकृष्ण ही स्वयं रसरूप परब्रह्म है। अक्षरब्रह्म ज्ञानगम्य है। उसमें आनन्दांश स्वल्पमात्रा में तिरोहित रहता है। कार्य एवं कारण में अभेद होने के कारण ब्रह्म से उत्पन्न कार्यरूप जगत भी ब्रह्मरूप है।

आचार्य वल्लभ का ब्रह्म शंकर के समान अन्त में निर्गुण निराकार नहीं है। शंकर के अनुसार ब्रह्म का सगुणत्व उसके निर्गुणत्व की अपेक्षा थोड़ा निम्न है। उनके मत में ब्रह्म का सगुण रूप प्राथमिक दशा में उपासना के लिए है। ज्ञान दशा प्राप्त होने पर सगुण की अपेक्षा नहीं

---

१ मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः। कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्॥२८॥
इतिब्रह्मविदां हार्दं शुद्धाद्वैतं अनामयम्॥ शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, गो० गिरधरजी।

२ शुद्धाद्वैत पदे ज्ञेय समास कर्मधारय। अद्वैत शुद्धयो प्राहु षष्ठी तत्पुरुष बुधा॥
शु० मा० गो० गिरधरजी।

३ रमणार्थमिदं सर्वं अभूच्च स्वेच्छयाऽभवत्। यथा सर्पः स्वेच्छया हि कुण्डलाकारतां गतः॥१२॥
न विकारि तथा ब्रह्म यामै सूत्रे निरूपितम्। सुवर्णस्याविकारित्वं कामधेनोमणेरपि॥१३॥
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड।

रहती है। वल्लभ का ब्रह्म एक ही है—वह सगुण भी है और निर्गुण भी। वह जागतिक गुणो से रहित होने के कारण निर्गुण एव आनन्दादि दिव्य-धर्म-युक्त होने के कारण सगुण है। इसी तरह वह निराकार भी है और साकार भी। इस प्रकार जब उस ब्रह्म के माहात्म्य का ज्ञान होता है और उसके द्वारा ब्रह्म-स्वरूप के प्रति तीव्र-भक्ति उत्पन्न होती है तब अन्त मे उसीसे मुक्ति प्राप्त होती है।

ब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयत्व

आचार्य वल्लभ ने 'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्', 'प्रकाशाश्रयाद्वा तेजस्त्वात्' आदि सूत्रो के आधार पर ब्रह्म को विरुद्ध सर्वधर्मयुक्त माना है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म निर्धर्मक है तथापि सधर्मक है, निराकार है तो भी साकार है, निर्विशेष है तो भी सविशेप हे और निर्गुण है तो भी सगुण है। वह अणु से भी अणु एव महान् से भी महान् है। ब्रह्म के रूप अनन्त है, फिर भी वह एक और व्यापक हे। वह कूटस्थ-अचल है, फिर भी चल है। इस तरह वह अकर्ता और कर्ता, अविभक्त और विभक्त, अगम्य और गम्य जैसे परस्पर विरोधी धर्मो का आश्रय है। ब्रह्म अदृश्य होने पर भी दृश्य है। वह विविध प्रकार की सृष्टि करता है, फिर भी विषयो से दूर है। क्रूरकर्मा है, फिर भी निर्दय नही है। ब्रह्म और उसके धर्म सूर्य और प्रकाश की तरह अनन्य है। ब्रह्म अनेक रूपवाला है, फिर भी सैंधव की तरह अन्दर और बाहर सर्वत्र सदा एकरस है, शुद्ध है। वह बालक है, फिर भी उत्तम रसिक है। वह जैसे स्ववश है, वैसे ही परवश—भक्ताधीन भी है। वह निर्मम, निरपेक्ष और चतुर है, फिर भी भक्तो के पास वह डरपोक, इच्छायुक्त एव प्रमत्त है। वह सर्वज्ञ है, फिर भी भक्तो के पास अज्ञानी है। भागवत मे कहा गया है कि "विह्वलतापूर्ण बाते सुनकर योगेश्वर भगवान् कृष्ण दयापूर्वक मुसकाये और आत्माराम होने पर भी गोपियो के साथ रमण करने लगे।"[1] पूर्णकाम होने पर भी भक्त की कामना पूर्ण करने के लिए ब्रह्म काम—इच्छा से सतप्त है। दीन न होने पर भी भक्त के समक्ष वह नम्रता से बोलता है। स्वय प्रकाश होने पर भी भक्त के अतिरिक्त अन्य के पास वह प्रकाशित नही होता है। वह बाहर और अन्दर दोनो जगह रहता है। वह स्वतन्त्र होने पर भी पराधीन है। ब्रह्म आधार एव आधेय है, फिर भी अविकृत एव निर्लेप है। ब्रह्म प्रमाण एव प्रमेय, साधन और फल दोनो है।

इस तरह का ब्रह्म सर्वविरुद्ध धर्म का आश्रय-स्थान है। इसमे तर्क को कोई स्थान नही। सभी वाद भ्रमजन्य कल्पना के परिणाम है। किसी भी वाद ने ब्रह्म के अश का स्पर्श भी नही किया है, फिर भी ब्रह्म अपनी इच्छा से सर्ववादो के अनुकूल हो जाता है। प्रत्येक वाद ब्रह्म के एक-एक अश का प्रतिपादन करता है। ब्रह्म सभी वादो का अनुसरण करता हे, क्योकि अक्षर, पद, वाक्य भी ब्रह्मरूप ही है। अवतार धारण करने पर वह प्रापचिक जगत् के धर्मो को स्वीकार करता है, फिर भी वह अचल एव अच्युत है। वह निर्विकारी होने पर भी कृपा करके जगद्रूप

---

१ इति विक्लवितं तासा श्रुत्वा योगेश्वरेश्वर.। प्रहस्य सदय गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥
भा. स्कं १०, अ २९, श्लो. ४२।

म परिणमित होता है। इस तरह ब्रह्म सभी विरुद्धधर्मों का आश्रय बनता है और अपने अगाध माहात्म्य को प्रकट करता है।

ब्रह्म का सचकतृत्व

ब्रह्म सदा अच्युत और अविकृत है। वह जगत् के रूप म परिणमित होता है तथापि वह अविकारी है। निर्गुण ब्रह्म अपने अगाध माहात्म्य को प्रकट करने के लिए ही सृष्टि के रूप म परिणमित होता है। स एकाकी न रमते स द्वितीयमच्छत् के अनुसार वह अकेला रमण नहीं कर सकता था। अत उसने दूसरे की कल्पना की और फलत एकोऽहं बहुस्याम के रूप मे वह स्वय ही जीव जगत् आदि रूपो म परिणत होकर लीला करने लगा। इस प्रकार वह आविर्भाव तिरोभाव के द्वारा अनेक लीलाएँ करता रहता है।

उपयुक्त विवेचन का सार यह है कि ब्रह्म स्वय पूर्ण है। वही कृष्ण है। वह समस्त विरुद्धधर्मों का आश्रय स्थान है। सुवणकटककुडलादिवत वह जगत् रूप म विकार रहित स्थिति म परिणत होता है। वह आनन्द एव रसरूप है और परित्राणाय साधूना के अनुसार वही प्रत्येक युग म अवतरित होता है।

हमारे विवेच्य कवि सूर एव नरसी की रचनाओ म ब्रह्म एव उसके स्वरूप का निरूपण महद् अश म इसी रूप म हुआ है। यहाँ हम इसीके आधार पर दोनो के ब्रह्म-सम्बधी विचारो की तुलना प्रस्तुत करते है।

ब्रह्म

उपनिषद गीता भागवत एव अन्य पुराणो मे कृष्ण तथा ब्रह्म म अभेद माना गया है। भागवत म ऋषि मनु देवता महातेजस्वी मनुपुत्र और प्रजापति गण को विष्णु के अश बताकर कृष्ण को सम्पूर्ण कलाओ से युक्त भगवान कहा गया है—

ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजस ।
कला सर्वे हरेरेव सप्रजापतयस्तथा ।२७।[1]
एते चाशकला पुस कृष्णस्तु भगवान्स्वयम ।

तथा भगवान परमात्मा और ब्रह्म को एक ही अर्थ का ज्ञापक कहा है—

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्व यज्ज्ञानमदवयम ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ।।११।।[2]

आचाय वल्लभ कृष्ण को ही ब्रह्म मानते है। सूर एव नरसी दोनो ने कृष्ण को कई स्थानो पर साक्षात परब्रह्म ही निरूपित किया है। सूर ने जहाँ पुराण प्रसिद्ध पूर्णब्रह्म को यशोदा की क्रोड म खेलते देखकर आश्चय प्रकट किया है वहा नरसी ने ब्रह्मा, शकर एव इन्द्र तक जिनके

१ भागवत, १ ३ २७। २ भागवत, १ २ ११।

दर्शन के लिए लालायित रहते हैं, उन कृष्ण को गोपिका के मुख-सौन्दर्य का पान करने के लिए द्वार पर तरसते हुए बताया है—

सूर

पूरन ब्रह्म पुरान बखानै । चतुरानन सिव अन्त न जानै ।
गुन गन अगम, निगम नहिं पावै । ताहि जसोदा गोद खिलावै ।[1]

नरसी

(अ) ते ब्रह्म द्वार आवीने उभा रह्या, गोपिका मुख जोवाने ढूके
अज भव सुरपति स्वप्ने पेखे नहीं, नेति नेति कही निगम वामे ।
नरसैंयो रंक, जश गाइने रीझवे, सहस्र मुखे शेष पार न पामे ।[2]

(आ) परणमूं (प्रेमि) परब्रह्म पुरुषोत्तमनि,
दासनी वीनती हृदय धरज्यो ।[3]

(इ) दुःख सवि परहरीं, प्रेम प्रीत्यें करी,
पूरण ब्रह्म किहि, प्रेम आणी,
यद्यपि दीन छा, जन्म-ले-लीन छां,
जेह जन गाय पद-हार तोरां,
कोटच-ब्रह्माण्ड-पति मुख्य करे वीनती,
नरसिंआ ! तेइ जनजीव मोरां ।[4]

उपर्युक्त तीनो उद्धरणो मे से प्रथम मे आत्माराम होने पर भी गोपियो के साथ रमण करने, द्वितीय मे ग्रन्थ के प्रारम्भ मे मगलाचरण करने तथा तृतीय मे ब्रह्म के दीन न होने पर भी भक्त के सम्मुख नम्रतापूर्ण व्यवहार करने के सन्दर्भ मे कृष्ण के ब्रह्मत्व का निरूपण किया गया है। प्रथम एव तृतीय मे नरसी ने ब्रह्म के विरुद्धधर्माश्रयत्व का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म सर्व विरुद्ध-धर्म का आश्रय-स्थान है। वह पूर्णकाम होने पर भी भक्त की कामना पूर्ण करने के लिए काम-संतप्त होता है। गोपिका के द्वार पर खडे कृष्ण पूर्णकाम होने पर भी भक्त गोपिकाओ की कामेच्छा तृप्त करने के लिए स्वय काम-सन्तप्त बने हुए है। ब्रह्म अदीन होते हुए भी भक्त के समक्ष दीन बनकर नम्रवाणी बोलता है। कोटि ब्रह्माण्डाधिपति अपने भक्त के सम्मुख दीन-वाणी मे विनती कर रहे है कि जो तेरे 'हार' के पद गायेगा वह मेरा परम प्रिय भक्त हो जाएगा। आचार्य वल्लभ ने 'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्' तथा 'प्रकाशाश्रयद्वा तेजस्त्वात्' के आधार पर ब्रह्म को विरुद्धसर्वधर्मयुक्त माना है। नरसी के उक्त उद्धरणो मे इसी भाँति ब्रह्म के विरुद्ध-धर्माश्रय के विचार निरूपित हुए है।

दोनो कवियो ने अनेक स्थानो पर ब्रह्म के सगुण एव निर्गुण दोनो स्वरूपो का निरूपण किया है। आचार्य वल्लभ के मतानुसार भी ब्रह्म के दोनो रूप मान्य है। ब्रह्म जागतिक गुणो मे

१. सू०, प ६२१। २. न. म. का. सं., पृ ४७६। ३ हा. स. हा के, पृ. ६।
४. हा स. हा. के, पृ. ३२।

रहित होने के कारण निर्गुण है तथा आनन्दादि दिव्यधर्म युक्त होने के कारण सगुण है। सूर ने आचार्य वल्लभ के अनुसार ही निर्गुण एवं सगुण दोनों का निरूपण किया है—

(अ) गुन अतीत, अविगत, न जनाव, जस अपार, स्तुति पार न पाव।
 ० ० ०
जाकी माया लख न कोई। निगुन सगुन धर बपु सोई।
अगम, अगोचर, लीलाधारी। सो राधा बस कुज बिहारी।[1]

(आ) बेद उपनिषद जासु कौं, निरगुन नहिं बताव।
सोइ सगुन ह्वै नद को दावरो बँधाव॥[2]

(इ) सरन गए जो होइ सु होई।
वे करता, वेई हैं हरता, अब न रहौ मुख गोइ॥
ब्रज अवतार कह्यौ है श्रीमुख, तेई करत बिहार।
पूरन ब्रह्म सनातन वेई, मैं भूल्यौ संसार॥[3]

सूर की भांति नरसी ने भी ब्रह्म के सगुण निर्गुण दोनों स्वरूपों का निरूपण किया है—
निरगुण नाथ ने, नरखी ते नव शके, सिरगुण ने सरतेन जाणे।[4]

दोनों कवियों ने समान रूप से शंकर के निर्गुण की अपेक्षा सगुण पर विशेष भार दिया है। जिस प्रकार सूर ने उद्धव-गोपी प्रसंग में निर्गुण के प्रति उदासीनता व्यक्त की है उसी प्रकार हारमाळा प्रसंग के भीम नामक साधु के साथ नरसी ने भी अपने वाद विवाद में निर्गुणोपासना के स्थान पर छल छबीले कृष्ण की मधुर भक्ति की ही प्रबल इच्छा व्यक्त की है—

सूर

उद्धव— 'जो ब्रत मुनिवर ध्यावहीं पर पावहिं नहिं पार।
सो ब्रत सीखो गोपिका, हो छाँडि विषय बिस्तार॥'
गोपिका—'हम अबला कह जानहीं, जोग-जुगुति की रीति।
नदनदन व्रत छाँडि क, हो, को लिखि पूज भीति॥'[5]

नरसी

भीम— 'था सन्यासी, ज रहि काशी, भलु हुआ तो निगुण ग्रहि।'
नरसी— 'छल छबीलो न छोगाळो,
तेहनि मेहलीनि बीजो भजवो नथी।'[6]

अविकृतपरिणामवाद

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सूर एवं नरसी दोनों शुद्धाद्वैत में स्वीकृत अविकृतपरिणामवाद को मानते हैं। इस सम्बन्ध में सूर ने जल और बुद्बुद तथा नरसी ने कनक-कुण्डल के

१ सू० प ६२११। २ सू०, प ४। ३ सू, प १८६२। ४ न म का म, पृ ४८७।
५ भ्रमरगीतसार, स० आचार्य रा च शुक्ल प १०। ६ हा म हा मे, पृ ३६।

द्वारा अपने विचार व्यक्त किये हैं। चराचर सृष्टि के अणु-अणु मे व्याप्त ब्रह्म को सूर ने जल के बुदबुदे के रूप मे तथा नरसी ने कनक की कुडलवत् परिणति बताया है—

सूर

ज्यो पानी मे होत बुदबुदा पुनि ता मांहि समाही।
त्यो ही सब जग कुटुम्ब तुमहि ते पुनि तुम माहि विलाहीं।[1]

नरसी

अखिल ब्रह्माण्डमां एक तुं श्रीहरी, जूजवे रूपे अनन्त भासे,
देहमां देव तुं तेजमां तत्त्व तुं, शून्यमां शब्द थई वेद वासे.
पवन तुं पाणी तुं भूमि तुं भूधरा, वृक्ष थई फूली रह्यो आकाशे;
विविध रचना करी, अनेक रस लेवाने, शिवथकी जीव थयो एज आशे.
वेद तो एम वदे, श्रुति स्मृति शाख दे, कनक कुडल विषे भेद नो होय;
घाट घडिया पछी, नाम रूप जूजवां, अंत्ये तो हेमनु हेम होय.[2]

सृष्टि की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त आचार्य वल्लभ मे भी पूर्ववर्ती है। सम्भव है, नरसी ने औपनिषदिक ग्रन्थो, अथवा सन्तो की वाणियो से ये विचार प्राप्त किये हो।

भगवान् का रसरूपत्व

छान्दोग्य-उपनिषद् के 'रसो वै स' के आधार पर ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। वल्लभ-सम्प्रदाय मे भगवान् कृष्ण स्वय रसरूप माने जाते हैं। सूर और नरसी दोनो कवियो ने भगवान् के रस-रूप होने का उल्लेख किया है—

सूर

सदा एक रस एक अखण्डित अनादि अनूप।[3]

नरसी

(अ) श्री पुरुषोत्तम करू प्रणाम जी, रंग सलूणा अद्विज नाम जी;
स्नेहशिखर गुणडाना ग्राम जी,
नेह निभावन अति अभिराम जी,
सुभग शिरोमणि पूरण काम जी,
मन-वचन-साधन अन्तरजामी जी.[4]

(आ) अखिल शिव आद्य आनन्दमय कृष्णजी, सुन्दरी राधिका भक्ति तेनी.

० ० ०

जे रस व्रजतणी नार विलसे सदा, सखीरूपे ते नरसंये पीधो.[5]

शुद्धाद्वैत के अनुसार नरसी ने अगणित ब्रह्म-स्वरूप का भी वर्णन किया है—

अगणित ब्रह्मनु गणित लेखु करे, दुष्ट भावे करी, माळ झाले.[6]

---

१. सू०, पृ ५६५। २. न. म. का. स., पृ ४८५। ३. सूरसारावली, पृ. ६८। ४. चा ज. पृ. ७१। ५ न. म का. सं, पृ. ४८६। ६ न म का स, पृ ४८४।

भगवान कृष्ण भक्तो के परित्राण के लिए अवतार धारण करते है। दोनो कवियो ने समान रूप से पूर्णब्रह्म के कृष्ण के रूप मे अवतरित होने का निरूपण किया है। कृष्ण के आदेश से नित्य व्रजधाम के समस्त चराचर पदार्थ लीला करने के लिए भूतल पर अवतरित होते हैं। दोनो कवियो का अवतार-वर्णन इस सम्बन्ध मे द्रष्टव्य है—

सूर

छीर-समुद्र-मध्य ते यौं हरि, दीरघ बचन उचारा।
उधरौं धरनि, असुर-कुल मारौं, धरि नर-तन अवतारा॥
सुर, नर-नाग तथा पसु-पच्छी, सब कौं आयसु दीन्हौ।
गोकुल जन्म लेहु सँग मेरे, जो चाहत सुख कीन्हौ॥
० ० ० ०
सकल लोक-नायक, सुखदायक, अजन, जन्म धरि आयौ।[1]

नरसी

धन्यरे धन्य महापुण्य जशोदातणु, पुत्र भावे परिब्रह्म राजे,
नंदनो नंद आनंद थइ अवतर्यो, शेष बळिभद्र संगे बिराजे
अमर आहीर, अरधांग गोपांगना, वृक्षवेली सव ऋषिराणी,
भक्ति ते राधिका, मुक्ति जशोमति, व्रज वकुंठ ते वेदवाणी
निगम वासुदेवजी, गाय गोपी ऋचा, देवकी ब्रह्मविवाद कहावे,
ब्रह्मा करलाकडी, वेणु महादेवजी, पंचवदन करी गान गावे
इंद्र अर्जुन अहंकार दुर्योधन, देवता सर्व अवतार लीधो,
धर्म ते राय युधिष्ठिर जाणजो, दासनो दास नरसने कीधो[2]

उपर्युक्त पद्यो मे दोनो कवियो का दृष्टिभेद भी विचारणीय है। सूर के वर्णन मे भगवान विष्णु स्वयं अपने अवतरित होने के प्रयोजन की उदघोषणा करके समस्त सुर नर-नागादि देव जातियो एवं सकल दिव्य उपकरणो को भूलोक पर अवतीर्ण होने का आदेश देते हैं। इससे भिन्न नरसी ने सर्वप्रथम ब्रह्म के कृष्णरूप मे अवतरित होने के उपलक्ष्य मे देवकी के स्थान पर यशोदा के भाग्य की सराहना की है और तत्पश्चात देवता देवागनाएँ, वृक्ष लताएं आदि गोलोक से भूलोक पर जिन रूपो मे अवतीर्ण हुए उनका निरूपण किया है। कृष्ण के हाथ की लकुटी को ब्रह्मा व वेणु को शकर का रूप मानना तथा स्वयं को दास के रूप मे अवतरित मानना कवि की अद्‌भुत कल्पना का प्रमाण है। सूर साहित्य मे इस कोटि की कल्पना कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई है।

दोनो कवियो ने अपनी भव्य कल्पना के आधार पर ब्रह्म के विराट रूप का भी वर्णन किया है। ब्रह्म के इस दिव्यातिदिव्य रूप की कल्पना का मूलाधार ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की सहस्रशीर्ष पुरुष सहस्राक्ष ऋचा है। विराट-पूजा का आनन्द नरसी के लिए गूंगे के गुड की भांति

१ सू०, प ६२०। २ न म का म, पृ ४८३।

अनिर्वचनीय है। अनन्त रूपो मे अखिल ब्रह्माण्ड के अणु-अणु मे व्याप्त ब्रह्म की वह किस भाँति पूजा करे ?

तारी केम करी पूजा करुं, श्रीकृष्ण करुणानिधी अकल आनंद कळ्यो न जाये;
स्थावर जंगम विश्वव्यापी रह्यो, केशवा कहीये केम समाओ.
वार मेघे करी, स्नान श्रीपति कर्या, शंखनी धारे हरि केम रीझ्या.
ओगण पंचाश तुने वायु वंजन करे, सूक्ष्म वायु तुने केम गमी जा
सूरज रूपे करी, व्रण त्रिभोवन तप्यां, चन्द्ररूपे करी, अमृत ठार्या.
मेघ रूपे करी, वरशो रे विठ्ठला, वायु रूपे करीने वधार्या.
अराढ भार वनस्पति, हर्रनिश पीमळे, माळी ते पांतरी शीरे लावे.
चुवा चन्दन करी प्रभु तुने पूजीए, अंगना वेहकनी तुल्य ना'वे.
तारे नित नित अवनवा नैवेद कमळा करे, सूक्ष्म नैवेद केम तुल्य आवे.
भणे नरसैयो, जेने कृष्णरस चाखियो, पुनरपि मातने गर्भ ना'वे[1]

इसी भाँति एक अन्य पद मे नरसी ने विराट् रूप की कल्पना करते हुए उसे आदि-मध्यान्त-रहित, कोटि-कोटि रवि-शशि से भी अधिक देदीप्यमान तथा कोटि ब्रह्माण्डो को उसके एक रोम सदृश क्षुल्लक बताकर सगुण-निर्गुण दोनो रूपो मे उसे विलसित बताया है—

(देवा) आद्य तुं मध्य तु अंत्य तुं त्रिकमा, एक तुं एक तु एक पोते;
अखिलचो ब्रह्म ब्रह्मादिक नव लहे, भूरचा मानवी अन्य गोते.
रवि-शशि कोटि नख चंद्रिकामां वसे, दृष्टि पहोचे नहीं खोज खोळे;
अर्क उद्योत ज्यम तिमिर भासे नहीं, नेति नेति कही निगम डोळे.
कोटि ब्रह्मांडना ईश धरणीधरा, कोटि ब्रह्मांड एक रोम जेनु,
मर्म समज्या विना भर्म भागे नहि, सगुण स्वरूप निर्गुण एनु,
ए नथी एकलो विश्वथी वेगळो, सर्व व्यापिक छे शक्ति स्तुल्य जेनी.[2]

नरसी जहाँ एक ओर उत्तम कोटि के कवि थे, वहाँ दूसरी ओर वे गम्भीर चिन्तक एव दार्शनिक भी थे। दर्शन एव काव्यत्व की मधुर भावनाओ का मणिकाचन योग उनके कई पदो मे उपलब्ध होता है। उदाहरण के रूप मे कवि का एक पद प्रस्तुत किया जाता है, जो भारतीय साहित्य मे ही नही, अपितु विश्व-साहित्य मे अप्रतिम है। काव्यत्व एव दर्शन के उत्तम कोटि के विचारो के सामजस्य का ऐसा उदाहरण 'सूरसागर' मे उपलब्ध नही होता है। कवि ने ब्रह्म की चिदाकाश मे सदा दीप्त-दीप की कल्पना करके ससार मे भ्रमित जीव को ब्रह्म द्वारा ही यह कहलवाया है कि, 'हे जीव! तू मेरा ही रूप है और मुझसे अभिन्न है।' कवि ब्रह्म के इस निरिन्द्रिय उद्घोष से इतना आनन्दमग्न हो गया है कि वह अविलम्ब स्वय को श्यामचरणो मे अर्पित करना चाह रहा है। ब्रह्म की इस अद्भुत शोभा को कवि बुद्धि से ऊपर अनुभूति का

---

१ न म. का म, पृ ४९५। २ न न का म, पृ ४८८।

३ This is perhaps one of the sublimest poems in the literature in the world, the poet combines here Philosophic hight with Poetic beauty. Gujarati Language and literature, N B Devatia, P 93.

विषय बता रहा है। मानव बुद्धि अविद्या मायाच्छन्न होने के कारण ब्रह्म विलास के दिव्य दर्शनों का लाभ न प्राप्त कर बीच मार्ग में ही भ्रांत हो जाता है। इसीलिए कवि भक्ति के द्वारा कोटि-कोटि सूर्यों से उद्भासित सुवर्णदोलारूढ पर-ब्रह्म के दर्शन प्राप्त करने की अभिलाषा व्यक्त कर रहा है। ब्रह्म अचक्षुग्राह्य है, अरूप है, अगम्य, इन्द्रियास्वाद्य है, अकल है, अविनाशी है, अध ऊर्ध्व सर्वत्र विश्व के अणु अणु में व्याप्त है और संत इसी ब्रह्म को सुकोमल प्रेम-तन्तु में आबद्ध रखते हैं—

> निरखने गगनमां कोण घुमी रह्यो, तेज हु तेज हु शब्द बोले,
> *श्यामना चरणमां, इच्छु छु मरण रे, अहींया कोइ नथी कृष्ण तोले*
> श्याम शोभा घणी बुद्धि ना शके कळी, अनंत ओच्छवमां पथ भूली,
> जड ने चेतन, रस करी जाणवो, पकडी प्रेम सजीवन मूळी
> जळहल ज्योत उद्योत रवि कोटमा हेमनी कोर ज्यां नीसरे ताले,
> सच्चिदानंद आनंद क्रीडा करे, सोनना पारणा माही झूले,
> बत्ति विण तेल विण, सूत्र विण जो वळी अचळ झळके सदा अनळ दीवो,
> नेत्र विण निरखवो, रूप विण परखवो, वण जिह्वाए रस सरस पीवो
> अकळ अविनाशी ए, नवज जाए कळयो अरध उरधनी मांहे महाले
> नरसयाचो स्वामी, सकळ व्यापी रह्यो, प्रेमना तंतमा संत झाले[1]

'तेज हु तेज हु शब्द बोले' का तात्पर्य यह कि परमात्मा आत्मा से कह रहा है कि 'तू मेरा ही अंश है, मेरा ही रूप है'। इसके द्वारा कवि ने शंकर के 'जीवो ब्रह्मैव नापर' सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। कवि श्याम चरण में मरण की कामना करता है अर्थात् आत्मा परमात्मा से मिलने को उत्सुक है।

सूर ने विराट रूप का वर्णन इस प्रकार किया है—

(अ) नननि निरखि स्याम-स्वरूप।
रह्यौ घट घट व्यापि सोई, जोति रूप अनूप।
चरन सप्त पताल जाके, सीस है आकास।
सूर चंद्र-नछत्र-पावक, सब तासु प्रकास।[2]

(आ) हरि जू की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी परति न गिरा गनी।
कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँडी सहस फनी।
मही सराव, सप्त सागर घृत, बाती सैल घनी।
रवि-ससि-ज्योति जगत परिपूरन, हरति तिमिर रजनी।
उडत फूल उडगन नभ अंतर, अंजन घटा घनी।
काल-कर्म-गुन ओर अन्त नहिं प्रभु इच्छा रचनी।
यह प्रताप दीपक सुनिरंतर लोक सकल भजनी।
सूरदास सब प्रगट ध्यान मैं अति विचित्र सजनी॥[3]

---

१ न म श्रा म पृ ४८४, ४८५। २ सू, प ३७०। ३ सू, प ३७१।

ब्रह्म के अणु-अणु मे व्याप्त होने के भाव दोनो कवियो मे विद्यमान है। दोनो ने ब्रह्म को अध, ऊर्ध्व एव सर्वत्र प्रकाशमान बताया है। सूर ने जहाँ सूर्य-चन्द्र-नक्षत्र-पावकादि समस्त ज्योतिर्पिडो को ब्रह्म से प्रकाशित बताया है वहाँ नरसी ने ब्रह्म को चिदाकाश मे सदा प्रकाशमान अनल-दीप बताकर कोटि-कोटि रवि-शशी के प्रकाश को उसकी नखचन्द्रिका मे अन्तर्भूत होते बताया है। तौलनिक दृष्टि से देखा जाए तो सूर के विराट् वर्णन मे नरसी की अपेक्षा वर्णनात्मकता का आधिक्य है। नरसी के वर्णन मे दर्शन के साथ काव्यत्व का सुभग समन्वय स्तुत्य है।

जीव

शुद्धाद्वैत के अनुसार अक्षरब्रह्म के चिदश से अग्नि से विस्फुलिगो की तरह जीवो की उत्पत्ति होती है।[1] अत जीव ब्रह्म के ही अश कहे गये है।[2] जीव ऐश्वर्याभाव मे दीन एव पराधीन, वीर्याभाव मे दु खी, यश के तिरोहित होने पर हीन, श्री के अभाव मे जन्ममरणादि जैसे अनेक दोषो से युक्त, ज्ञानाभाव मे अहकारी और सभी पदार्थो मे विपरीत बुद्धि रखनेवाला तथा वैराग्य के तिरोभाव मे विषयासक्त रहता है। इनमे से प्रथम चार के अभाव मे जीव को बन्धन तथा अन्तिम दो के अभाव मे विपर्यय हुआ। जीव मे आनन्दाश का तो पहले से ही अभाव था। इस तरह जीव दीन, पराधीन, दु खी एव मायालिप्त होकर ससार-चक्र मे भ्रमित होता रहता है।[3]

भक्ति से, जीव जब अविद्या से मुक्त हो जाता है तब वह पुन अपने मूल स्वरूप मे आ जाता है और ससार के दु खो से मुक्त होकर वह भगवद्कृपा से चार मुक्तियाँ प्राप्त करता है। यद्यपि भगवद्स्वरूप ज्ञान के लिए वल्लभाचार्य ने योगसिद्धि, दिव्यज्ञान एव भगवद्कृपादृष्टि इन तीनो मार्गो को अनुसरणीय माना है तथापि इनमे से अन्तिम को उन्होने सर्वाधिक महत्ता प्रदान की है। भगवान् वेदव्यास ने इसी मार्ग को राजपथ की सज्ञा दी है, क्योकि इसीके आचरण से श्रीहरि की अर्चा भली-भाँति हो सकती है।[4]

---

१ विस्फुलिगा इवाग्नेस्तु सदशेन जटा अपि।
आनन्दाशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामि रूपिण ॥३३॥ मप्रकाशस्तत्वदीपनिबन्धः, शास्त्रार्थ प्रकरण।

२. ममैवाशो जीव लोके जीवभूत सनातन। गीता, अ १५, श्लोक ७।

३ अस्य जीवस्यैश्वर्यादि तिरोहितम् तस्माद् ईश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्म तिरोभाव। ऐश्वर्यतिरोभावाद्दीनत्व, पराधीनत्व, वीर्यतिरोभावात् सर्वदु खसहन, यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्व, श्रीतिरोभावाज्जन्मादि सर्वापद् विषयत्व, ज्ञानतिरोभवाद्देहादिष्वहबुद्धि सर्व विपरीतज्ञान चापस्मारसहितस्येव, वैराग्य-तिरोभावाद्देहादिष्वहंबुद्धि सर्वविपरीतज्ञान चापस्मारसहितस्येव, वैराग्यतिरोभावाद्विषयासक्तिः बन्धश्चतुर्णा कार्या विपर्ययो द्वयोस्तिरोभावाद्वैव नान्यथा, आनन्दाशस्तु पूर्वमेव तिरोहिता, येन जीव-भाव काममय। अणुभाष्य, अध्याय ३, पाद २, सू० ५।

४ धावन्निमील्य वा नेत्रे न पतेन्नस्खलेदिह।
एष निष्कण्टकः पन्था यत्र संपूज्यते हरि ॥

आचार्य वल्लभ के मतानुसार जीव अणु मात्र है। प्रकाश अथवा गन्ध की तरह उसका तेज सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।[1] जीव असंख्य नित्य एवं सनातन है। अविद्या माया जीव से ही लिप्त होती है। ब्रह्म इससे सर्वथा मुक्त रहता है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार जीवसृष्टि दो प्रकार की होती है—दैवी और आसुरी। दैवी सृष्टि के भी पुष्टि एवं मर्यादा के रूप में दो भेद होते हैं। इनमें पुष्टि सृष्टि के चार प्रकार के जीवों की उत्पत्ति पूर्ण पुरुषोत्तम के श्रीअंग से होती है। शुद्ध-पुष्ट जीव भगवद्रूप ही होते हैं। वे नित्य एवं मुक्त होते हैं। ऐश्वर्यादि षडगुण उनमें सदा विद्यमान रहते हैं। वे भगवान की नित्य सेवा का आनन्द लाभ प्राप्त करते हैं।

आसुरी जीव-सृष्टि दुर्ज्ञ तथा अज्ञ के रूप में दो प्रकार की होती हैं। इनमें अज्ञकोटि के जीव भगवान् के प्रति द्वेषभाव रखने के कारण भगवान के ही हाथों सहृत होकर उद्धार प्राप्त करते हैं। तथा दुर्ज्ञ आसुरी जीव अनन्त काल तक संसार चक्र में ही भ्रमित होते रहते हैं।

सूर के जीव विषयक विचार वल्लभ के अनुसार ही हैं। जीव ब्रह्म का ही अंश है। ब्रह्म ही समस्त जीवों के रूप में परिणत हुआ है—

सहस रूप बहुरूप पुनि एक रूप पुनि दोय।[2]

समस्त जीवों की उत्पत्ति सच्चिदानन्द ब्रह्म के चित् अंश से ही हुई है। जीव भगवान् की चेतन शक्ति के ही स्वरूप हैं। भगवान की चेतना ही घट घट में व्याप्त हो रही है—

(अ) कर्दम कह्यौ तिन्हें सिर नाइ, आज्ञा होइ करौं तप जाइ।
 अभिद अछेद रूप मम जान, जो सब घट है एक समान।
 मिथ्या तन कौ मोह बिसार, जाहु रहौ भाव गृह बार।
 करत इंद्रियनि चेतन जोइ, मम स्वरूप जानो तुम सोइ।[3]

(आ) चेतन घट घट है या भाइ, ज्यौं घट घट रवि प्रभा समाइ।
 घट उपजै बहुरौ नसि जाइ, रवि नित रहै एक हीं भाइ।

(इ) सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
 प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण, सब हैं अंश गुपाल।[4]

सूर ने ब्रह्म के चर अचर समस्त तत्त्व प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण आदि को 'गुपाल' का ही अंश माना है। सृष्टि के समस्त पदार्थों का ब्रह्म के साथ उन्होंने अंशांशी सम्बन्ध माना है।

सूर की भाँति नरसी ने भी जीव आदि सृष्टि के समस्त पदार्थों को ब्रह्म का ही अंश माना है। ब्रह्म ही देह में देव शून्य में पवन तथा जल भूमि वृक्ष आदि अनन्त रूपों में परिणत हुआ है। एकात्म्य वस्मिन् की भावना में उमारा शिव (परमात्मा) में जीव (आत्मा)

1. जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गन्धवद् व्यतिरेकवान्।
 व्यापकत्व श्रुतिस्तस्य भगवत्त्वात् गुणैरपि ॥८३॥
 तत्त्वदीपनिबन्ध शा प्र पृ ११८।
2. सूरसारावली सूरसागर वें प्र पृ ४। ३ सू, प ४। ४ सू०, प ३-४।
4. सूरसारावली सूरसागर वें प्रे पृ २८।

का कोई पद उपलब्ध नहीं हुआ है। पुष्टिमार्गी भक्त होने के कारण जीव के भगवद्ज्ञान अथवा भगवदस्वरूप प्राप्ति के लिए सूर भगवदनुकृपा को ही प्रमुख हेतु मानते हैं।

पुष्टि सृष्टि के चार प्रकार के जीवों की उत्पत्ति पुरुषोत्तम के श्रीअंग से ही होती है। इनमें शुद्ध-पुष्ट जीव भगवद्रूप ही होते हैं। सामळदासना विवाह तथा हारसमना पदो प्रसंगो में कृष्ण नरसी को अपना ही रूप बताते हैं—

(अ) त्रिभुवने तुज समो को नहीं नागरा
ताहरु माहरु एक रूप।[1]

(आ) हु तु बे मध्यमा भेद नहि नागरा, श्रीमुख शु कहु गुण तारो।[2]

पुष्टि-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण सूर में इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का उपलब्ध होना स्वाभाविक है किन्तु पुष्टि सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य वल्लभ से भी पूर्ववर्ती नरसी में पुष्टि-सम्प्रदाय के तत्त्व तथा 'पुष्टि' शब्द का एकाधिक बार मिलना आश्चर्य का विषय है। वल्लभाचार्य ने जिस अर्थ में पुष्टि शब्द का प्रयोग किया है नरसी साहित्य में भी ठीक उसी अर्थ में इसका प्रयोग मिलता है—

(अ) [कहेता ते मुजने लाज थाइ पुष्ट-लीला जेह,
तेज तुने कहु छु, तारुणी, तू गोप राख तेह।[3]

(आ) सहेजे पधरावी सुंदरी सरवरी सुख आपिऊ,
भुवन रति सू जस पामी जनम दुष्कृत कापिऊ
कोक भांति विलास विलसे सुरत समोवड हवा,
पुसट-मारग अनुभव रस नारसीहो हतो तव तिहां[4]

(इ) श्री वल्लभ श्री विट्ठल भूतले, प्रगटीने पुष्टिमार्ग ते विशद करशे।[5]

इनमें अन्तिम[6] को छोडकर प्रथम दो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं। 'भागवत की दशविध लीलाओं में पष्ट स्कन्ध की पोषण लीला का समावेश होता है। दशा लीलाओं की सूची और उनका तात्पर्य भागवत द्वितीय स्कन्ध के दसवें अध्याय (श्लोक २ १० तक) में निरूपित है। *यही चतुर्थ श्लोक के चतुर्थ चरण में पोषण तदनुग्रह उल्लेख मिलता है।* भागवत का काल विद्वानों ने ४थी शती से परवर्ती माना है। अतः ४थी से १६वी शताब्दी (वल्लभाचार्य) तक पोषण तदनुग्रह का प्रत्येक भक्ति-सम्प्रदाय तथा तदनुवर्ती लोकभाषा और भक्ति-साहित्य में अनन्त बार प्रयोग होना सम्भव है। पुष्टि भगवच्छक्ति (अनुग्रहात्मिका) है। अतः इनमें यह स्पष्ट है कि पुष्टि पोषण आदि शब्द एवं *पुष्टि से सम्बद्ध भावों का नरसी में उपलब्ध होना कोई आश्चर्यजनक एवं नवीन बात नहीं।*

---

१ हा म हा के, पृ २८। २ न म का स, पृ ७८। ३ चा०, पृ ४१। ४ चा० पृ ६६।
५ न म का स, पृ ५२४। ६ न म का स, पृ ५३४ की पाद टिप्पणी।
७ 'दशवैकालिक सूत्र' में 'भागवत पुराण' इस प्रकार का उल्लेख मिलता है। विद्वानों ने उपर्युक्त सूत्र का समय ४ थी शती निर्धारित किया है।

जगत्

जगत् का उपादान और निमित्त कारण ब्रह्म ही है। जगत् भगवद्रूप है एव भगवान् से अभिन्न है। जगत् सत् है तभी तो 'भावे च उपलब्धे' के अनुसार उसकी उपलब्धि होती है। घट की सत्ता विद्यमान है तभी उसकी उपलब्धि सम्भव है। घट जैसे मिट्टी का ही प्रकार है वैसे ही जगत् भी ब्रह्म का ही रूप है। "घट की प्रथम मृत्तिकारूप अवस्था होती है, फिर घट-रूप अवस्थास्थिति मे भी घट मृत्तिकारूप ही है और लयावस्था मे भी मृत्तिका ही रह जाती है। उसी तरह ब्रह्म मे से कार्य उत्पन्न हुआ है, अत: कार्य ब्रह्मरूप ही है और लय होगा उस समय भी ब्रह्म मे ही।"[1] "श्रुति मे 'इदम्' से दृश्यमान सर्व जगत् एवं 'सर्व' से देखा गया तथा सुना गया समस्त जगत् आ जाता है। अत सर्वदा विद्यमान रहनेवाला जगत् ब्रह्मरूप है। ब्रह्मरूप कार्य का कारण ब्रह्म ही है।"[2] पूर्ण पुरुषोत्तम की इच्छानुसार अग्नि विस्फुलिंग की तरह अक्षर ब्रह्म के सत् अश मे जड जगत् की उत्पत्ति हुई है।[3] 'सत्याच्च अवरस्य'[4] इससे भी जगत् के सत्य होने का प्रतिपादन होता है। निर्गुण एव अविकृत ब्रह्म मे से जगत् आविर्भूत होता है अर्थात् परिणमित होता है, तथापि वह अविकृत ही रहता है। अविकृत निर्गुण ब्रह्म ही जगत् का उपादान कारण है, निमित्त कारण है।[5] कार्य-कारण की एकता शुद्धाद्वैत मत मे ही मान्य है।[6]

ब्रह्म एकाकी क्रीडा नही करता है। वह दूसरे की इच्छा करता है। मकडी, सर्पकुण्डल, कामधेनु, कल्पवृक्षादि के रूप मे अनेक आकार धारण करके तथा अनेकधा परिणमित होकर भी वह विकाररहित रहता है। इस तरह ब्रह्म जगद्रूप मे चित्रविचित्र एव विविध क्रीड़ाएँ करता है। यह नामरूपात्मक समस्त जगत् 'सर्व खलु इद ब्रह्म' के अनुसार परब्रह्म रूप है। नामात्मक ब्रह्म मे अक्षर, पद, वाक्य रूप शब्दसृष्टि एव रूपात्मक ब्रह्म मे आकाश आदि समस्त भौतिक सृष्टि का समावेश हो जाता है।

---

१ पूर्वावस्था तु मृद्रूपा घटावस्था ततो भवेत्।
घटोऽपि मृत्तिकारूपो लये पश्चाच्च मृत्तिका ॥४१॥ शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, गो० गिरधरजी।

२ सर्वं ब्रह्मात्मकं विश्वमिदमाबोध्यते पुर ।
सर्वशब्देन यावद्धि दृष्टं श्रुतमदो जगत् ॥५॥
बोध्यते तेन सर्वं हि ब्रह्मरूपं सनातनम्।
कार्यस्य ब्रह्मरूपस्य ब्रह्मैव स्यात्तु कारणम् ॥६॥ शु मा गो गि.।

३ विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि ॥३३॥ सप्रकाशतत्त्वदीपनिबन्धः।

४ ब्र. सू., २.१ १६, 'अवर (जगत्) तीनो कालो मे विद्यमान रहता है, अतः वह ब्रह्मरूप है।'

५. वेदान्ती उपादान एव निमित्त दो प्रकार के कारण मानते है। जैसे घड़े का मिट्टी उपादान कारण है। एवं दण्ड, चक्र, कुम्भकार आदि निमित्त कारण है। जगत् मे सामान्यतः उपादान एवं निमित्त कारण दोनों अलग-अलग होते हैं। वेदान्त मे जगत् का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण ब्रह्म ही है। इस तरह उपादान एव निमित्त कारण अभिन्न होने से यह सिद्धान्त अभिन्ननिमित्तोपादानकारण इस नाम से भी अभिहित किया जाता है।

६ कार्यकारणयोरैक्य स्वमते न परे मतं। श्लोक ४०, शु मा. गो. गि।

वल्लभाचार्य के अनुसार सच्चिदानन्द पूर्ण पुरुषोत्तम स्वेच्छा मात्र से सत् चित तथा गणितानन्द अक्षर ब्रह्म में परिवर्तित होता है। अक्षर ब्रह्म ही पुरुष, कर्म और स्वभाव रूप धारण करता है। अक्षर ब्रह्म के चित अंश से जीव रूप पुरुष एवं सत अंश से प्रकृति (जगत्) का प्रादुर्भाव होता है। पुरुष और प्रकृति के साथ छब्बीस और तत्त्व उत्पन्न होते हैं। इस तरह ब्रह्म सत धर्म से २८ तत्त्व होकर जगत स्वरूप हुआ है।[1]

जगत और संसार

वल्लभाचार्य ने ही सर्वप्रथम जगत एवं संसार के बीच तात्त्विक दृष्टि से भेद स्पष्ट करने का प्रयास किया। उनके अनुसार जगत भगवान का अंश एवं भगवान का ही स्वरूप है। वह भगवत कार्य है। अतः सत्य है। माया की अविद्या नामक शक्ति के द्वारा संसार निर्मित हुआ है। अतः जीवकृत यह संसार अहंता ममतात्मक होने से झूठा है। जीव ने ही अपनी अविद्या कल्पना एवं भ्रम से इस संसार को बनाया है। जगत का उपादान कारण ब्रह्म है और ब्रह्म की अगाध शक्ति ही निमित्त कारण है। परन्तु संसार उपादानरहित है एवं इसका निमित्त कारण अविद्या है। ज्ञान से अविद्या का नाश होता है। फलतः यह मेरा है, यह तेरा है आदि मोह नष्ट हो जाते हैं। इस तरह ज्ञानदशा के पूर्व तक ही संसार रहता है। मुक्ति मिलते ही संसार का लय हो जाता है किन्तु जगत का लय तो भगवान की इच्छा पर ही आधारित है।[2]

तात्पर्य यह कि जगत ब्रह्मरूप है किन्तु जीव का अविद्या-जन्य अभिमान, अहंता, मेरे तेरे का भाव संसार है। जगत सत एवं संसार असत है। जगत भगवान का कार्य है, संसार अविद्या का कार्य। जगत भगवान का रूप है एवं संसार अहंता ममतात्मक रूप है। अहंता ममतात्मक कल्पना का नाम ही संसार है। ज्ञानोपलब्धि से संसार का अहंता ममतात्मक रूप नष्ट हो जाता है किन्तु जगत यथावत बना रहता है।[3]

सूर ने वल्लभाचार्य के अनुसार जगत को ब्रह्मरूप और संसार को नश्वर तथा मायिक बताया है। सूरसारावली के एक पद का उद्धरण करके इसी अध्याय में यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि जगत, जीव आदि समस्त सृष्टि के पदार्थ गुपाल के ही अंश हैं। ब्रह्म सत्य है अतः जगत भी उसका अंश होने से सत्य है। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सूर ने अविकृत परिणामवाद को माना है। एक ही उदाहरण में जगत को पानी के बुलबुले के रूप में बताया गया है। जैसे बुदबुदा जल का ही अविकृत रूप होता है और फूटने पर पुनः जलरूप में परिणत हो जाता है वैसे ही जगत भी पूर्ण पुरुषोत्तम की इच्छानुसार अक्षर ब्रह्म के सत अंश से जगत रूप में परिणमित हुआ है और अन्त में वह पुनः [illegible] मिल जाएगा।

१ [illegible] स्वरूप तत्र वै हरि। सिद्धान्त निर्णय पृ [illegible] से उद्धृत।
२ ममाहंता तथा [illegible]
[illegible]
३ [illegible] नहीं है। [illegible]
[illegible]

नरसी को जगत् ब्रह्मरूप ही दीख पडता है। सूर की भाँति वे भी जगत् को सत्य एव ब्रह्म-रूप मानते हैं —

जागीने जोउं तो, जगत दीसे नहीं, उघमा अटपटा भोग भासे;
० ० ० ०
पच महाभूत परिब्रह्म विषे ऊपन्यां, अणु-अणुमांहि रह्यां रे वळगी;
० ० ० ०
फूल ने फळ ते तो वृक्षना जाणवा, थडथकी डाळ ते नहि रे अळगी.
० ० ० ०
भणे नरसैयो ए, ते ज तु, ते ज तुं, एने समर्याथी कंइ सन्त सीध्या.'

'जागीने जोउ' का तात्पर्य ब्रह्म-ज्ञानोपलब्धि है तथा 'उघ' का अज्ञान-दशा। अविद्या-माया के आवरण के दूर होने पर ज्ञानावस्था मे व्यक्ति को जगत् ब्रह्मरूप ही दृष्टिगत होता है, किन्तु अज्ञानदशा मे मन अनेक भ्रात धारणाओ मे भ्रमित होता रहता है। नरसी कहते हैं कि पचमहाभूतात्मक समस्त जगत् परब्रह्म से ही उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म सृष्टि के अणु-अणु मे व्याप्त है। नरसी ने यहाँ शकराचार्य के जगत् के मिथ्यात्व के सिद्धान्त का अप्रत्यक्ष रूप मे खण्डन किया है।

नरसी ने कई स्थानो पर शुद्धाद्वैत के अनुरूप अहता-ममतात्मक ससार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है। उन्होने ब्रह्म के अश जीव से अपने मूल रूप को पहचानने तथा ससार के मिथ्या सम्बन्धो का परित्याग करने का अनुरोध किया है। जीव को ससार के अहता-ममतात्मक समस्त सम्बन्धो का त्यागकर केवल 'श्रीहरी' के स्मरण करने का ही वे सदुपदेश देते है। जीव ससार के सम्बन्धो को 'मेरे-तेरे' मे बाँध रहा है, यह उसके विवेकभ्रष्ट तथा निद्राधीन (अज्ञानावस्था) होने का ही कुफल है—

समर ने श्रीहरी मेल्य ममता परी, जोने विचारीने मूळ तारु;
तुं अल्या कोण ने कोने वळगी रह्यो, वगर समजे कहे म्हारुं म्हारुं.
देह तारी नथी, जो तुं जुगते करी, राखतां नव रहे निश्च जाये;
देह सम्बन्ध तजे, नवनवा वहु थशे, पुत्र कलत्र परिवार वहाये.
० ० ० ०
भर निद्रा भर्या, रोधि घेर्यो घणो, संतना शब्द सुणी कां न जागे;
न जागतां नरसैया, लाज छे अति घणी, जन्मोजन्म तारी खांत भागे.[2]

द्वितीय पक्ति के प्रथम चरण 'तु अल्या कोण ने कोने वळगी रह्यो' का अभिप्राय ससार के मिथ्या सम्बन्धो से है। ससार मिथ्या एव नश्वर है। अत तज्जन्य सम्बन्ध भी मिथ्या एव नश्वर ही होगे।

नरसी की भाँति सूर ने भी ससार, देह, 'माया' (ससार के प्रति ममत्व का भाव) आदि को नश्वर बताया है। ससार के प्रपच मे डूबकर जीव 'हरि' को भूल गया है। इसलिए कवि ने जीव को खूब फटकारा है —

मिथ्या यह संसार और मिथ्या यह माया।
मिथ्या है यह देह क्यों हरि विसराया।[3]

---

१ न म का सं, पृ ४८६। २ न. म का सं, पृ. ४८७। ३ सू०, स्कन्ध १०।

नरसी एव सूर दोनो का साम्य तुलनीय है। नरसी ने जो बात पूरे पद म कही है सूर ने न वही छद की दो लघु पक्तिया म कह दी है।

सूर ने सारावली म शुद्धाद्वत के अनुसार अट्ठाईस तत्त्वो से सष्टि उत्पन्न होने का वणन किया है। सूर के कृतित्व का निरूपण करते समय इसी ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय म इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। सूरसागर के द्वितीय स्कध म भी सष्टि विस्तार का वणन किया गया है जो वल्लभाचाय के सिद्धान्त के अनुरूप ही है। रमण करन की इच्छा म ब्रह्म ने एक स अनन्त होन की इच्छा की जिसके फलस्वरूप त्रिगुणात्मक समस्त पदार्थों की उत्पत्ति हुई—

आदि निरजन, निराकार, कोउ हुतौ न दूसर।
रचौं सष्टि—विस्तार, भई इच्छा इक औसर।
त्रिगुन प्रकृति त महतत्त्व, महतत्त्व त अहकार।
मन इद्रीस दादि पच, तात कियौ विस्तार।
सब्दादिक त पचभूत, सुदर प्रगटाए।
पुनि सबको रचि अड, आप मैं आपु समाए।
तीन लोक निज देह मैं राख करि बिस्तार।
आदि पुरुष सोई भयौ, जो प्रभु अगम अपार।[1]

सष्टि विस्तार का इस प्रकार का विस्तत वणन नरसी-साहित्य म उपलब्ध नही होता है। अखिल ब्रह्माण्डमा एक त श्रीहरी जूजव रूपे अनन्त भासे[2] तथा पचमहाभूत परिब्रह्म विष उपन्या अणु अण माहि रह्या रे वळगी[3] जस परिमित शब्दो म ही उन्होन सष्टि विस्तार का मात्र सकेत कर दिया है।

सूर को जगत एव ससार के पथक्त्व का विवेक वल्लभाचाय द्वारा प्राप्त हुआ था। जगत एव ससार के बीच तात्त्विक दष्टि स भेद मानने का सिद्धान्त सवप्रथम आचाय वल्लभ न ही स्थिर किया था जिसके अनुसार जगत ब्रह्मरूप एव ससार माया की अविद्या नामक शक्ति द्वारा निर्मित हुआ है। अत नश्वर है। नरसी के पास जगत एव ससार के बीच इस प्रकार के तात्विक भेद का अभाव था। इसीलिए उन्होन जगत का प्रयोग ससार के पर्याय के रूप मे भी किया है जो शुद्धाद्वत के प्रतिकूल है—

(अ) विषय तष्णा परो मोह मन ना धरो हु ने महारु जक्त तेमा बूडो
(आ) जगत उन्मत्त फरे विषे वासना धरे भक्त भगवत सघ रग राता
जगत गति परिहरी, भक्ति ले दढ़ करी, अखिल अघ थरहरि दुर न जाश।[5]

शुद्धाद्वत के अनुसार सूर जगत को सत्य मानकर ब्रह्म के उदर म ही उसकी अवस्थिति मानते हैं—

इक इक रोम विराट कोटि तन कोटि कोटि ब्रह्माण्ड।[6]

१ सू०, पद ३७६। २ न म का स, पृ ४०८। ३ न म का स पृ ४८।
४ न म का स, पृ ४८८। ५ न म का स, पृ ६११। ६ सू०, २२४१०।

सूर ने ससार की नश्वरता का भी कई स्थानो पर निरूपण किया है। 'सूरसागर' के प्रथम स्कन्ध मे 'विनय' के पदो मे ऐसे कई पद है, जिनमे ससार की नश्वरता स्पष्ट करते हुए सूर ने मन को उससे दूर रखने का आग्रह किया है। इसी भाव का यहाँ एक पद उद्धृत किया जाता है—

रे मन मूरख, जन्म गँवायो।
करि अभिमान विषय-रस गीध्यौ, स्याम सरन नहि आयौ।
यह संसार सुवा सेमर ज्यौं सुदर देखि लुभायौ।
चाखन लाग्यौ रूई गई उड़ि, हाथ कछू नहीं आयौ।'

सूर ने इसी भाँति कई स्थानो पर ससार के मायाजन्य मिथ्या मम्वन्धो को 'वादर छाँह' तथा 'धूम धोराहर' के तुल्य क्षणिक वताया है।

माया

शकराचार्य के मतानुसार माया भ्रमरूपा है, किन्तु वल्लभाचार्य के अनुसार वह ब्रह्मवशा है। वह भगवान् की अगाध-शक्ति-स्वरूपा है। उसके दो रूप माने गये हे विद्यामाया तथा अविद्यामाया।[२] माया के ये ही स्वरूप ब्रह्म प्रेरित होकर क्रमश जगत् एव ससार का प्रसार करते है। अविद्यामाया से जीव ससार मे वन्धन दशा प्राप्त करता है तथा विद्यामाया से मुक्ति। अविद्यामाया के दो रूप है। प्रथम वह है जो व्यक्ति को भ्रमित करके विद्यमान का प्रकाश नही करता है तथा दूसरा अविद्यमान को प्रकाशित करनेवाला हे।[३] जीव को सासारिक विषयो मे फँसाये रखने का कार्य इसी अविद्यामाया का है। यह सदा जीव को ही भ्रमित करती रहती है न कि ब्रह्म को, क्योकि माया ईश्वराधीन है—'स ईशो यद्वशे माया स जीवो यस्तयार्ऽदित'। विद्या द्वारा अविद्या के नष्ट होने पर ही व्यक्ति जीवन्मुक्त होता है।[४] वल्लभाचार्य के मतानुसार इस अविद्यामाया को दूर करने का सरल उपाय 'पुष्टि' ही है। भगवद्कृपा प्राप्त होते ही व्यक्ति अविद्या के समस्त आवरणो से अपने आप मुक्त हो जाता है।

माया के विद्या तथा अविद्या दोनो रूपो का वर्णन सूर के पदो मे उपलब्ध होता है। रमण करने की इच्छा से ही ब्रह्म माया द्वारा इस सृष्टि का विस्तार करता है। सूर ने माया को ईश्वर की अगाध शक्ति वताया है, जिसकी 'गति' सदा 'अविगत' रहती है—

अविगत-गति जानी न परै।
मन-बच-कर्म अगाध, अगोचर, कीहि बिधि बुधि सँचरै।
अति प्रचंड पौरुष वल पाऐ, केहरि भूख मरै।
अनायास बिनु उद्यम कीन्है, अजगर उदर भरै।
रीतैं भरै, भरै पुनि ढारै, चाहै फेरि भरै।

---

१ सू० प ३३५। २ विद्या विधे हरे शक्ती माययैव विनिर्मिते। ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता ॥३५॥ सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिवन्धः, पृ २२।

३ माया च द्विधा भ्रमं जनयति, विद्यमान न प्रकाशयति, अविद्यमानं च प्रकाशयति। सुवोधिनी भागवत २, ९, ६३।

४ विद्ययाऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति ॥३६॥ सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिवन्ध', शास्त्रार्थप्रकरण।

कबहुँक तन बूड़ पानी में, कबहूँक सिला तर।
बागर तें सागर करि डारे, चहुँ दिसि नीर भरे।
पाहन-बीच कमल बिकसावे, जल में अगिनि जरे।
राजा रंक, रंक तें राजा, ले सिर छत्र धरे।
सूर पतित तरि जाइ छिनक मैं, जो प्रभु नेकु ढरे ॥[1]

हरि की इच्छा से सृष्टि का सृजन करनेवाली विद्यामाया का वर्णन सूर ने इस प्रकार किया है—

बहुरि जब हरि की इच्छा होय।
देखे माया में निसि जोय।
माया सब तब ही उपजावे।
ब्रह्मा सो पुनि सृष्टि उपावे।[2]

सूरसागर के प्रथम स्कन्ध के विनय के पदों में सूर ने अहंता ममतात्मक अविद्यामाया का वर्णन किया है। उन्होंने मन को भ्रमित करनेवाली सत्य को भुलानेवाली तथा मोहजननी के रूप में अविद्यामाया का निरूपण किया है। निम्नलिखित पद में सूर ने माया को ऐसी नटिनी बताया है जो हाथ में लकुटी लेकर सभी को अपने इंगित पर नचाया करती है—

माया नटी लकुटि कर लीन्हे कोटिक नाच नचावे।
दर-दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वाँग बनावे।

o o o

महा मोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहि लगावे।
ज्यों दूती पर-बधू भोरि कै, लै पर-पुरुष दिखावे।[3]

सूर ने एक अन्य पद में माया के हाथ बिक जाने पर रज्जु-बद्ध पशु की भाँति अपना पर-वशता प्रकट की है। वह जब तक उसके पाश में आबद्ध है तब तक चाहने पर भी 'श्रीपति' को भज नहीं सकता है—

अब हौं माया-हाथ बिकानौ।
परबस भयौ पसू ज्यौं रजुबस भज्यौ न श्रीपति रानौ।
हिंसा-मद-ममता रस भूल्यौ आसाहीं लपटानौ।

o o o o

अपने ही अज्ञान तिमिर में बिसर्यौ परम ठिकानौ।
सूरदास की एक आँखि है, ताहू में कछु कानौ।[4]

इस अविद्यामाया के अन्धकार के विनाश का उपाय सूर ने इस प्रकार बताया है—

सूर स्याम-पद-नख प्रकास बिनु क्यौं करि तिमिर नसावे।[5]

भगवान कृष्ण की नखचन्द्रिका के प्रकाश की प्राप्ति करने से ही अविद्यामाया का अन्धकार दूर हो सकता है।

---

१ सू० प० १०१। २ सू०, स्कन्ध १०। ३ सू०, प० ४२। ४ सू०, प० ४३। ५ सू०, प० ४८।

सूर की भाँति नरसी ने भी कई रूपो मे अविद्यामाया का चित्रण किया है। अविद्याजन्य अहकार को नरसी जीव एव ब्रह्म के बीच पडा हुआ आवरण बताते है। जैसे बादल के व्यवधान के कारण दिनकर का प्रकाश पृथ्वी तक नही पहुँचकर बीच मे ही अवरुद्ध हो जाता है वैसे ही आत्मा पर पडे हुए अविद्यामाया के अहकारात्मक आवरण ने जीव के ब्रह्मरूप होने के ज्ञान को अवरुद्ध कर रखा है। बादल के हटने पर जैसे दिनकर के दर्शन प्राप्त होते है, वैसे ही ज्ञानोपलब्धि के पश्चात् अविद्यामाया का आवरण हटते ही व्यक्ति को अपनी आत्मा मे ही ब्रह्म के दर्शन उपलब्ध होते है—

अनेक जूग वीत्यारे, पंथे चालतारे, तोये अंतर रह्योरे लगार;
प्रभुजी छे पासेरे, हरी नथी वेगळारे, आडडोरे पड्यो छे अहंकार;
दीनकर रूंध्योरे, जेम कांइ वादळेरे, गयु अजवाळु थयो अंधकार.
वादळुने मट्युं रे, लाग्यु जेम दीसवारे, भानु कांइ देखायो तेवार ।[1]

नरसी ने मायिक ससार के अहता-ममतात्मक क्षणिक सम्बन्धो का त्याग कर जीव को 'हरिचरणशरणोपलब्धि' का बोध इस प्रकार दिया है—

पटक माया परी, अटक चरणे हरी, वटक्य मा वात सुणतां ज साची;
आशनुं भवन आकाश सूधी रच्युं, मूढ ए मूळथी भीत काची.[2]

नरसी ने अविद्यामाया का अन्य कई पदो मे वर्णन किया है—

(अ) शा सुखे सूतो संभार श्रीनाथने, हाथ ते हरि विना कोण स्हाये;

० ० ० ०

अवतरी पाश वधायो माया तणे, लंपटी लालचे लीधो घेरी.
दिवसे चोदश भम्यो, रात निद्रा विषे, स्वप्नमां सांभरे मोहटी माया;
जागरे जीवडा, बाज आव्यो घणु, केटलोएक प्रतिबोध दीजे ।[3]

(आ) अल्या भूल मा भूल मा, भक्ति भूधरतणी कारमी माया जोइ कारे हरखो;
स्वप्ननी वार्तामां शुरे, राची रह्यो, प्रेम दृष्टे करी हरी नरखो.
मायानी जाळमां, मोह पामी रह्यो. अवनिपर अवतर्यो भार भरवा ।[4]

इसलिए उन्होने दीवानी दुनियाँ को ज्ञानी बनकर कृष्ण-भजन करने का आग्रह किया है—

माटे तमो माया तजी, थाओने ज्ञानी,
नरसैंयानो स्वामी साचो, दुनिया दीवानी ।[5]

क्योकि पूर्णब्रह्म की कृपादृष्टि ही इस कुबुद्धिजन्य ताप को दूर करने मे समर्थ है—

केसरी घूरे ज्यम मृगज त्रासे, रवि उगे ज्यम तिमिर टळे;
पूरणब्रह्म अकळ अविनाशी, कुबुद्धिना ताप तरत हरे.

सूर की तरह नरसी ने ब्रह्म की अगाधसर्जक शक्ति स्वरूपा माया का कही वर्णन किया हो, ऐसा उदाहरण हमे उपलब्ध नही हुआ हे।

---

१ न म का म, पृ ४८१। २ न म का म, पृ ४८१। ३ न म का सं, पृ ४८७। ४ न म का सं, पृ ४८३। ५. न म का सं, पृ ४८४। ६ न. म का स पृ ४७४।

मोक्ष

विद्या द्वारा ही देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास, अन्तःकरणाध्यास और स्वरूपाध्यास इन पाँचों अविद्याजन्य अध्यासों का विनाश होता है। विद्या पंचपर्वा मानी जाती है।[1] इसके द्वारा मुक्त व्यक्ति ही भगवद्भक्ति के योग्य माना जाता है। वल्लभ ने जीव तीन प्रकार के माने हैं—पुष्टिजीव, मर्यादाजीव और प्रवाही जीव। पुष्टिमार्ग में जीव को मुक्ति का आनन्द प्राप्त होना भगवदिच्छाधीन माना गया है। वेदविहित साधना से साधक सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य एवं सायुज्य में से कोई एक मुक्ति प्राप्त करता है। ज्ञान-साधना कष्टसाध्य है। इसके द्वारा अन्त में साधक को मोक्षप्राप्ति ही होती है। पुष्टिजीव के लिए लीला में लय होने की स्थिति को वल्लभाचार्य ने सायुज्य अनुरूपा मुक्ति अवस्था कहा है। शुद्धाद्वैत में यही श्रेष्ठ मुक्ति मानी गई है। इसीको स्वरूपानन्द की मुक्ति भी कहते हैं। इसमें भक्त वैकुण्ठ से भी उत्कृष्ट गोलोकलीला की परमानन्दानुभूति प्राप्त करता है। इसमें भक्त पूर्ण पुरुषोत्तम की लीला में प्रविष्ट हो जाता है। सालोक्यादि चारों मुक्तियों की अपेक्षा न रखते हुए भक्त मात्र भगवान की नित्य लीला में ही स्थान प्राप्त करने की इच्छा रखता है। पुष्टि भक्त चारों मुक्ति अवस्थाओं को छोड़कर भगवान की गोलोक-लीला में ही आनन्द प्राप्त करता है।

सूर साहित्य में जीवन्मुक्ति एवं तज्जन्य आनन्दानुभूति का वर्णन मिलता है। सूर ने भगवदनुग्रह से प्राप्त सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य मुक्तियों के माहात्म्य का निरूपण भी किया है। गोपियों को भगवान कृष्ण की कृपा से सालोक्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्तियाँ सहज लभ्य थीं। भ्रमरगीत प्रसंग में गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

> ऊधौ सुधौं नकु निहारौ।
> हम अबलनि कौ सिखवन आए, सुन्यौ सयान तिहारौ॥
> निरगुन कह्यौ कहियत है तुम निरगुन अति भारी।
> सेवत सुलभ स्याम सुंदर कौं मुक्ति कह्यौ हम चारी॥
> हम सालोक्य, सरूप सायुज्यौ, रहति समीप सदाई।
> सो तजि कहत और की औरे[2]॥

नरसी ने चारों प्रकार की मुक्तियों का उल्लेख किया है, पर वह सूर से भिन्न सन्दर्भ में। नरसी मुक्ति की अपेक्षा भक्ति को श्रेष्ठ मानते हैं। ज्ञान, मुक्ति आदि की बातें नरसी को निस्सार लगती हैं। मुक्ति के स्थान पर वे जन्म-जन्मान्तर तक मात्र भगवान के गुणगान करने की अभिलाषा रखते हैं। मुक्तिवांछकों को नरसी ने ढूँढ़ पशु की उपमा दी है। नरसी ने परीक्षित के सम्बन्ध में कहा कि वह भी भगवान की मधुर भक्ति के रहस्य को पूरी तरह नहीं समझ सका था। अतः मधुर भक्ति के लिए उसे अपात्र समझकर शुकदेवजी ने ज्ञान-वैराग्य आदि मुक्ति के साधनों का वर्णन करके भागवत पूरी की। भक्ति करके मुक्ति चाहना नरसी की दृष्टि में

१ वैराग्य सांख्ययोग च तपो भक्तिश्च केशवे ॥८॥
पञ्चपर्वेति विद्येयं यथा विद्वान् हरिं विशेत्। सम्प्रदायप्रदीपनिबन्ध।

२ सू०, प० ४८१८।

स्वार्थ की बात है। इसीलिए वे 'लाभ के जहाज' समुद्र मे नदी के मुहाने पर दूर ही छोड़कर अनन्य भाव से केवल भगवद्भक्ति की ही कामना करते हैं—

(अ) प्रेमरस पाने तुं मोरना पीछधर, तत्त्वनु टूंपणुं तुच्छ लागे;
दूबळा ढोरनुं, कूशके मन चळे, चतुरधा मुक्ति तेओ न मागे.
प्रेमनी वात परीक्षित प्रीछ्यो नहीं, शुकजीए समजी रस संताड्यो;
ज्ञान-वैराग्य करि ग्रन्थ पूरो कर्यो, मुक्तिनो मार्ग सुधो देखाड्यो.
मारी ने मुक्ति आपी घणा दैत्य ने, ज्ञानी, विज्ञानी बहु मुनि रे जोगी;
प्रेमने जोग तो व्रज तणी गोपीका, अवर विरला कोइ भक्त भोगी.
प्रेतने मुक्ति तो, परमवल्लभ सदा, हेतुना जीव ते हेतु वूठे;
जन्मोजन्म लीलारस गावतां, लहाणनां वहाण जेम द्वार छूटे.[1]

(आ) चतुरधा मुक्ति छे, जूजवी जूक्तिनी, ताहरा ते तेहने नव राचे ।
वेहु कर जोडीने, नरसैंयो वीनवे, जन्मोजन्म तारी भक्ति जाचे ।[2]

राम मुक्तिदाता है। अत नरसी उनकी भी आराधना करना नही चाहता। इस सम्बन्ध मे 'हार-माळा' प्रसग की भीम साधु एव नरसी की सवादात्मक पक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती है—

भीम

भीम भणि कह्युं करि माहरूं गर्जना करीनी 'राम' कहि.

नरसी

गरढा थशि त्यवारिं राम कहीशि.
हवडां कह्यानो माहरिं खप नथी.

० ० ०

रंगीलो छवीलो छांडीनि,
ताहरा मगवाणिआंनि कूण धाय ?[3]

सूर की गोपियाँ कृष्ण की कृपा से चारो प्रकार की मुक्तियाँ प्राप्त कर चुकी है, किन्तु नरसी तो मुक्ति को सदा ही हरिभक्तो की दासी मानते है। उनकी दृष्टि मे श्रेष्ठ हरिभक्त वही है, जो मुक्ति न चाहकर भक्ति करने के लिए सकल जन्मो मे मनुष्य-जन्म की ही कामना किया करता है—

हरिना जन तो मुक्ति न मांगे, मांगे जन्मो जन्म अवतार रे;
० ० ० ०
अष्ट महासिद्धि आगिणियेरे उभी, मुक्ति छे एमनी दासी रे.[4]

---

१. न. म. का सं, पृ ४७८। २ न म का म., पृ ४७७।
३. हा म हा के, पृ ३६। 'मगवाणिआ' शब्द 'मुक्तिवाञ्छका' का अपभ्रंश रूप है। 'मुक्तवाञ्छक जिसको भजते हैं वह' यहाँ इस प्रकार बहुव्रीहि समास हुआ है।
४. न म का. सं., पृ ४६६।

कृष्ण के माहात्म्य का गान करते हुए कहीं-कहीं नरसी ने उनका मोक्षदाता के रूप में निरूपित किया है—

> जने द्वारे ब्रह्मा दिन रात करता, समज मूढ तु मान विकार लाजे,
> श्रीकृष्ण चरित्र ते पतित-पावन सदा, जेनु कोटि ब्रह्माड नाम गाजे
> ० ० ० ०
> नरसयाचा स्वामी नर मोक्षदाता सदा श्रीकृष्ण समो काई देव नो'ये[1]

सूर एव नरसी के मोक्ष से सम्बद्ध विचारों में पर्याप्त अन्तर है। सूर ने प्राय उ मोक्ष की इच्छा व्यक्त की है नरसी ने वहाँ प्राय अपनी अनिच्छा ही व्यक्त की है। प्रबोध पदों में नरसी ने एकाध स्थान पर भक्ति का प्रयोजन मुक्ति भी सूचित किया है। भक्ति से भ का आवागमन का फेरा मिट जाता है और पुन उसे कभी भी जननी-जठर में आबद्ध न होना पडता है।[2]

सूर के पदों में भी कहीं-कहीं नरसी की भांति वकुण्ठ से भक्ति को अधिक महत्ता प्रद की गई है। गोपाल के गुणगान वशीवट वृन्दावन एव यमुनातट से जो आनन्द प्राप्त होता वह वकुण्ठ प्राप्त करने पर भी कदापि नहीं—

> जो सुख होत गुपालहिं गाएँ।
> सो सुख होत न जप-तप कीन्हें कोटिक तीरथ न्हाएँ।
> ० ० ० ०
> तीनि लोक तन सम करि लेखत, नद नदन उर आवे।
> बशीबट वृन्दाबन जमुना तजि बकुण्ठ न जाय।[3]

सालोक्यादि चारों मुक्तियों में से सूर ने सायुज्य एव सारूप्य की ही अभिलाषा रखी है नरसी ने मुक्तियों का स्वतन्त्र रूप में कहीं भी निरूपण नहीं किया है तथापि कृष्णलीला गा में प्राय सभी जगह उन्होंने स्वय को कृष्ण के निकट उपस्थित बनाया है। रूठी मानिनी व अनुकूल बनाने के लिए कहीं दूतिका कृष्ण के प्रेमसुधा-पान करने के लिए कहीं गोपिका,[4] कृष्ण गोपी गण में कहीं दीवटिया[5] (मशालची) उत्सवादि के समय गोपगोपियों के मध्य कहीं पान सुपारी बाँटने वाला इत्यादि रूपों में नरसी कृष्णलीला में उपस्थित रहते हैं। नरसी की भगवा के समक्ष यह उपस्थिति किसी अश में भावात्मक सामीप्य मुक्ति के अन्तर्गत आएगा।

वत्सहरणलीला में ब्रह्मा के रूप में सूर कृष्ण से वृन्दावन की रेनु बनाने की विनत करते हैं जो प्रकारान्तर से भक्ति का ही रूप है—

> माधौ मोहिं करौ बृन्दाबन रेनु।
> जिहिं चरननि डोलत नँद नदन, दिन प्रति बन-बन चारत धेनु।
> कहा भयौ यह देव-देह धरि, अरु ऊँच पद पाएँ एनु।[6]

१ न म का म, पृ ४८७। २ न म का म पृ ४६४। ३ सू०, प ३४६। ४ न्हा०, पृ ३० ५ रास०, न का सामग्री, पृ १६। ६ रास०, न का सामग्री, पृ ३०। ७ सू०, प ११०३।

सूर एव नरसी दोनो मे लयात्मक सायुज्य-मुक्ति के भाव भी मिलते है। दोनो कवियो ने कृष्ण के प्रेम मे एक आत्मविस्मृत गोपिका का वर्णन किया है, जो 'दही लेहुरी' के स्थान पर 'हरि-रस लेहुरी' और 'कहान लो कोई' बोलती फिरती है—

सूर

चली प्रात हीं गोपिका, मटुकिनि लै गोरस।
नैन, स्रवन, मन, बुद्धि, चित ये नहिं काहूँ बस ॥
तन लीन्हे डोलति फिरै, रसना अटक्यौ जस।
गोरस नाम न आवई, कोउ लैहै हरि-रस ॥[1]

नरसी

महीडुं विसरी गयु लो कोइ कहान रे.[2]

वृन्दावन-गोलोक

पूर्ण पुरुषोत्तम रस-स्वरूप कृष्ण अपनी आनन्दमयी शक्तियो से जहाँ नित्य लीला-विहार करते है, वह गोलोक है। गोलोक ब्रह्म का ही स्वरूप माना गया है। भक्तो के परित्राण के लिए भगवान् जब भूतल पर अवतार लेते है, तब उनकी समस्त लीलाएँ, अगाध-शक्तियाँ तथा उनका नित्यलीला-धाम गोलोक उनके साथ यहाँ अवतरित होता है। ब्रज-मण्डल गोलोक का ही रूप है। इसे वृन्दावन या गोकुल भी कहते है। गोलोक का महत्त्व वैकुण्ठ से भी अधिक माना गया है। पुष्टिभक्तो को गोलोक की प्राप्ति भगवत्-कृपा से ही होती है।

सूर एव नरसी दोनो कवियो ने ब्रज को गोलोक का ही अवतीर्ण रूप मानकर उसकी भूरि-भूरि महिमा गाई है। सूर ने 'वत्सहरण-लीला' प्रसग मे ब्रह्मा के मुखसे ब्रज के माहात्म्य का वर्णन करवाया है, जो अप्रतिम है। ब्रज की परिक्रमा करने से व्यक्ति के समस्त पाप नष्ट हो जाते है। ब्रह्मा ने ब्रज के निवासी, गोपी-गोप, यशोदा-नन्द, मथुरा, गाये आदि सभी के जीवन को धन्य एव महिमाशाली वर्णित किया है—

ब्रज परिक्रमा करहु देह कौ पाप नसावहु।

० ० ०

धन जसुमति जिन बस किए, अविनासी अवतारि।
धनि गोपी जिनकै सदन, माखन खात मुरारि।
धनि, गोपी धनि ग्वाल, धन्य ये ब्रज के बासी।
धन्य जसोदा नंद भक्ति-बस किए अविनासी।
धनि गो-सुत धनि गाइ ये, कृष्न चरायौ आपु।
धनि कालिंदी मधुपुरी, दरसन नासै पापु।
मथुरा आदि अनादि देह धरि आपुन आए।

० ० ०

वृन्दावन ब्रज की महत कापै बरन्यौ जाइ।[3]

---

१. सू०, प. २२५३। २. न. म का मं, पृ २८८। ३. सू०, प ११२०।

सूर ने वृन्दावन को भगवान का निजधाम (गोलोक) इस प्रकार घोषित किया है—

शोभा अमित अपार अखंडित आप आत्माराम,
पूरण ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सब विधि पूरन काम ।
० ० ०
बृन्दावन निजधाम परम रुचि वर्णन कियौ बढाय ।[1]

गोचारण करते हुए कृष्ण अपने सखा श्रीदामा से कहते हैं—

बृन्दाबन मोकौं अति भावत ।
सुनहु सखा तुम सबल, श्रीदामा ब्रज त बन गो चारन आवत ।
कामधेनु सुरतरु सुख जितने रमा सहित बैकुंठ भुलावत ।[2]

ब्रह्म को पुत्ररूप में प्राप्त करने के उपलक्ष्य में यशोदा के भाग्य की सराहना करते हुए नरसी ने कृष्ण के नित्यलीला धाम गोलोक के देवता देवांगना आदि सभी का कृष्ण के साथ भूतल पर अवतरित होने का वर्णन किया है।[3] सूर की भांति नरसी ने कई पदों में गोकुल के अप्रतिम माहात्म्य का वर्णन किया है—

(अ) धन रे वृन्दावन ए लीला, धन गोरस आ गोपी,
धन नरसया तारी जीभलडीने, आव्या वृन्दावन रह्या ओपी[4]

(आ) गोकुलीउ ते गामरे अति रळीआमणु रे, ज्या मारा वा' लाजीनो वास[5]

एक गोपिका का वृन्दावन प्रेम तीव्रता की उस चरम स्थिति तक पहुँच गया है कि वह वृन्दावन को छोडकर वैकुण्ठ जाने से भी मना कर रही है। वह ब्रह्मलोकवासियों को ठग और ब्रजवासियों को अतीव सरल बताती है। जय विजय जैसे पार्षदों को भी ब्रह्मलोकवासियों ने अपने लोक से बाहर निकाल दिया है। ऐसी स्थिति में वह अपने उत्तम वृन्दावनधाम को छोडकर ब्रह्मलोक को नही जाना चाहती है। गोपिका का वृन्दावन के प्रति अनन्य भाव देखिए—

मारु वृन्दावन छे रुडु रे, वैकुंठ नहिं आवु,
नहीं आवु नंदाजीना लाल, नहीं आवु
बेशीने रहेवु ने टगटग जोवु, नहीं खावु नहीं पीवु रे
वेमान मोकलो तो मोकलो वेहेलु, हु आवीश सौना पहेलु रे,
ब्रह्मना लोक तो छे अति कूडा, वासी व्रजना रुडा रे,
जे बीजे बे पोळीया हुता तेने तत्क्षण मेल्या कहाडी रे,
नरसैयाचो स्वामी अंतरजामी तमे सांभळो ने सारंगपाणी रे[6]

टगटग जोवु कथन से कृष्ण के प्रति गोपिका की तीव्र प्रेम भावना प्रकट होती है। सूर साहित्य में इस भांति कहीं भी ब्रह्मलोक की निन्दा नहीं मिलती है।

रास

डा दीनदयालु गुप्त ने रस अथवा आनन्द के तीन प्रकार बताये हैं। लौकिक विषयानन्द अलौकिक ब्रह्मानन्द तथा काव्यानन्द। काव्यानन्द का आधार नामरूपात्मक यह संसार

---

१ सू० १०४७० । २ सू० प १०८७ । ३ न म का म, पृ ४८३ । ४ न म का म, पृ ५२० । ५ न म का म, पृ ४१८ । ६ न म का म, पृ ४२४ । ७ अ व गु, पृ ४६६ ।

है। अत आनन्द की मात्रा इसमे स्वल्प रहती है। ब्रह्मानन्द-रस के विभावादि उपकरण भगवान् स्वय होते है, अत यह सर्वोत्तम माना गया है। इससे ऊपर केवल भगवान् कृष्ण को विभाव रूप मानकर उनके द्वारा जिस रस की उत्पत्ति होती है, वह ब्रह्मरस है। आचार्य वल्लभ ने इसे भजनानन्द कहा है।[1] डा गुप्त रास की व्युत्पत्ति स्पष्ट करते हुए कहते है, "इस प्रकार लौकिक विपयानन्द तथा काव्यरस से इतर रसरूप श्रीकृष्ण (रसो वै स) के ससर्ग की लीलाओ मे जो रस-समूह मिले वह रास है और यह रस-समूह गोपीकृष्ण की शरद्‌रात्रि की लीला मे अपने पूर्ण रूप मे स्थित बताया गया है।"[2] कृष्ण के साथ गोपियो की नित्यलीला ही वास्तव मे 'रास' नाम से अभिहित की जाती है। डा गुप्त ने रास के तीन प्रकारो का उल्लेख किया है—

(१) नित्यरास—गोलोक अथवा वृन्दावन मे अपनी आनन्द-प्रसारिणी शक्तियो के साथ भगवान् नित्य रस-मग्न रहते है, यही नित्यरास है।

(२) अवतरित रास (नैमित्तिक रास)—द्वापर मे कृष्णावतार लेकर किया गया रास अवतरित रास है। इसीको वल्लभ मत मे नैमित्तिक रास कहते है।

(३) अनुकरणात्मक रास—यह दो प्रकार का है—

(१) मानसिक रास—अपने भावनाक्षेत्र मे कृष्णभक्त जिस अखण्ड रास की अनुभूति करते है, वह मानसिक अनुकरणात्मक रास है।

(२) दैहिक रास—अभिनय-मण्डली के रूप मे भक्त कृष्णलीला करते है, वह दैहिक अनुकरणात्मक रास है।

भक्ति के मुख्य चार भाव—दास्य, साख्य, वात्सल्य और माधुर्य है। इनमे रासरसानुभूति मात्र माधुर्यभाव मे ही होती है।[3]

वल्लभ के अनुसार मधुरभाव के उपासक पुष्टि-भक्त को ही रास-लीला मे प्रवेश-रूप मोक्ष मिल सकता है। मर्यादाभक्त इस लीला मे प्रवेश पाने के अधिकारी नही है। गोपीरूप मे रास मे रसेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से मिलन ही पुष्टिभक्त की चरम परिणति है। सूर ने 'रास' को ब्रह्मानन्द से भी विलक्षण रस बताया है। वे 'रास-प्रसग' मे कहते है कि हरि ने रास-रस मे जो अद्‌भुत रग किया, उसे देखकर सुर-नर सभी मोहित हो गये एव शिव की समाधि भग हो गई—

जो रस रास-रग हरि कीन्ह्यौ वेद नहीं ठहरान्यौ ॥
सुर-नर-मुनि मोहित भए सबही, सिवहु समाधि भुलान्यौ ॥[4]

नरसी ने भी रास-रस की विलक्षणता का वर्णन किया है, जिसमे रास के अलौकिक दिव्य आनन्द का दर्शन कर चन्द्र का स्थिर होना, रात्रि का छ मास प्रमाण दीर्घ होना, शारदा, देव, मुनिजन सभी का चकित होकर पुष्पवृष्टि करना आदि वर्णित है—

(अ) रोहिणीपति स्थिर रहे, खटमासी थै रेण्य,
ब्रह्म-शारदा आदि थै, देव जुए छे रग।[5]

---

१ ब्रह्मानन्दात्समुद्‌धृत्य भजनानन्दयोजने।
लीलाया युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते ॥ (भागवत सुबो टीका)। २. अ व गु., पृ ४६७।
३ अ व गु, पृ ४६८। ४. सू०, प. १७६१। ५ राससहस्त्रपदी, के का. शास्त्री पृ ६।

(आ) सुर-ब्रह्मादिक महामुनि शोभा जोवानि आवे,
पुष्प-वृष्टि तिहां थ रही, नरसैं प्रमि वधावे[१]

नरसी के रास वर्णन में दो महत्त्वपूर्ण बातें ऐसी हैं जिनका सूर में सर्वथा अभाव है। प्रथम यह कि नरसी ने 'नित्यरास' एवं 'अवतरित रास लीला' का वर्णन किया है, जबकि सूर ने केवल अवतरित रास का ही। 'सामळशाहनो विवाह' में नरसी शंकर की कृपा से द्वारिका में कृष्ण के पास एक मास तक रहते हैं। वहां वे शरत्पूर्णिमा की रात्रि में कृष्ण के रास में अपने पुरुषत्व को लीन करके गोपीरूप में विद्यमान रहते हैं। रासक्रीड़ा के समय वे सखीरूप में गीत गाते हैं तथा रूठी गोपिकाओं को मनाने के लिए दूतिका बनते हैं। नरसी की भाव भक्ति से प्रसन्न होकर कृष्ण अपने अंग की प्रसादी—पीताम्बर—प्रदान करते हैं—

शीघ मागी पछी हरीहर येहु मळ्या, मुजने श्री द्वारका माहे राख्या,
अंतःपुरमा मुजने तेडी गया, वमव कृष्णनो सरव दाख्यो
शरद पूनम तणे दिवस तहां आवीयो, रास मरयादनो वेण वाय्यो,
रुक्मणी आदि सहु नारि टोळे मळी, नरसहीआ तहां ताल साथ्यो
पुरुष पुण्यारथ लीन थयु माहरु, सखी रूपे थयो गीत गावा,
दह दिशा सौ टळी, गोपिका गयो मळी, दुति थयो माननीने मनावा
हवे मे भाव रसभेदना जाणीआ, अनुभवना रसवस थाता,
प्रमे पीताम्बर आपीयु श्रीहरी, रीझीआ कृष्णजी ताल वाहाता
व्रजतणी लीलानु आद्य दरशण हवु, अरुण उदे शखनाद कीधो,
रुक्मणी आदि सहु नारी व्रपत थई, रामाए कठथी हार दीधो
धन्य तु, धन्य एम कहे श्रीकृष्णजी, नरसहीं भगत मुज तोल आण्यो,
व्रज तणी नारी ज भावशु भोगवी, तेहने प्रमशु सहेज माण्यो[२]

अवतरित रास (नैमित्तिक रास) का वर्णन रासपंचाध्यायी तथा शृङ्गारमाळा के कई पदों में उपलब्ध होता है।

नरसी की दूसरी विशेषता यह है कि भगवान की नित्य एवं नैमित्तिक रास की लीलाओं में वे गोपीरूप में स्वयं उपस्थित रहते हैं।

नरसी ने रास का कृष्ण द्वारा अभिनीत 'नवरसरुचिर नाटक' के रूप में निरूपित किया है—

ओ आज वृंदावनि मुरली, गोविन्द गोपी रास रमे
केशव श्याम गोरवण गोपी भली अनोपम भाय भम
व्रजबाळा राय मुरारी जाए, नवरस नाटक नाथ रच्यो
ए प्रकार करे रति गोपी, रग अगाध निरा मच्यो[३]

आचार्य मम्मट ने भी कवि की वाणी को शासन धर्म नाट्य रूप 'नवरसरुचिर' निरूपित किया है—

नियतिकृतनियमरहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥[४]

---

१ रासमहस्रपदी, ५ वा रासनो पृ ६। २ [illegible] पृ ७०।
३ रा स प, दे का रासनो, पृ २८। ४ [illegible]

तौलनिक दृष्टि से सूर एव नरसी दोनो के रास-वर्णन पर विचार किया जाए तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनो ने इस वर्णन मे समान रूप से आध्यात्मिकता तथा अलौकिकता का अद्भुत समन्वय किया है ।

सूर एवं नरसी के साहित्य में अन्य दर्शनो के तत्त्व

शुद्धाद्वैत के सिद्धान्तो के अनुसार ऊपर हमने दोनो कवियो के दार्शनिक तत्त्वो का विवेचन प्रस्तुत किया है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नही समझना चाहिए कि उनके काव्य मे मात्र शुद्धाद्वैत के ही सिद्धान्तो का निरूपण मिलता है। कवियो की क्रान्त एव सारग्राहिणी दृष्टि साम्प्रदायिक सिद्धान्तो के सकुचित घेरे मे प्राय मुक्त रहती है। सूर के दार्शनिक विचारो पर शाकर-वेदान्त का भी प्रभाव माना जाता है। डा. विश्वम्भरनाथ उपाध्याय ने कई पदो मे वर्णित जीव ब्रह्म की एकता, जीवन्मुक्ति, तत्त्व की अनिर्वचनीयता तथा परमपद की विलक्षणता के आधार पर सूर को शाकर-वेदान्त तथा कबीर के सन्त-मत से प्रभावित माना है।[1] शाकर-वेदान्त के प्रभाव को प्रकट करनेवाले सूर के पद निम्नलिखित है—

(अ) धोखें ही धोखें डहकायौ ।

० ० ०

ज्यौ कुरग जल देखि अवनि कौ, प्यास न गई चहूँ दिसि धायौ ।

० ० ० ०

सूरदास भगवन्त-भजन बिनु, काल-व्याल पै आपु डसायौ ।[2]

(आ) जो लौं सत सरूप नहि सूझत ।
तो लौं मृग नाभि बिसारे, फिरत सकल बन बूझत ।[3]

(इ) अपुनपौ आपुन ही मैं पायौ ।
सब्दहि सब्द भयौ उजियारौ, सतगुरु भेद बतायौ ।

० ० ०

राज-कुमारि कंठ मनि भूषन भ्रम भयौ कहूँ गँवायौ ।
दियौ बताइ और सखियनि तब, तनु कौ ताप नसायौ ।

० ० ०

सूरदास समुझे की यह गति, मनहीं मन मुसुकायौ ।
कहि न जाइ या सुख की महिमा, ज्यौं गूंगै गुर खायौ ।।[4]

(ई) अपुनपौ आपुन ही बिसर्यौ,
जैसैं स्वान कॉच-मंदिर मै, भ्रमि-भ्रमि भूकि पर्यौ ।
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम-तृन सूंघि फिर्यौ ।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकर्यौ ।
ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै, आपुन कूप पर्यौ ।[5]

---

१ हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृ १८५-१८६। २ सू०, प ३२६। ३ सू०, प ३६८। ४ सू०, प ४०७। ५ सू०, प. ३६६।

इसी भाँति चकई री चलि चरन सरोवर जहा न प्रेम वियाग[१] पद मे द्वैताद्वैत विलक्षण परमपद' का वणन मिलता है, जिसके आधार पर कुछ विद्वान सूर पर कबीर के सन्त-मत का स्वल्प प्रभाव स्वीकार करते हैं।[२]

सूर की तरह नरसी पर भी कुछ विद्वाना न शाकर-वदान्त का प्रभाव माना है। डा यागीन्द्र त्रिपाठी न अपन शोध प्रबन्ध म लिखा है— नरसी द्वारा अभिव्यक्त विचार अद्वैत सिद्धान्त का निरूपण करते है। व शकराचाय के मम्प्रदाय स सम्बद्ध केवलाद्वैत के सिद्धान्ता के समानान्तर अपने दाशनिक विचारा की भूमिका प्रस्तुत करते है।'[३]

इस प्रकार दाशनिक विचारा की दृष्टि से दोना कविया म क्वचित् भिन्नता के साथ प्रचुराश मे साम्य भी दृष्टिगत हाता है।

---

१ सू०, प ३३७। २ हिन्दी साहित्य की दाशनिक पृष्ठभूमि पृ १२८ १२९।
३ All these ideas expressed by Narasinha Mehta teach the doctrine of Advait They again offer a very interesting parallel to the thoughts expressed in the works of Shri Shankaracharya s school where the approach is from the Kevaladvaita point of view
Kevaladvaita in Gujarati Poetry P 58

मंदिर
बीकानेर

पंचम अध्याय

सूर एवं नरसी के काव्य का भक्ति-पक्ष

पंचम अध्याय

सूर एवं नरसी के काव्य का भक्ति-पक्ष

सूर एव नरसी के काव्य के दार्शनिक पक्ष पर विचार कर चुकने के पश्चात् यहाँ उनके काव्य के भक्ति-पक्ष की तुलना प्रस्तुत की जाती है।

भक्ति का मूल और उसकी प्राचीनता

भक्ति के मूल तथा उसकी प्राचीनता पर आज तक पर्याप्त विचार किया जा चुका है। अत यहाँ अधिक न लिखकर इस पर सामान्य सकेत करना ही उचित प्रतीत होता है।

विद्वानो का कहना है कि देह मे चैतन्य की भाँति वैदिक साहित्य मे भक्ति व्याप्त है।[१] वेदो की सूर्य, अग्नि, इन्द्र, वरुण, विष्णु आदि देवताओ की स्तुतियो मे दैन्य, विनय, मधुर एव समर्पण के भाव विद्यमान है, जो किसी रूप मे भक्ति के उत्स ही है। उपनिषदो के समय मे ये ही भाव कही प्रकट तो कही अन्त सलिला सरस्वती की तरह प्रवाहित होते हुए पुराणकाल मे 'भागवत' के रूप मे अथाह नद का रूप धारण कर लेते है। 'भागवत' इसीलिए भक्तिपुराण अथवा सात्वत-श्रुति के नाम से विख्यात है। आचार्य वल्लभ ने इसीलिए 'भागवत' का प्रमाण-चतुष्टय के रूप मे स्वीकार किया है।

भक्ति की भाँति 'वैष्णव-भक्ति' का मूल यद्यपि वैदिक-साहित्य मे एव चरम विकास 'भागवत' मे ही पाया जाता है तथापि भक्ति-साहित्य के अनुसन्धित्सुओ के लिए इसका क्रमिक इतिहास जानना आज भी पहले जितना ही दुष्कर बना हुआ है।

ऋग्वेद मे एक सामान्य देव उपेन्द्र के रूप मे विष्णु का सबसे पहला उल्लेख मिलता है। आगे 'यजुर्वेद' के अन्तर्गत ये ही उपेन्द्र 'यज्ञो वै विष्णु' अर्थात् यज्ञरूप मे मान लिए जाते है। इसके पश्चात् ब्राह्मण-ग्रन्थो मे 'ब्रह्म' नामक एक ऐसी सकल-विश्व-व्यापी परमात्म-सत्ता की कल्पना मिलती है, जो प्रारम्भ मे तो निराकार एव रहस्यमय रूप मे रहती है, किन्तु बाद मे 'विश्वात्मा' तथा साम्प्रदायिक उपनिषदो मे आत्मा के रूप मे 'विष्णु' अथवा 'शिव' रूप मे प्रतिष्ठित कर ली जाती है।[३] इस भाँति उपनिषदो मे ही नारायण, पुरुषोत्तम, परमात्मा, वासुदेव आदि अनेक नामो से विष्णुपूजा एक ऐसा व्यापक रूप धारण कर लेती है कि 'महाभारत' काल तक पहुँचते-पहुँचते तो वह 'भागवत' अथवा 'सात्वत' नाम से एक सम्प्रदाय विशेष का रूप ग्रहण कर लेती है।

---

१ कविवर परमानंददास और वल्लभ-संप्रदाय, पृ १२८, डा गोवर्धननाथ शुक्ल।

२ वेदा श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाण तच्चतुष्टयम्॥ त दी नि।

३ सूर की झाकी, पृ २४, डा सत्येन्द्र।

भागवत-सम्प्रदाय के मुख्य उपास्य वासुदेव थे। भक्ति-साहित्य के प्रणेताओं की मान्यता है कि प्रारम्भ में जिस प्रकार विष्णु और नारायण दोनों अलग अलग थे तथा कालान्तर में एक हो गए उसी प्रकार वासुदेव और कृष्ण भी प्रारम्भ में भिन्न भिन्न व्यक्तियों के वाचक थे, किन्तु बाद चलकर वे एक दूसरे के पर्याय हो गए। इस सम्बन्ध में श्री परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं 'वासुदेव कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। ये मथुरा प्रान्त के यादव कुल में उत्पन्न एक क्षत्रिय महापुरुष थे। उन्होंने आंगिरस ऋषि के यहाँ शिक्षा-दीक्षा ली थी। अपने गुरु से प्राप्त किए विचारों या सिद्धान्तों को इन्होंने अपने ढंग से दूसरे लोगों में प्रचार किया और उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके अनुयायी सात्वतों ने उन्हें अपना उपास्य एवं भगवान् तक स्वीकार किया। इसके सिवाय उनके जीवन काल में तथा उसके बाद तक भी उनके प्रति भक्ति एवं श्रद्धा प्रदर्शित की जाती रही। अन्त में वे पूर्णब्रह्म परमात्मा तक के अवतार समझे जाने लगे। महाभारत ग्रन्थ में वे हमारे समक्ष इन्हीं रूपों (अर्थात् महापुरुष एवं देवता स्वरूप) में दिखाई पड़ते हैं।'[1]

वासुदेव कृष्ण द्वारा उपदिष्ट यह धर्म 'एकान्तिक' नाम से भी अभिहित किया जाता है जिसका मुख्य उद्देश्य है—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥[2]

यह एकान्तिक धर्म स्वयं नारायण को भी प्रिय है—

नूनमेकान्तधर्मोऽयं श्रेष्ठो नारायणप्रियः।[3]

इस धर्म का प्रमुख उद्देश्य यह है कि मानव को अपना प्रत्येक कार्य करते समय ऐसी धारणा बना लेनी चाहिए कि मैं इसके द्वारा भगवदिच्छापूर्ति का केवल एक साधन मात्र हूँ। इसके अनुसार ईश्वर, भगवान्, वासुदेव, कृष्ण आदि सभी एक ही माने जाते थे। गीता ने इसी एक की अनन्य भाव से उपासना करने का आदेश इस प्रकार दिया है—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥[4]

इसी सात्वत भागवत अथवा एकान्तिक धर्म का अन्तिम विकसित रूप 'पांचरात्रधर्म' माना जाता है जिसका विस्तृत वर्णन पांचरात्र संहिताओं में मिलता है। प्रपत्ति द्वारा भगवान का अनुग्रह प्राप्त करना इसका मुख्य उद्देश्य है।

सात्वत धर्म ही आगे परिवर्द्धित एवं विकसित होकर आलवारों के गीतों के रूपों में सपुष्टि प्राप्त करता है। इसके बाद यह अनेक वैष्णव-सम्प्रदायों में विभाजित होकर भारत के सभी प्रान्तों में फैल जाता है।

सूर एवं नरसी की भक्ति का सम्बन्ध इसीके साथ रहा है। सूर जिस वैष्णव सम्प्रदाय में दाखिल थे उसका समावेश इसीके अन्तर्गत होता है। नरसी की भक्ति का सम्बन्ध सूर की

---

१ वैष्णवधर्म, पृ० ३[illegible], परशुराम चतुर्वेदी (प्रथम संस्करण)। २ गीता, अ० १८, श्लो० ६६।
३ महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ३४८, श्लो० ४। ४ गीता, अ० १२, श्लो० ८।

भाँति किसी सम्प्रदाय विशेष से न होने पर भी वे पूर्व काल से चले आते देशव्यापी पौराणिक भागवत-धर्म से ही सम्बद्ध थे।

वैष्णव भक्ति के उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् यहाँ दोनो कवियो की भक्ति पर विचार किया जाएगा।

भक्ति की व्याख्या

'भक्ति' शब्द का अर्थ है भगवद्-सेवा करना। 'नारद-भक्ति-सूत्र' मे भक्ति को परम प्रेम-रूपा, अमृत स्वरूपा तथा कर्म, ज्ञान और योग से भी अधिकतर प्रतिपादित किया है —

सा त्वस्मिन् परमप्रेमस्वरूपा ॥२॥
अमृतस्वरूपा च ॥३॥
सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ॥२५॥

'शाण्डिल्य-भक्ति-सूत्र' मे ईश्वर मे परमानुरक्ति को भक्ति माना है—

सा परानुरक्तिरीश्वरे ॥२॥

आचार्य वल्लभ माहात्म्य-ज्ञानपूर्वक भगवान मे सुदृढ एव सर्वाधिक स्नेह को भक्ति कहते है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्नचान्यथा ॥[1]

व्रज, गुजराती, मराठी, वगला, उडिया आदि समस्त भारतीय भाषाओ का कृष्णकाव्य भक्ति की इन्ही व्याख्याओ की आधार-भूमि पर फला-फूला है। हमारे विवेच्यकवि सूरएव नरसी का भक्तिकाव्य भी भगवान् के सुदृढ माहात्म्य एव स्नेह की उत्कट भावभूमि पर ही आधारित है।

भक्ति की महिमा

सूर एव नरसी दोनो कवियो ने अनेक स्थलो पर भक्ति का माहात्म्य वर्णन किया है। दोनो ने समान रूप से सासारिक दु खो की निवृत्ति तथा परमानन्द-प्राप्ति का ऋजुमार्ग प्रेमभक्ति ही माना है। विनय के एक पद मे सूर मन को 'गोविन्द भजन' का सद्बोध देते हुए कहते है—

रे मन, समुझि सोचि-बिचारि।
भक्ति बिनु भगवंत दुर्लभ, कहत निगम पुकारि।
० ० ०
सूर श्री गोबिंद-भजन बिनु, चले दोउ कर झारि।[2]

साथ ही भक्ति-रहित जीवन को वे वृथा घोषित करते है—

(अ) सूरदास भगवंत भजन बिनु वृथा सुजनम गँवै है।[3]
(आ) सूरदास भगवंत भजन बिनु नाहक जनम गँवायौ।[4]

---

१ सप्रकाशस्तत्त्वदीपनिबन्ध, श्लोक ४५। २ सू०, प ३०९। ३ सू०, प. ८६। ४. सू०, प ७९।

सूर का यह विश्वास है कि केवल कृष्ण भजन में ही भवसागर पार किया जा सकता है—

(अ) सूरदास-व्रत यहै, कृष्ण भजि, भव-जलनिधि उतरत ।[1]

(आ) क्रिया-कर्म करतहु निसि बासर भक्ति को पथ उजागर ।
सोचि बिचारि सकल स्रुति-सम्मति, हरि तें और न आगर ।
सूरदास प्रभु इहिं औसर भजि उतरि चलौ भवसागर ।[2]

सूर ने भक्ति रहित मानव जीवन को श्वान ग्रामशूकर प्रेत, उष्ट्र वृषभ तथा महिष के समान व्यर्थ घोषित किया है—

(अ) भजन बिनु कूकर सूकर जैसो ।
जैसे घर बिलाव के मूसा, रहत विषय बस वैसो ।
० ० ०
सूरदास भगवत भजन बिनु, मनो ऊँट-वृष भैसो ।[3]

(आ) भजन बिनु जीवत जैसे प्रेत ।
मलिन मंदमति डोलत घर घर उदर भरन के हेत ।[4]

सूर की भाँति नरसी ने भी प्रायः इन्हीं सन्दर्भों में भक्ति के माहात्म्य का वर्णन किया है। नरसी सूर की तरह समस्त पदार्थों में भक्ति को इतनी अधिक महत्ता प्रदान करते हैं कि जिसका अभाव ब्रह्मलोक के लिए भी खटकनेवाली वस्तु है—

भूतल भक्ति पदारथ मोटु, ब्रह्मलोक मां नाहीं[5]

नरसी इसी हेतु भगवान के समक्ष अन्य किसी वस्तु की याचना न करके केवल उनसे अनन्य भक्ति की ही कामना प्रकट करते हैं। वे देह की सफलता सदा भगवद् भक्ति में विगलित होते रहने में ही मानते हैं। उनकी दृष्टि में जीवन सांसारिक विषय भोगों के लिए नहीं किन्तु भगवद् भक्ति के लिए ही है—

मारा नाथजी मूजने, भक्ति देजो सदा, दीन जाणीने संभाळ लेजो,
भक्ति आपी भला भाव थी भूधरा, अंते आवो अहोनीश रहेजो
भक्ति कारण मारा, देह दुर्बल हुआ देह कारण रख स्नेह जाये,
आज मन माय जदुनाथ जो वीसरे, बळती वल मारो कुण थाये[6]

सूर की भाँति नरसी ने भी भक्तिहीन नर को श्रमित तथा गर्दभवत् भारवाही बताया है—

भक्ति विना जे जन जावे, ते व्यर्थ कहीये मानव देह रे,
मन कर्म वचने हरि नव सेव्या, भूल्या भवमां भटके तेह रे
दश मास उदरे दुःख पाम्या, करतो खरने भार रे,
देह धरी हरिनो दास न कहाव्यो, तेहनी जननी ने धिक्कार रे[7]

नरसी ने भक्तिहीन कुल का जीवन ही नरक-यन्त्रणा भोगने बताया है—

जे कुळ हरिनी भक्ति न साधी, ते अपराधी जाय बधारे,
भूतळ भार भरे शब सरखा, जावतडां नर नरक वस्यारे[8]

---

१ सू०, प ५६ । २ सू०, प ६१ । ३ सू०, प ३५७ । ४ सू०, प ३८८ । ५ न म का म, पृ ४७६ ।
६ न म का म, पृ ४८० । ७ न म का म, पृ ४६१ । ८ न म का म, पृ ४६४ ।

इसीलिए मानव को वे ससार के मायाजन्य समस्त प्रपच त्यागकर मात्र भक्ति करने का बोध देते हैं—

> अल्या भूल मा, भूल मा, भक्ति भूधरतणी, कारमी माया जोई कारे हरखो;
> स्वप्ननी वार्तामा, शुरे राची रह्यो, प्रेम दृष्टे करी हरी नरखो.
> शाने तें देह धरी, समर ने श्रीहरि, आव्यो संसार मां शुरे करवा;
> मायानी जाळमां, मोह पामी रह्यो, अवनि पर अवतर्यो भार भरवा.[1]

सगुण तथा निर्गुण-भक्ति

यद्यपि वल्लभ सम्प्रदाय मे ब्रह्म के निर्गुण-सगुण दोनो रूप स्वीकृत है तथापि इसमे निर्गुण की अपेक्षा सगुण का माहात्म्य अधिक माना गया है। सगुणोपासना साधार होने के कारण अधिक सरल एव मन को सहज ही मे आनन्दित करनेवाली होती है। इसके विपरीत निर्गुणोपासना निराधार होने के कारण भ्रमित करनेवाली मानी गई है। सूर कहते है—

> रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
> सब विधि अगम विचारहि तातैं सूर सगुन-पद गावै॥[2]

सूर के 'भ्रमरगीत' का प्रमुख उद्देश्य निर्गुण की अपेक्षा सगुण की विशेष महत्ता सिद्ध करना ही है। उन्होने ज्ञानमार्ग को सकीर्ण, कठिन एव नीरस तथा भक्तिमार्ग को विशाल, सरल और सरस कहा है। ज्ञानोपासक जगत् की विभूतियो के प्रति उदासीन बनकर अन्तर्मुख हो जाते है। उनकी इस निवृत्तिपरक साधना से रहस्य एव उलझने उत्पन्न होती है। इस प्रकार के कष्ट-साध्य ज्ञानमार्ग की साधना करनेवाले साधको मे से ऐसे बहुत कम होते है जो अपने लक्ष्य तक पहुँच पाते है। इसीलिए सूर ने निर्गुण के अटपटे मार्ग के स्थान पर सगुण-भक्ति के राजपथ का अनुसरण करना अधिक उपादेय बताया है। 'भ्रमरगीत प्रसग' मे गोपियाँ उद्धव से कहती है कि 'निर्गुन-कटक' से वह उनके प्रेम-भक्ति के 'राजपथ' को अवरुद्ध न करे—

> (अ) काहे कौं रोकत मारग सूधौ।
> सुनहु मधुप ! निर्गुन-कंटक तैं राजपंथ क्यौं रूँधौ॥[3]
>
> (आ) राजपंथ ते टारि बतावत उरझ, कुबील, कुपैंडो।
> सूरजदास समाय कहाँ लौं अज के बदन कुम्हैड़ो॥[4]

किन्तु इसका अभिप्राय यह न समझ लेना चाहिए कि सूर ने निर्गुणोपासना का सर्वथा निषेध किया है। उन्होंने तो केवल काल और पात्र की दृष्टि से ही इसकी अनुपयुक्तता बताई है,[5] क्योकि निर्गुण जैसी रसहीन साधना के लिए गोपियाँ पात्र नही थी। उनके लिए तो रासरसेश्वर, नटनागर कृष्ण की मधुर-भक्ति ही श्रेयस्कर थी। इस प्रकार सूर का प्रमुख लक्ष्य

१ न म का सं, पृ ४८३। २ सू०, प २। ३ भ्रमरगीतसार, आ शु, पृ १८।
४ सू०, प. ४५०८। ५. अ व शु, पृ. ५३३।

सगुण लीला गान होने पर भी निर्गुण के प्रति उन्होंने सर्वथा उपेक्षा प्रदर्शित नहीं की। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की स्तुति इस प्रकार की है—

> आदि सनातन, हरि अबिनासी। सदा निरंतर घट घट-बासी।
> ० ० ०
> जाको माया लख न कोई। निगुन-सगुन धर बपु सोई।[1]

सूर की भाँति नरसी की भक्ति का भी प्रधान लक्ष्य भगवान के सगुण रूप का गान ही था। निर्गुण भक्ति का आग्रह करनेवाले भीम नामक साधु से नरसी कहते हैं—

> को मुहूर्नि नदो, को मुहूर्नि वदो,
> मि गोव्यदजी मूकवो नहीं

निर्गुण-सगुण को लेकर सूर ने जिस प्रकार भ्रमरगीत प्रसंग की उद्भावना करके इस विषय पर विस्तृत चर्चा विचारणा की है उस प्रकार की चर्चा का नरसी साहित्य में सर्वथा अभाव है। सूर की भांति सगुण के प्रति अपनी विशेष रुचि प्रदर्शित करने पर भी नरसी ने निर्गुण को भक्तिपथ का कंटक नहीं अपितु सगुणवत उपास्य बताया है। वे कहते हैं कि ब्रह्म के निराकार स्वरूप के ज्ञान से ही संसार की भ्रान्तियों का निवारण सम्भव है—

> जे निराकारमां जहनु मन गळे, भिन्न संसारनी भ्रांति भागे,
> दास नरसयो कहे, तेने चरण नमु, ज्ञान विज्ञाननी जोत जागे[2]

नरसी का सगुण निर्गुण भक्ति के सम्बन्ध में श्री अनन्तराय रावळ लिखते हैं— सगुणोपासक नरसी ने परमात्मा के निराकार व सर्वव्यापक रूप की अनुभूति करके ब्रह्म के विराट स्वरूप को लक्ष्य कर 'तारी केम पूजा करूं कृष्ण करुणानिधि' पद बनाया है।[3] नरसी-साहित्य के अध्येताओं की प्राय यह मान्यता रही है कि नरसी ने जीवन के प्रारम्भ काल में शिवभक्त के रूप में, मध्याह्न में कृष्णभक्त के रूप में तथा सन्ध्याकाल में ब्रह्मज्ञ एवं प्रखर ज्ञानी के रूप में जीवन यापन किया था।[4]

सूर एवं नरसी के सगुण निर्गुण भक्ति सम्बन्धी विचारों में क्वचित् वैषम्य भी दृष्टिगत होता है। सूर वल्लभ से दीक्षित होने के पश्चात् अन्त तक सगुण भक्त ही बने रहे, किन्तु नरसी ने सगुण के साथ-साथ निर्गुण की उपासना भी की थी। नरसी एक ओर जहाँ निराकार की उपासना द्वारा सांसारिक भ्रान्तियों को दूर करने की कहते हैं वहीं दूसरी ओर वे कृष्ण को ही अपना इष्टदेव मानकर उनके चरणों में स्वयं का समर्पित करने की अभिलाषा भी व्यक्त करते हैं—

> श्यामना चरणमां इच्छु छु मरण रे, अहींया कोइ नथी कृष्ण तोले,
> श्याम शोभा घणी, बुद्धि ना शके कळी, अनंत ओच्छवमां पंथ भूली[5]

१ सू० प० ६२१। २ हा म हा क, पृ ८। ३ न म का म, पृ ४८४। ४ गु सा म, पृ ६७, अनन्तराय रावल। ५ नरसिंह महेता जीवन अने कवन, पृ १२८, श्री जेरोपुरा। ६ न म का म०, पृ ४८४।

भक्ति के प्रकार

आचार्यो ने भक्ति के मुख्यत दो प्रकार माने है—गौणी एव परा।[1] साधारण दशा की भक्ति को गौणी और सिद्ध दशा की भक्ति को परा भक्ति कहते हैं। गौणी के पुन दो भेद होते हैं—वैधी और रागानुगा।[2] शास्त्रानुमोदित भक्ति वैधी कहलाती है, जिसके आलम्बन ईश्वर स्वय है। इसीको मर्यादा-भक्ति भी कहते है, जो शास्त्रविहित नियमो से आवद्ध रहती है।[3] रागानुगा का सम्बन्ध मधुर भाव से होने के कारण वह स्वच्छन्द-प्रवाहा होती है। वस्तुत. यही मधुर-भक्ति का मूलाधार है। कृष्ण के प्रति प्रेम का जिसके हृदय मे लोभ हो वही रागानुगा भक्ति का अधिकारी है। स्त्री-पुरुष दोनो ममानतया इमके अधिकारी है। भगवान् मे परानुरक्ति परा भक्ति है। निष्काम होकर भक्त का प्रेमानन्द मे निमग्न होना परा भक्ति है।

भागवत मे भक्ति के प्रकारो का विविध दृष्टियो से विवेचन मिलता है। तृतीय स्कन्ध मे मानव के स्वभावानुसार भक्ति के चार प्रकार वताए गए है—तामसी, राजसी, सात्विकी और निर्गुणा। इनमे से प्रथम तीन सकाम्य एव अन्तिम निर्गुणा निष्काम मानी गई है। अन्य व्यक्तियो से वैरक्षालन के अर्थ की गई भक्ति तामसी, ऐश्वर्यादि के अर्थ प्रतिमा आदि मे भेद-वुद्धि मे की गई भक्ति राजसी, पाप-कर्मो के निवृत्यर्थ अथवा शास्त्राज्ञा के पालन के हेतु की गई भक्ति मात्विकी नाम मे अभिहित की जाती है। इन तीनो से श्रेष्ठ निर्गुणा-भक्ति है। ईश्वर के गुण-श्रवण मात्र से साधक मे अकारण अनन्य भक्ति-भाव का उद्भूत होना निर्गुणा-भक्ति है। इम भक्ति की अवस्था मे साधक मात्विकादि तीनो गुणो से ऊपर उठकर ईश्वर मे तद्रूपता प्राप्त कर लेता है। निर्गुणा-भक्ति के वदले मे भक्त को सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य एव कैवल्य मुक्तियाँ भी मिले तो वे उसके लिए अग्राह्य है।[4]

सूरसागर के तृतीय स्कन्ध मे 'भागवत' के अनुकरण पर 'देवहूति कपिल सवाद' मे भक्ति

---

१ भ र सि, पृ ८ सपा डा नगेन्द्र।

२ वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा। भ र सि, पृ. २४।

३ यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते ॥३॥
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते। भ र सि., पृ २४।

४ अभिसंधाय यो हिंसा दम्भं मात्सर्यमेव वा।
सरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामस ॥८॥
विषयानभिसंधाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
अर्चादावर्चयेद्यो मा पृथग्भावः स राजस. ॥९॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भाव' स मात्विक. ॥१०॥
मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथागंगाम्भसोऽम्बुधौ ॥११॥
लक्षण भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे ॥१२॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना ॥१३॥ भा. ३. २९।

के चार प्रकारों का वर्णन किया गया है। सूर ने 'भागवत' की चतुर्थ निर्गुणा भक्ति को सुधासार नाम दिया है। कपिल अपनी माता से कहते हैं कि हे माता! सात्विकी राजसी तामसी और सुधासार ये भक्ति के चार प्रकार हैं। विविध रंगों के मिश्रण से जल जैसे एकरूप होने पर भी अनेक प्रकार का भासित होता है वैसे ही भक्ति भी एक होते हुए भी कई प्रकार की होती है। इनमें सात्विकी भक्ति मुक्ति, राजसी धनवैभव, तामसिक वैरक्षालन तथा सुधासार भक्ति केवल भगवान की ही कामना करती है। सुधासार भक्त मुक्ति की भी इच्छा नहीं रखता है। ऐसा ही भक्त भगवान् को प्राणाधिक प्रिय है और वह भगवान से अभिन्न है।[1]

नरसी ने चारों प्रकार की भक्तियों के स्वरूप एवं तज्जन्य परिणाम का विवेचन न करके केवल हेतुकी भक्ति के साधक का प्रेत बताकर सुधासार भक्ति को प्रेमाभक्ति का नाम दिया है—

(अ) प्रत ने मुक्ति तो, परम वल्लभ सदा, हेतुना जीव ते हेतु वूठे,[2]

(आ) प्रेमभक्तिमा भग पडावे, अज्ञान आगळ लावे रे[3]

'श्रीमद्भागवत' में व्यासजी ने प्रह्लाद द्वारा नवधा भक्ति का प्रतिपादन करवाया है—

श्रवण कीर्तन विष्णो स्मरण पादसेवनम ।
अर्चन वंदन दास्य सख्यमात्मनिवेदनम ॥[4]

इनमें से प्रथम तीन—श्रवण कीर्तन और स्मरण का भगवान के नाम तथा भगवान की लीलाओं से सम्बन्ध है। गीता में भगवान कहते हैं—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रता ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥[5]

दूसरे तीन—पादसेवन अर्चन और वन्दन प्रकारों का भगवान की रूपसेवा से सम्बन्ध माना गया है। तथा शेष तीन—दास्य सख्य और आत्मनिवेदन भगवान में समर्पणीय भाव हैं। नवधा भक्ति के उपर्युक्त प्रकारों में से प्रथम छः वैधी भक्ति और शेष तीन रागात्मिका भक्ति के अंग हैं। वल्लभाचार्य ने नवधा भक्ति को दशवीं प्रेम-लक्षणा भक्ति का साधन बताया है—

बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः ।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्ण पूजया श्रवणादिभिः ॥
व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।[6]

---

१ माता भक्ति चारि प्रकार। सत रज, तम, गुन सुद्धासार।
भक्ति एक पुनि बहुविधि होइ। ज्यौं जल रंगमिलि रंग सु होइ।
भक्ति सात्विकी, चाहत मुक्ति। रजोगुनी धन कुटुम्बऽनुरक्ति।
तमोगुनी, चाहै या भाइ। मम बैरी क्यौं हू मरि जाइ।
सुद्धा भक्ति मोहि को चाहै। मुक्तिहु को सो नाहिं भवगाहै।
० ० ०
ऐसा भक्त सदा मोहि प्यारौ। इक छिन सो न रहौं न्यारौ।
२ न म का स, पृ ४७। ३ न म का स, पृ० ४६०। ४ भागवत, ७-५ २३।
५ गीता, ९ १४। ६ अ व आचार्य वल्लभ।

वल्लभाचार्य ने प्रेमलक्षणा-भक्ति को ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है। सूर ने भी वल्लभाचार्य की ही भाँति प्रेमलक्षणा को नवधा से श्रेष्ठ बताया है—

श्रवण कीर्तन स्मरण पादरत, अरचन वदन दास।
सख्य और आत्मनिवेदन, प्रेम लक्षणा जास॥[1]

'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' मे इसी प्रेमलक्षणा को रागानुगा भक्ति का नाम दिया है। नरसी ने इसी प्रेमलक्षणा अथवा रागानुगा भक्ति को 'दशधा' नाम से अभिहित किया है। उन्होने अमृत से भी अधिक मधुर कृष्ण को नवधा मे नही, अपितु दसवी प्रेमभक्ति से लभ्य माना है—

सांभळ सहियर सुरत धरीने, आज अनोपम दीठो रे;
जे दीठो ते जोवा सरखो, अमृतपें अति मीठो रे.
दृष्टे न आवे निगम जगावे, वाणी रहित विचारो रे;
सत्य अनंत ज जेहने कहीए, ते नवधाथी न्यारो रे.
नवधामा तो नहीं नरवेडो, दशधामां देखाशे रे;
अचवो रस छे एहेनी पासे, ते प्रेमी जनने पाशे रे.[2]

कृष्ण के पास अमृतोपम अचर्वित रस है, जो प्रेम-भक्तो के लिए ही सेव्य है। जिस भक्त पर कृष्ण की कृपा होती है, वही इस 'अचवो रस' (अचर्वित रस) का पान कर सकता है।

तात्पर्य यह कि सूर एव नरसी दोनो कवि भक्ति के एक ऐसे स्वरूप को समान रूप से मानते है, जो वैधी और नवधा-भक्ति से ऊपर प्रेम की विशुद्ध भाव-भूमि पर आधारित है। अतर वस्तुगत न हो कर नामगत ही प्रतीत होता है।

साधना-भक्ति

सूर एव नरसी की भक्ति का मूल आधार साधना-भक्ति नही, अपितु भावप्रधान रागानुगा भक्ति है, जिसके मुख्य चार प्रकार है—दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य। आचार्य वल्लभ दसवी प्रेमलक्षणा-भक्ति को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए भी प्रारभावस्था मे साधना-भक्ति के श्रवणादि प्रकारो को स्वीकार करते है। सूर एव नरसी ने भी मुख्यत प्रेमभक्ति के ही भावो का निरूपण किया है, किन्तु कई स्थानो पर साधना-भक्ति के भाव भी उन्होने प्रकट किये है। अत यहाँ प्रथम दोनो की साधना-भक्ति पर विचार करना उचित है।

'हरिभक्तिरसामृतसिन्धु' मे साधना-भक्ति की दो विशेषताएँ बताई है। प्रथम यह कि वह स्वय कृति-साध्या अर्थात् वाह्य-व्यापारो से सिद्ध होनेवाली है और द्वितीय यह कि उसके माध्यम से साध्यरूपा रागानुगा जैसी भावभक्तियो की सिद्धि होती है।[3] साध्यरूपा भावभक्तियो तक पहुँचने के लिए साधक को प्रारभ मे अपना मन उचित साधनो द्वारा कृष्ण मे केन्द्रित करने के लिए साधना-भक्ति के अन्तर्गत जिन साधनो की अपेक्षा रहती है, वे छ है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन और वन्दन।

---

१ सूरसारावली, सूरसागर, वें, प्रे, पृ ५। २. न० म० का० सं०, पृ ४९१।
३. कृतिसाध्या भवेत् साध्यभाव सा साधनाभिधा ॥२॥ भ. र सि. पू. वि द्वि सा ल.।

श्रवण-भक्ति

श्रवण भक्ति का लक्षण है—

श्रवण नाम चरितगुणादीना श्रुतिभवेत ।[1]

कृष्ण के नाम चरित्र और गुणादि के सुनने को 'श्रवण भक्ति' कहते हैं। इस भक्ति की चरम परिणति वहाँ दृष्टिगत होती है जहा जल विहीन मछली की भाति भक्त कृष्ण-नाम-जल के अभाव म तडपने लगे।

वस्तुत सूर एव नरसी दोनो कवियो के समस्त पदो का मुख्य भाव अपने इष्ट की विविध लीलाओ को सुनने तथा सुनाने से ही सम्बद्ध है। दोनो ने अपने ग्रथो की अत की फलश्रुतियो मे प्राय भक्ति पदो के श्रवण मननादि का माहात्म्य ही प्रदर्शित किया है। सूर एक पद मे अपने मनरूपी शुक को उस वन म उड जाने को कहते है जहा 'रामनामामृत' से अपने श्रवण पुटो को भरने का उसे सुअवसर मिले—

सुवा, चलि ता बन कौ रस पीजै ।
जा बन राम नाम अम्रित रस, स्रवन पात्र भरि लीजै ।[2]

नरसी भगवान कृष्ण की ही वाणी द्वारा श्रवण भक्ति की महत्ता प्रकट करवाते है। भगवान अपने महात्म्य के गुणगान करने का आदेश दते हुए नरसी को इस प्रकार कहते हैं—

जे रस गुप्त ब्रह्मादिक नव लहे, प्रगट गाजे तु हुने वचन दीधु,
o o o
भूतलमाहे जे पापविण मानवी, सुणे भणे अनुभवे भाव आणी,
ते पद दुलभ वइकुठ पामशे, मान माहरु कहु वेद वाणी[3]

कीतन भक्ति

नारद कहते हैं—

स कीत्यमान शीघ्रमेवाविभवति अनुभावयति च भक्तान ॥१३॥

कीतन से भगवान् शीघ्र प्रसन्न होकर भक्त पर कृपा करते हैं। भगवान के नाम लीला, गुण आदि का उच्चस्वर म एक साथ मिल कर गान ही कीतन भक्ति है—

नामलीलागुणादीनामुच्चर्भाषा तु कीत्तनम ॥४८॥[5]

मन का निरोध भक्ति का एक अग है। कीतन भक्ति म गानकला के लय तथा स्वर के आधार पर ऐसा समा बँध जाता है कि सभी का मन अन्य दिशाओ से हटकर भक्ति म ही लीन हो जाता है। अत कीतन भक्ति मन को इष्ट म लीन करने का सहज उपाय है।

वल्लभाचाय से दीक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात सूर का जीवन एक 'कीतनकार' के रूप म ही व्यतीत हुआ था। वल्लभ-सम्प्रदाय म स्वरूपसेवा के शृगार भाग कीतन आदि आयोजना मे कीतन-सेवा का भी विशेष महत्त्व है। इस सम्प्रदाय के मन्दिरो म आठ समय की सेवा म कीतन-सेवा भी आवश्यक अग मानी जाती है। अष्टछाप के आठो कवि आठो समय की कीतन-सेवा के लिए

१ भ र सि, पू वि द्वि मा ल श्लोक ५१। २ सू० प ४०। ३ न म का म पृ ७।
४ नारदभक्तिसूत्र। ५ भ र सि पू वि द्वि सा ल ।

अलग-अलग नियुक्त थे। इनमे सूर पाँचवी उत्थान-समय की सेवा के कीर्तनिये थे। सूर उच्चकोटि के गवैये थे। उन्होने भगवान के कीर्तन का महत्त्व इस प्रकार बताया है—

जो सुख होत गुपालहिँ गाएँ।
सो सुख होत न जप-तप कीन्हैं, कोटिक तीरथ न्हाएँ।
दिएँ लेत नहिँ चारि पदारथ, चरन-कमल चित लाएँ।
तीनि लोक तृन-सम करि लेखत, नंद-नंदन उर आएँ।
वंसीवट, वृन्दावन, जमुना तजि वैकुंठ न जावै।
सूरदास हरि कौ सुमिरन करि, बहुरि न भव-जल आवै।[1]

देखा जाए तो 'सूरसागर' एक वृहद् कीर्तन-काव्य ही है। सूर का अधिकाश पद-साहित्य कीर्तन के लिए ही निर्मित हुआ है।[2] कीर्तन-काव्य मे भावोद्रेक और रस-परिपाक दो तत्त्व प्रधान होते हैं। सूर के पदो मे ये दोनो तत्त्व विद्यमान है।

साम्प्रदायिक दृष्टि से यद्यपि नरसी को 'कीर्तनिया' नही कहा जा सकता, तथापि उनके काव्य का प्रयोजन प्राय कृष्ण-कीर्तन ही था। सूर की भाँति उन्होने भी कृष्णलीलाओ का कीर्तन ही किया है। सूर श्रीनाथजी के मदिर मे बैठकर तानपूरे पर अपने पद गाया करते थे, तो नरसी करताल बजाकर भजन-मडलियो के बीच कीर्तन किया करते थे। दोनो कवियो की कीर्तन-प्रणालिका मे इतना अतर अवश्य रहा कि सूर को जहाँ एक निश्चित प्रणाली पर स्थिर भाव से अपनी गीतधारा बहाने का सुअवसर उपलब्ध हुआ था, वहाँ नरसी का जीवन इतना विशृखलित रहा कि वे सूर की भाँति पूर्ण शाति के साथ अपने इष्ट की कीर्तन-सेवा नही कर सके थे। वे अपने भजन-कीर्तन को लेकर ही कुटुब, जाति, समाज एव राजा के कोप-भाजन बने थे। फिर भी उनके जीवन का प्रमुख आधार कीर्तन ही था। कीर्तन के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए उन्होने कहा है—

कृष्ण कीर्तन विना, नर सदा सूतकी, विमळ कीधे वपू शुद्ध न थाये;
सकळ तीरथ श्रीकृष्ण कीर्तन कथा, हरि तणा दास जेने हेते गाय.[3]

कृष्ण-कीर्तन के अभाव मे मानव शूद्रवत् अस्पृश्य रहता है। कृष्ण-कीर्तन कथा मे ही गगा-बद्री-केदार आदि समस्त तीर्थ अन्तर्हित हैं। नरसी ने कृष्ण-कीर्तन-रहित मानव को अपनी समस्त उत्तमोत्तम उपलब्धियो को द्यूत मे गँवा देने वाले द्यूतकार मे उपमित किया है—

कृष्ण-कीर्तन विना जाम जाए वृथा जेम रहे जूगटे सिद्धि हारी.[4]

स्मरण-भक्ति

स्मरण-भक्ति का सबध मानसिक जगत् से है। साधक अपने मन को इतर विषयो मे हटाकर अपने इष्ट के स्मरण मे लीन कर देता है। भगवान् की लीला, रूप, नाम, गुण, माहात्म्य आदि का प्रतिपल स्मरण रखना ही स्मरण-भक्ति है—

ध्यानं रूपगुणक्रीडासेवादेः सुष्ठु चिन्तनम्।[5]

---

१ सू०, प ३४६। २ सूरनिर्णय, पृ ३१४। ३ न म का. सं., पृ. ४७६। ४ न. म. का. सं., पृ ४८०। ५ भ र सि पू वि द्वि मा ल।

'सूरसागर' के प्रथम एवं एकादश स्कंध को छोड़कर शेष सभी स्कंधों तथा अधिकांश प्रसंगों का प्रारंभ 'हरि-स्मरण' के साथ ही किया गया है। सूर हरि-स्मरण का प्रभाव बताते हुए मन को कहते हैं—

रे मन, सुमिरि हरि हरि हरि ।
सत जज्ञ नाहिंन नाम सम, परतीति करि करि करि ।
हरि-नाम हरिनाकुस बिसार्यौ उठ्यौ बरि बरि बरि ।
सूर श्री गोपाल हिरदै राखि धरि धरि धरि ।[1]

सूर की भाँति नरसी ने भी सदा 'नंदकुँवर' के स्मरण का आग्रह किया है। उनका कथन है कि कृष्ण के ध्यान से ही व्यक्ति को आनन्दोपलब्धि हो सकती है—

ध्यान धर, ध्यान धर, नंदना कुंवरनु जे थकी अखिल आनंद पामे,[2]

नरसी का यह दृढ़ विश्वास है कि कठिन समय में हरि ही मानव को आपत्तियों के गर्त से बाहर करने में समर्थ है। अतः उनका अहर्निश स्मरण करते रहना चाहिए—

शा सुखे सूतो संभार श्रीनाथने, हाथ ते हरि विना कोण साहे[3]

पाद-सेवन भक्ति

पाद-सेवन भक्ति में दास्य भाव निहित है। इसमें भक्त स्वयं को अनाथ एवं दीन तथा भगवान को स्वामी एवं दीनवत्सल मानता है। यह बाह्य एवं मानसिक दोनों रूपों में की जाती है। सूर एवं नरसी दोनों कवियों ने जहाँ भगवान् के चरणों की शरण स्वीकार की है वहाँ उनकी मानसी भक्ति प्रकट हुई है—

सूर

करि मन, नंद-नंदन ध्यान ।
सेव चरन-सरोज सीतल, तजि विषय रस-पान ।[4]

नरसी

तू दयाशील, हूं दीन, दामोदरा !
इंदिरानाथ ! एहवुं विचारी
चरणनि शरण आव्यो, कृपानाथ ! हूं,
करुणा गोपाळ ! संभाळय माहरो[5]

दोनों कवियों की अंतिम दृष्टि भगवान के चरणों में लीन होने की है—

सूर

चकई री, चलि चरन-सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग ।[6]

नरसी

श्यामना चरणमां इच्छु छु मरण रे अहियां कोइ नथी कृष्ण तोले[7]

१ सू० प ३०६। २ न म का म, पृ ८३। ३ न म का म, पृ ४८७। ४ सू०, प ३०७। ५ हा म हा न, पृ ६। ६ सू०, प ३३७। ७ न म का म, पृ ४८४।

अर्चना-भक्ति

साधना-भक्ति मे 'अर्चना' का सर्वाधिक महत्त्व है। अर्चना-भक्ति के सबध मे रूप गोस्वामी कहते हैं—

शुद्धिन्यासादिपूर्वाङ्गकर्मनिर्वाहपूर्वकम् ॥४५॥
अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रेणोपपादनम् ।[१]

शुद्धि तथा न्यास आदि पूर्वाङ्गो का सम्पादन करके मत्रो द्वारा पूजन-सबधी उपचारो का सपादन 'अर्चन' है। 'अर्चन' तथा 'वन्दन' दोनो भक्तियो का परस्पर गाढ सबध है। दोनो के व्यापार बहुधा साथ-साथ ही होते हैं। पाद-सेवन-भक्ति की भाँति अर्चना-भक्ति के भी दो रूप हैं। एक वह है जिसमे धूप-दीपादि द्वारा षोडशोपचार पूजा की जाती है और दूसरी वह है जो मानसी-अर्चना कहलाती है। इसमे भगवान् का ध्यान एव आत्म-समर्पण ही मुख्य है।

सूर एव नरसी दोनो कवियो ने भगवान की विराट् पूजा के दिव्य चित्र अकित किये है,[२] जिनका समावेश मानसी-अर्चना के अन्तर्गत किया जा सकता है। मानसी-पूजा मे पूजा के समस्त उपकरण भावात्मक रूप मे ही रहते है। एक पद मे नरसी ने भगवान की आरती उतारते हुए अपनी 'दीवटिया'[३] (मशालची) बनने की कामना प्रकट की है—

राधा माधवने करुं आरती, शोभा कही नव जायरे,
० ० ०
सुंदर मुख जोइ करी प्रभुनो, दीवडीओ थाउंरे.[४]

वन्दना-भक्ति

विनयपूर्वक भगवान् को वन्दन करना वन्दना-भक्ति है। दोनो कवियो ने ग्रथारभ मे भगवान् का वन्दन किया है। सूर का 'सूरसागर' ग्रथ 'चरन कमल बन्दौ हरि राई' के द्वारा प्रारभ होता है। 'वन्दना-भक्ति' मे दोनो कवियो ने अपने इष्टदेव के माहात्म्यपूर्वक वन्दन के साथ-साथ गुरु, सन्तो एव भक्तो का भी अतीव श्रद्धा से वन्दन किया है। सूर अपने इष्टदेव के चरण-कमलो मे वन्दना करते हुए कहते हैं—

वंदौं चरन-सरोज तिहारे।
सुंदर स्याम कमल-दल-लोचन, ललित त्रिभंगी प्रान-पियारे।[५]

नरसी ने भी भगवान के अप्रतिम माहात्म्य का वर्णन करते हुए उन्हे वन्दन किया है—

श्री पुरुषोत्तम करूं प्रणामजी, रग सलूणा अद्वित नामजी;
स्नेह-शिखर गुणडाना ग्रामजी, नेह-निभावन अति अभिरामजी.[६]

यहाँ तक नवधा भक्ति मे से प्रथम छ साधना-भक्तियो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। आगे दोनो कवियो की भक्ति के प्रमुख भावो पर विचार किया जाएगा।

---

१. भ. र सि पू वि द्वि सा. ल। २ (अ) सू०, प. ३७०, ३७१। (आ) न म. का. सं, पृ. ४५।

भक्ति के मुख्य भाव

सवथा सवभावेन भजनीया व्रजाधिप '[1] अर्थात् भगवान कृष्ण समस्त भावो म भजनीय हैं। बाल, कान्ता सख्य एव दास्य जस उत्तम तथा शिशुपालवत् द्वेष भाव स भी कृष्ण सवदा सव्य है। एकचित्त हो कर किसी भी भाव से भजन पर कृष्ण सहज रूप म प्राप्त हो सकते हैं —

काम क्रोध भय स्नेहमक्य सौहृदमेव च।
नित्य हरौ विदधतो यान्ति तन्मयता हि ते ॥१५॥[2]

भक्ति के मूल आधार भाव ही हैं। भाव असीम हैं। अत भक्त तथा भजनीय क सवधा को किसी भी प्रकार की सीमा म नियत्रित करना दुष्कर है। फिर भी ससार म मानव प्रेम-सबधी प्रधान भाव चार हैं—दास्य सख्य वात्सल्य और माधुय। इन्ही सासारिक भावो का सबध लौकिकता से हटकर जब भगवान् के अलौकिक भावो म केन्द्रित हो जाता है, तब वे भक्तिभाव के रूप म परिणत हो जाते है। अर्थात् दास्य सख्यादि भावो का आलबन जब कोई व्यक्ति होता है तब व सासारिक मान जाते हैं किन्तु जब उनके आलबन भगवान स्वय अथवा भगवल्लीला सबधी दिव्य पात्र होते है तब व भक्तिभाव हो जाते है।

भक्तो ने दास्य सख्यादि समस्त लौकिक भावो को भगवान म केन्द्रित करने का सलाह दी है। उपयक्त चारो प्रेम-सबधी भावो से वल्लभ-सम्प्रदाय म भक्ति होती है। परमात्मा मेरे माता पिता है। मैं उनका आज्ञाकारी पुत्र अथवा स्वामिभक्त दास हूँ। यह दास्य भक्ति है। पुत्रभाव की भक्ति म परमेश्वर पुत्र है और भक्त माता पिता। बालकृष्ण क प्रति यह भाव वात्सल्य भक्ति का है। परमात्मा मेरे सखा हैं वे मेरे परम मित्र है यह सख्य भक्ति है। परमात्मा पति हैं और मैं उनकी पत्नी हूँ अथवा परमात्मा प्रेमी है और मैं उनकी प्रिया हूँ इन भावो स की गई भक्ति शृगार भक्ति अथवा माधुय भक्ति कहलाती है।

नवधा भक्ति म 'दास्य सख्यमात्मनिवदनम' के रूप म दास्य एव सख्य का समावेश हो जाता है। नारद भक्ति-सूत्र की ग्यारह आसक्तियो क अतगत उपयु क्त चारो भक्तिभावो का क्रमश दास्यासक्ति सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति तथा कान्तासक्ति क रूप म स्वीकार किया गया है। भक्ति के प्रमुख भावो का क्रमश पूव का पर मे अन्तर्भाव भी हो जाता है। यथा दास्य का सख्य म दास्य-सख्य का वात्सल्य म तथा दास्य-सख्य-वात्सल्य का माधुय म।

सूर एव नरसी दोनो कवियो म इन चारो भावो के पद मिलते हैं किन्तु इनम से कोई एक ही उनकी भक्ति का प्रमुख भाव रहा है। यहा दोनो की भक्ति के प्रमुख चारो भावो पर विचार करने स पूव उनके प्रमुख भक्तिभाव पर विचार करना अधिक उचित प्रतीत होता है।

सूर का प्रमुख भक्तिभाव

सूर न पुष्टि-सप्रदाय का मान्यतानुसार भगवान कृष्ण क बालरूप की चेष्टाओ का वणन करत हुए नन्द-यशोदा आदि क द्वारा वात्सल्य भक्ति क भाव अभिव्यक्त करवाय हैं किन्तु इसका तात्पय यह नहा कि वात्सल्य उनकी भक्ति का प्रमुख भाव है। सूर क विनय क आत्मपरक पदो म दास्य भाव के भी कई पद उपलब्ध होते हैं तथा आसक्तियो के अनुसार सूर न राधा एव गोपियो

---

१ चतुश्लोकी, श्लोक १, श्री वल्लभाचार्य। २ भागवत, स्कन्ध १० अ० २६।

के द्वारा मधुर भाव की अभिव्यजना की है, पर इनका समावेश भी कवि के मुख्य भावो के अन्तर्गत नही किया जा सकता है। सम्प्रदाय की मान्यतानुसार अष्टछाप के आठो कवि भगवान् के अष्टसखा माने जाते है, जो वास्तव मे भगवान् के सुदामा, सुवल आदि सखाओ मे से ही हे। सूर अष्टसखाओ मे प्रमुख माने जाते है। उनकी भक्ति मे सख्य-भाव की ही प्रधानता दृष्टिगत होती है। उन्होने सुदामा, सुवल आदि के माध्यम से सख्य-भाव की भक्ति की ही पूर्ण अभिव्यजना की है। अत इस आधार पर यह कहा जा मकता है कि उनकी भक्ति का प्रमुख भाव सख्य ही था।

नरसी की भक्ति का प्रमुख भाव

सूर की भाँति नरसी मे भी दास्य-भाव के पद मिलते है। 'हारसमेना पदो' मे यह भाव उत्कट रूप मे प्रकट हुआ है। किन्तु उनके दास्य-भाव मे दैन्य-प्रदर्शन के साथ कही-कही मुँह लगे भृत्य के जैसी स्वामी की भर्त्सना करने की वृत्ति भी दृष्टिगत होती है —

सार करय सामळा ! मेहल्य मन-आंवळा;
उठ्य गोपाळराय ! असूर थाय.
नरसिआन एक हार आपतां
ताहरा वापनूं शू रे जाये?'

सूर के दास्य-भाव मे नरसी के जितनी प्रगल्भता नही, किन्तु दैन्य का समन्वय अधिक प्रमाण मे मिलता है।

नरसी मे माधुर्य-भाव का स्थान सर्वोपरि है। 'शृगारलीला', 'वसत-लीला', 'हींडोळाना पद', 'चातुरीओ' तथा शृगारपरक समस्त स्फुट पदो मे नरसी का मधुर-भाव ही प्रमुख रूप मे प्रकट हुआ है। मधुर-भाव की तीव्रानुभूति मे नरसी कही-कही तो सूर से भी आगे निकल जाते है। वे मधुर-भावानुभूति के समय इतने उन्मत्त हो उटते है कि अपने पुरुषत्व को भूलकर कृष्ण-गोपियो के मध्य नाचने लगते है।[2] मधुर-भाव मे उनका आदर्श गोपीभाव है। उन्होने व्रजागनाओ को ही मधुर-भाव की पूर्ण अधिकारिणी माना है—

प्रेमने जोग तो, व्रजतणी गोपीका, अवर विरला कोइ भक्त भोगी.[3]

मधुर-भाव की भक्ति का आदेश नरसी को भगवान् कृष्ण द्वारा प्राप्त हुआ था। अत इस दृष्टि से रसेश्वर कृष्ण ही उनके गुरु कहे जा सकते हे—

धन्य तुं धन्य तु एम कहे श्रीहरी, धन्य तु नरसहीया भक्त मारो;

० ० ०

जे रस गुप्त ब्रह्मादिक नव लहे, प्रगट गाजे तुं हुंने वचन दीधुं.[4]

नरसी कोटि-कोटि वर्षो तक कृष्ण की शरण मे रहकर उनके माथ वसत की मधुर क्रीडाएँ करना चाहते है—

शरण रहिये मारा वालमा, कोटि वर्ष वसंत रमीजे.[5]

---

१ हा स हा के, पृ १६। २ न म का सं, पृ ७६। ३ न म का सं, पृ. ४७८।
४ न म का. सं., पृ. ७६। ५ न म का म, पृ ७६।

उपयुक्त विवेचन का तात्पर्य यह कि सूर की भक्ति का प्रमुख भाव जहाँ सख्य है वहाँ नरसी का मधुर। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दोनों में अपने मुख्य भक्ति भाव के साथ-साथ इतर भावों के पद भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। अतः भक्ति के प्रमुख भावों के आधार पर यहा दोनों की तुलना प्रस्तुत की जाती है।

दास्य-भक्ति

आचार्य वल्लभ ने आत्मदैन्य, विनय याचना जैसे भावों को भक्ति के लिए अपेक्षित माना है। 'सूरसागर' के विनय तथा नवम स्कन्ध की रामकथा में सूर के दास्य भाव के प्रचुर पद मिलते हैं। दीक्षा के पूर्व आचार्य वल्लभ की शरण में आने से पूर्व सूर प्रायः विनय के पद ही गाया करते थे और संभव है दीक्षा के पश्चात् भी उन्होंने स्वल्प प्रमाण में विनय एवं दास्य भाव के पद बनाये हों।[१]

सूर को अपने इष्टदेव के सामर्थ्य पर पूर्ण विश्वास था। वे भगवान् के भक्त के प्रति परम वात्सल्य तथा पतित पावनत्व के विरुद से भलीभांति परिचित थे। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि भगवान अपने आश्रितों पर सदा कृपा दृष्टि रखते हैं। विभीषण, द्रौपदी, बलि आदि सभी पर उन्होंने अकारण कृपा की थी।[२] उनको यह पूरा विश्वास है कि गाय जैसे अपने वत्स की चिंता रखती है वैसे ही भगवान् सदा अपने दास का स्मरण रखते हैं।[३] भगवान् इतने उदार हैं कि अपने भक्त के तृणवत् तुच्छ गुणों को सुमेरु की भाँति बढ़ाकर तथा सागर-तुल्य अपरिमित अपराधों को बूंद के सदृश स्वल्प मानते हैं।[४] अपने इष्टदेव का उच्छिष्ट प्रसाद प्राप्त कर सूर स्वयं को परम सुखी मानते हैं—

सूरदास कौं और बड़ौ सुख जूठन खाइ जिये।[५]

अपना दैन्य प्रदर्शित करते हुए कई पदों में सूर ने एक ओर जहाँ स्वयं पर महा अधर्मी, कामी, विषयी जैसे दुर्गुणों का आरोप किया है वहाँ दूसरी ओर एक अक्खड़ भक्त की भांति उन्होंने अपने इष्टदेव को ललकारा भी है। ऐसे पदों में अपने प्रभु के प्रति उनकी प्रगाढ़ भक्ति प्रकट हुई है। एक स्थान पर सूर अपने इष्टदेव के साथ लड़कर उनको विरद बिन करने की धमकी देते हैं—

> आजु हौं एक एक करि टरि हौं
> कै तुमहीं कै हमहीं, माधौ, अपने भरोसे लरिहौं।[६]

नरसी के दास्य भाव में सूर के जितना दैन्य नहीं किंतु अक्खड़पन तथा प्रगल्भता के भाव अधिक मात्रा में मिलते हैं। कृष्ण को उन्होंने 'व्यभिचारी', 'स्त्रैण', 'परस्त्री-लंपट', 'गोप-बालक' जैसे कठोर वचनों से उपालंभित किया है। हार प्रसंग में 'हार' प्रदान करने में विलंब करते देख कर उन्होंने कृष्ण को इस भाँति उपालंभित किया है—

> (अ) सामळा! तूहने लोक लपट कहे,
> थयो व्यभिचारय, कानुडा कामी![७]
>
> (आ) पूछवू होय तो पूछने स्त्रीमन[८]

१ अ व गु, पृ ६०३। २ सू०, प ३। ३ सू० प ४। ४ सू०, प ८। ५ सू०, प १७। ६ सू०, प १२४। ७ हा स हा के, पृ ४। ८ हा म हा प, पृ १६।

(इ) राजानी दीक्यरी रुक्मणी परहरी,
कूबरी-मंदिरे रह्यो, मोरारि.
(ताहरी) रत्न गूंजा-विचि भेद नहिं, भूधरा !
सायर-छीलर ते एक जाणां.[1]

(ई) (पेलो) नंदनो छोकरो छाश पीतो,
कांबळी श्रोढतो, हाथमां लाकड़ी,
गावडी चारतो वंन्य रिहितो.[2]

सूर की भाँति नरसी मे दास्य-भक्ति के विनय, याचना, समर्पण आदि के भाव भी यथा-स्थान उपलब्ध होते हैं। उन्होने कृष्ण को अपना स्वामी, माता-पिता आदि सर्वस्व स्वीकार कर लिया है—

माहरे मात तूं, भ्रात तू भूधरा !
तू व्यना दुःख (ए) कोहनि कहीइ ?[3]

उन्होने मत्र, जत्र, ध्यान सब कुछ मनमोहन को ही माना है—

मंत्र तूं, जंत्र तूं, ध्यान धरणीधरा !
मंत्र मोहन व्यना नहि रे बीजो.[4]

सूर की भाँति नरसी ने भी अपने दैन्य-भाव के सदर्भ मे भगवान के भक्त-वात्सल्य का चित्रण करते हुए ध्रुव, प्रह्लाद आदि पौराणिक भक्तो का उल्लेख किया है, जिन्होने सहज ही मे भगवद्-कृपा से उत्तम स्थान प्राप्त कर लिया था—

देवा ! हमची वार का बधिर होइला ?
आपुला भक्त कां वीसरि गैला ?
ध्रुव प्रह्लाद अंमरीष विभीषणा
नामिंचे हाथ ति दूध पियुला.[5]

भगवान् के माहात्म्य का वर्णन करते हुए नरसी ने ऐसे अपौराणिक सतो एव भक्तो का भी उल्लेख किया है, जिन पर भगवान ने अनुग्रह किया था। ऐसे कृपापात्र सतो एव भक्तो मे कबीर, नामदेव एव जयदेव प्रमुख है। सूर मे प्राय. यह प्रवृत्ति दृष्टिगत नही होती है—

म्लेच्छ (जन) मांटि लें कबीरनें ऊधर्यो,
नामाचा छापरां आप्यां छाही.
जयदेवने पद्मावती आपी ....[6]

विनय-भक्ति की साधना मे वैष्णव-सम्प्रदाय मे सात भूमिकाएँ स्वीकृत है, जो इस प्रकार है—दीनता, मानमर्षता, भयदर्शना, भर्त्सना, आश्वासन, मनोराज्य और विचारणा। सूर ने इन सातो भूमिकाओ के आधार पर विनय के पद लिखे है। प्रयत्न करने पर नरसी मे भी विनय की उपर्युक्त समस्त भूमिकाओ के भाव उपलब्ध हो जाते हे। यहाँ दोनो कवियो के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है।

---

१ हा. स हा के, पृ २६। २ हा स हा के, पृ. २१। ३. हा स हा के, पृ. २१। ४ हा स हा के, पृ ६। ५ हा स हा के, पृ १५। ६ हा स हा के, पृ. १५।

१—दीनता

इसमे भक्त स्वय को अतीव दीन-हीन तथा प्रभु को सवसामर्थ्य-सपन्न बताता है —

सूर

(अ) प्रभु हौं सब पतितन को टीको।[1]

(आ) सूरदास प्रभु अधम उधारन सुनिये श्रीपति स्वामी।[2]

नरसी

नारसहींयो नागर रक छ बापडो, करश समाळ पोतानो जाणी[3]

२—मानमपता

इसमे अभिमान का त्याग एव विनम्रता का प्रदशन किया जाता है।

सूर

मेरी कौन गति ब्रजनाथ ?

भजन बिमुखऽरु सरन नाहीं फिरत विषयनि साथ।

हौं पतित, अपराध पूरन, भयौ कम विकार।[4]

नरसी

एवारे अमो एवारे एवा, तमे कहो छो वळी तेवारे

० ० ०

हळवा कमनो हु नरसयो, मुजने तो वष्णव वाहाला रे[5]

३—भयदशना

इसमे भक्त ससार की वषयिक वस्तुओ को भयावह बताकर अनन्य भाव से भगवान की शरण स्वीकार करता है।

सूर

अब के राखिलेहु भगवान।

हम अनाथ बठे द्रुम डरिया पारधि साधे बान।[6]

नरसी

राख्य भवसिधुमा अतिशे महाभय थकी, नाम नारायण भाव मेहेली,

विषयतष्णा परो मन ना धरो, हु ने महारु जवत तेमा बूडो

० ० ० ०

बउ कर जोडी नरसयो विनवे, भवजळ बूडता बाह्य ताणो

१ सू, प १३८। २ सू०, प १४८। ३ न म का स, पृ ८३ ४ सू०, प १२८।
५ न म का म प ४७१। ६ सू० प ६७। ७ न म का स प ४८८।

४–भर्त्सना

इसमे भक्त अपने मन को कुकृत्यो के लिए खूब डाटता-डपटता है और कोसता है।

सूर

रे मन मूरख जनम गँवायो,
करि अभिमान विषय-रस गीध्यौ, श्याम-सरन नहि आयो।[1]

नरसी

आज मन साथ जदुनाथ जो वीसरे, वळती वले मारी कुण थाये;
कर्मकूंडा करी, खाण चारे भरी, नासवा नीसर्यो नाम वारी.[2]

५–आश्वासन

आश्वासन की भूमिका मे भक्त प्रभु के माहात्म्य, प्रभाव और भक्त-वात्सल्य से इस भाँति पूर्ण आश्वस्त एव निर्द्वंद्व हो जाता है कि कोई भी परिस्थिति उसे अपनी प्रभुभक्ति से विचलित नही कर पाती है। सूर के 'विनय' के पदो मे इस भाव के कई पद मिलते है।[3] नरसी-साहित्य मे 'सामळदासनो विवाह', 'हूडी', 'मामेरु', 'हारमाळा' आदि आत्म-परक काव्यो मे कई स्थानो पर इस भाव के पद उपलब्ध होते है।

सूर

जाकौं हरि अंगीकार कियौ।
ताके कोटि विघन हरि हरि कै, अभै प्रताप दियौ।
o o o
सूरदास प्रभु भक्तबछल है, उपमा कौं न बियो।[4]

नरसी

(अ) चिता सोपो रे, श्रीहरिने रे, करशे भक्तने सहाय.
o o o
भणे नरसैयो रे, हरि भाते भजोरे, बीजा अवर नथी उपाय.[5]
(आ) ध्यान धर कृष्णनुं, राख मन कृष्ण शु, सार करशे नरसहींयाचो स्वामी.[6]

६–मनोराज्य

इसमे भक्त को यह प्रतीति हो जाती है कि उसको प्रभु ने अपना लिया है। अपनी निर्द्वंद्वावस्था मे भक्त भगवद्-भजन मे लीन हो जाता है।

सूर

कहा कमी जाके रामधनी।
o o o
आनद-मगन राम-गुण गावै, दुःख सन्ताप की काटि तनी।
सूर कहत जे भजत राम कौं, तिनसौं हरि सौं सदा बनी।[7]

---

१ सू०, प ३३५। २ न म का. सं, पृ. ४८०। ३ सू०, प. ३५, ३६, ३७, ३८। ४ सू०, प. ३८। ५. हा स. हा के, पृ १२३। ६ न. म का सं, प ७८। ७ सू०. प ३९।

नरसी जादवाने माथे रे, छेडा सह नाखीयो रे,
नरसयानो स्वामी रे, जे कोई अनुभवे रे ते तरी उतारे भवपार[1]

७–विचारणा

इसम भक्त अपन पापो का स्मरण करता हुआ पश्चाताप करता है।

सूर मो सम कौन कुटिल खल कामी।
तुम सों कहा छिपी करुनामय, सब क अंतरजामी।[2]

नरसी माहरा कमने भाळवेश भूधरा।
पतितपावन ताहरु बिरद जाशे[3]

सूर की अपेक्षा नरसी म दास्य भाव क पद स्वल्प प्रमाण म उपलब्ध होते हैं। सूर के दास्य भाव के पद जहाँ एक साथ सूरसागर के प्रथम तथा नवम स्कंध म मिलते हैं वहाँ नरसी के आत्म परक काव्यो म तथा भक्ति नानना पदो म विकीर्ण रूप म उपलब्ध होते है। सूर के दास्य भाव के पदो म जहा स्वपापो के विनाश तथा अपन उद्धार की विनती के भाव अधिक मिलते हैं वहाँ नरसी म अपन उद्धार के साथ साथ ऐहिक दु खो स मुक्त होने के भाव भी उपलब्ध होते है।

सख्य भक्ति

सख्यरति नि स्वार्थ एव हृदय की शुद्ध स्वाभाविक प्रवृत्ति पर आधारित रहती है। जिस प्रकार लौकिक शुद्ध सख्य भाव अहेतुक होता है उसी प्रकार भक्त अपन सखा भगवान् स निर्हेतुक प्रेम करता है। सख्य भक्ति मे अपने इष्टदेव क माहात्म्य का आभास मिलते रहन पर भी भक्त का ध्यान हृदय के स्वाभाविक अनुराग की ओर ही अधिक केन्द्रित रहता है। अपने इष्टदेव की समस्त लीलाओ म वे सदा साथ रहते हैं। लौकिक व्यवहार मे जसा एक मित्र का अन्य क साथ आदर्श व्यवहार होता है वसा ही सख्य भक्ति म भक्त अपने इष्ट देव के प्रति व्यवहार रखता है।

वल्लभ सप्रदाय म सख्य भक्ति का अत्यधिक महत्त्व है। अष्टछाप के भक्त भगवान के 'अष्टसखा' माने जाते है। ऐसी मान्यता है कि भगवान की लीलाओ म आठो सखा सदा विद्यमान रहते हैं। सूर भी अष्टसखाओ मे से एक थे। कृष्ण की बाल एव गोचारणादि लीलाओ तथा सुदामा दारिद्र्य निवारण के प्रसग मे सूर के सख्य भक्ति विषयक भाव अभिव्यक्त हुए हैं। सूर का सख्य वर्णन विश्वसाहित्य म अप्रतिम माना गया है जिसम कृष्ण की सखाओ के साथ समस्त बालसुलभ क्रीडाओ, चेष्टाओ तथा सयोग वियोग के भावो पर विशद निरूपण हुआ है।

सूर की अपेक्षा नरसी म सख्य भक्ति के भाव स्वल्प प्रमाण म उपलब्ध होते है। नरसी के सख्य भक्ति के भाव सूर के जितन न गभीर है और न व्यापक हो। दान गोचारण, बाल लीला विषयक कुछ पदो म उनके इस विषय के भाव मिलते हैं।

---

१ न म का स, पृ ३८१। २ सू०, प १४८। ३ हा स हा के, पृ ९। ४ सू मा ६, पृ २४७।

कृष्ण के वालसखाओ मे हलधर, सुवल, सुदामा और श्रीदामा विशेष उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त विभिन्न परिस्थितियो मे कृष्ण की वालकेलि के अन्तर्गत आनेवाले दूसरे अनेक सखा है। ये सखा तीन प्रकार के है। पहले कृष्ण से वडे जो क्रीडा मे कृष्ण के प्रति कृपापूर्ण सुहृद्भाव रखते है। ये कृष्ण के अलौकिकत्व से परिचित है, अत कृष्ण द्वारा अद्भुत कार्य घटित हो जाने पर इन्हे कोई आश्चर्य नही होता। ये सखा कृष्ण की मधुर-लीलाओ मे साथ नही रहते है। दूसरे सखा वे है जो कृष्ण से वय मे कम है। ये मात्र गोकुल की माखन-चोरी, कदुक-क्रीडा जैसे वालसुलभ खेलो मे कृष्ण के साथ रहते है। तीसरे है कृष्ण के समवयस्क सखा जिनमे कृष्ण के प्रति घनिष्टता और आत्मीयता सर्वाधिक रहती है। ये समवय-सखा कृष्ण की गोप्य से गोप्य लीलाओ मे भी सदा साथ रहनेवाले है। ये कृष्ण-राधा की प्रीति से पूरी तरह परिचित रहते है। 'दाणलीला' मे ये गोपियो को छेडने मे तथा उनको कृष्ण के प्रति अनुकूल करने मे सहायक होते है। सूर ने इन्ही सखाओ मे सख्यरति की व्यापक अनुभूति दिखाई है, जिसमे सयोग-वियोग दोनो दशाओ का चित्रण हुआ है।

सख्य-भक्ति मे समता का भाव अतीव महत्त्वपूर्ण है। सूर ने श्रीदामा द्वारा यह भाव व्यक्त करवाया है। श्रीदामा से कृष्ण हार जाने के कारण रूठ जाते है, तव श्रीदामा उनको साफ शब्दो मे झिडकता हुआ कहता है—

खेलत मैं को काकौ गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, वरवस हीं कत करत रिसैयाँ।
जाति-भाँति हमतें बड़ नाहीं, नाहीं वसत तुम्हारी छैयाँ।[1]

सूर ने सख्यभाव मे तल्लीन होकर कृष्ण के वालसुलभ आँखमिचौनी, भँवरा-चकडोर, गेद जैसे खेलो का वडा स्वाभाविक वर्णन किया है।

नरसी ने भी सखाओ के साथ कृष्ण की विविध क्रीडाओ का वर्णन किया है, पर सूर की भाँति उसमे न तल्लीनता दृष्टिगत होती है और न व्यापक अनुभूति ही। उनकी सख्य-भक्ति का क्षेत्र अपेक्षाकृत स्वल्प एव परिमित है।

वन मे गोचारण करते समय के छाक आरोगने के अनेक चित्र सूर ने अकित किये है। कृष्ण अपना षड्रस भोजन छोडकर पास वैठे अपने ग्वाल सखाओ के हाथ का कौर प्राप्त करने के लिए छीनाझपटी करते है और सखाओ का उच्छिष्ट आप आरोगते है।

ग्वालनि करतैं कौर छुड़ावत
जूठौ सवनि के मुख कौ अपनैं मुख लै नावत।
षट्रस के पकवान धरे सव, तिनमै रुचि नहिं लावत।
हा-हा-करि-करि माँगि लेत हैं, कहत मोहिं अति भावत।[2]

नरसी के पद-साहित्य मे भी कृष्ण के वन-भोजन के एक दो चित्र मिलते है। नरसी के निम्न पदो के भाव सूर के उपर्युक्त पद के साथ अद्भुत साम्य रखते है—

(अ) गोवाळिया मंडळी मळी, उभी गोवर्धन ने माथ;
कृष्ण आरोगे रुडो करमदो आहीरडांनी साथ.

---

१. सू०, प ८६३। २ सू०, प १०८६।

चाखे ने चखवी जुवे, वहालो पीए पीवडावे खीर,
जमी जमाडी पोते जमे, हरि हळधर करो वीर
बमणु ते ले वहालो, येहेंचतां, ततक्षण आरोगी जाय,
जेनु देख वहालो वाधतु, तेनु पडावी खाय[१]
(आ) गोवाळियामां गोविंदजी रे करमडलो जमे

० ० ०

एक एकना भातां छोडी लइ हरि आगळय दाखे
नाना विधना शाकशपूलां ते लक्ष्मीवर चाख[२]

सख्य भक्ति क भाव निरूपण म दोना कवियो न कृष्ण के अलौकिक माहात्म्य का यथा स्थान सन्निवेश किया है। उदाहरणार्थ सूर की निम्नलिखित पंक्तियाँ लीजिए जिनम बाल सखाओ के साथ कृष्ण की अद्भुत लीलाएँ देखकर ब्रह्मा का मन भी सखा बनन के लिए लालायित हो उठता है—

ब्रज ब्यौहार निरखि क ब्रह्मा को अभिमान गयो।
गोपी ग्वाल फिरत सँग चारत, हौं हूं क्यों न भयो।[३]

नरसी-साहित्य म भी एक पद उपलब्ध होता है जिसम वन म छाक आरोगते कृष्ण का उच्छिष्ट प्राप्त करन के लिए ब्रह्मा पास म बहती यमुना म मीन का रूप धारण कर प्रविष्ट हो जाते हैं किन्तु कृष्ण ब्रह्मा की चाल समझ जाते है और यमुना म आचमन न करके समीप खडे हुए किसी सखा की कमली से हाथ पोछ लेत है। सूर साहित्य म इस आशय का पद उपलब्ध नही होता है—

ब्रह्माजीये मनमाहे विचायु, जाण्यू मीन तणु रूप लीजे,
जमुना जल चलु लेशे चतुभुज महाप्रसाद पामीजे
अतरज्यामिए ततक्षण जाण्यू, मीन थइ रखि आव्या,
नारसियाचो स्वामी चतुरशिरोमण्य कामळिये कर लुवराव्या[४]

दोना कवियो के सुदामाचरित्र प्रसग म सख्य भक्ति के उत्कट भाव सन्निविष्ट है। चिर वियुक्त बालमित्र सुदामा को अपने सम्मुख देखत ही कृष्ण दौडकर उनस भेंटते है और तत्पश्चात मदिर मे लाकर तल मदन स्नानादि द्वारा उसका अध्वखेद दूर कर अपन अनन्य सख्यत्व का परिचय देते हैं। दोनो कवियो ने इस प्रसग का चित्रण इस भाति किया है—

सूर

हरि कौ मिलन सुदामा आयौ।
बिधि सौं अरघ पावडे दीन्हे अतर प्रेम बढायौ।
आदर बहुत कियौ कमलापति, मदन करि अन्हवायौ।
चदन अगर कुमकुमा केसर, परिमल अग चढायौ।

० ० ०

समदे बिप्र सुदामा घर कौं सरबस द पहिरायौ।[५]

---

१ न म का स, पृ १८६। २ न म का स, पृ १८६। ३ सू०, प ११०८।
४ न म प, के का शास्त्री, पृ १५६। ५ सू०, प ४८८०।

नरसी

मंदिरे तेडिया, चालीने भेटिया, त्रिविधना ताप ते सर्वनाठा;
हेमसिंहासने, लेइ बेसाडिया, ताणतां विप्रनां वस्त्र फाटां.
तेल फूलेल मर्दन करावियां, शुद्ध उष्णोदके स्नान कीधुं;
कनकनी पावडी, चरण आगळ धरी, कृष्णे चरणोदक शीश लीधुं.
पुनित पितांबर पहेरवा आपियुं, कनकने थाळे पक्वांन दीधां;
भावतां भोजन, कृष्ण हाथे कर्यां, लीधुं आचमन ने काज सीध्यां.
कृष्णे पलंग पर पोते पधराविया, दधिसुता वीजणे वायु भरता;
सत्यभामादिक, नारी निरखी रही, नरसैंना नाथ पदसेव करतां.[1]

स्वागत करते समय सुदामा के वस्त्र फटना, स्नान करने के पश्चात् सुदामा के सन्मुख कृष्ण का सुवर्ण-पादुकाएँ रखना, कृष्ण का सुदामा का चरणोदक सिर पर धरना, सत्यभामा आदि पट्टमहीपियो की उपस्थिति मे कृष्ण का सुदामा के चरण चाँपना और कमला का सुदामा पर व्यजन डुलाना आदि वर्णन द्वारा नरसी ने सुदामा के प्रति कृष्ण के उत्कट मित्रभाव को चरमावस्था तक पहुँचा दिया है। सूर के 'सुदामाचरित्र' मे कही भी इस कोटि की आत्मीयता एव भाव-विह्वलता उपलब्ध नही होती है। नरसी के कृष्ण सुदामा के प्रति सहानुभूति प्रकट करते हुए उसके जीर्ण-शीर्ण दारिद्रय का उत्तरदायी भी स्वय को ही मानते है। नरसी के कृष्ण सुदामा के सन्मुख इस भाँति अपने पश्चात्ताप के भाव प्रकट करते है—

श्री मुखे बोलिया कहो ने बांधव तमो, ब्रह्मचारी के गृहधर्म कीधो.

० ० ० ०

गृहस्थना धर्ममां, हुंय वळगी रह्यो, हुं ते मारी वळी गत्य भूल्यो.
मित्र सुदामानी, शुद्ध लीधी नहीं, कामिनी केफमां हुं ज डूल्यो.[2]

'गत्य' का तात्पर्य यहाँ कर्तव्य से है। कृष्ण 'कामिनी-केफ' (स्त्री-सपर्क-जनित मादकता) मे डूबकर सुदामा जैसे बालमित्र को भूल गये थे। सुदामा के सम्मुख कृष्ण का स्वय अपराध स्वीकार करना कितना स्वाभाविक है। सूर के 'सुदामाचरित्र' मे सुदामा की हीन-दशा के प्रति कृष्ण के मन मे कही भी पश्चात्ताप के भाव प्रकट नही हुए है। अत ऐसा प्रतीत होता है कि सूर के कृष्ण मे सुदामा के प्रति सख्यभाव होते हुए भी अपने द्वारिकेश होने की भावना विद्यमान है, किन्तु नरसी के कृष्ण मे इस प्रकार के बडप्पन के भाव का स्वल्प अश भी विद्यमान नही है। वे सुदामा के साथ वैसा ही व्यवहार करते है जैसा कि बचपन मे गुरु-आश्रम मे रहते हुए किया करते थे।

कृष्ण सुदामा के साथ सलाप करते हुए उनको अपने गुरु सादीपनी ऋषि के यहाँ के अध्ययन-काल के महत्त्वपूर्ण प्रसगो की स्मृति दिलवाते है। दोनो कवियो का यह वर्णन तुलनीय है—

सूर

गुरु गृह हम सब बन कौं जात ।
तोरत हमरे बदलैं लकरी, सहि सब दुख निज गात ।

---

१. न म का सं, पृ १५६। २ न म का स, पृ १५६।

एक दिवस बरपा भई बन मे रहि गए ताही ठौर।
इनकी कृपा भयौ नहिं मोहि, स्रम, गुरु आए भए भोर।
सो दिन मोहिं बिसरत न सुदामा, जो कीन्हो उपकार।[1]

नरसी

सांदीपनि गोरने घेर आपण भण्या, धन्य धन्य दिवस ते सफळ कहाव्यो,
एक रेणी रह्या, वन विषे आपणे, सपण भागतां मेघ आव्यो
अन्नलीधा विना, भूख्या बेशी रह्या, गोराणीए आपणी पीड जाणी,
विसरी गयु छ के, वीर तने सांभरे, सांदीपनि गोरनी अचळ वाणी[2]

प्रसग समान होने पर भी दोनो की भावाभिव्यक्ति म पर्याप्त अन्तर है। सूर ने सुदामा के उपकारो के प्रति जहाँ कृष्ण द्वारा कृतज्ञता प्रकट करवाई है वहाँ नरसी ने कृष्ण द्वारा प्रसग का सामान्य उल्लेख मात्र करवा दिया है।

वात्सल्य भक्ति

वात्सल्य सर्व-व्यापक भाव है। मानव स लेकर कीट-पशु तक समस्त प्राणियो म यह विद्यमान रहता है। सख्य की भाँति यह भी एक निर्हेतुक भाव है। यह भाव जब लौकिक पुत्रादि से हटकर अलौकिक बालकृष्णादि आलबनो द्वारा अभिव्यक्त होता है तब वात्सल्य भक्ति के रूप म परिणत हो जाता है। वात्सल्य भक्ति मे भक्त स्वय को माता अथवा पिता के स्थान पर मान कर इष्टदेव को शिशु के रूप म देखता है। वात्सल्य की अखड एव प्रगाढ निष्पत्ति मातृहृदय मे ही पूर्णत सभव है। अत वात्सल्य भाव के भक्तो ने पितृपद की अपेक्षा मातृपद को ही अधिक ग्राह्य समझा है।

अष्टछाप के कवियो मे वात्सल्य भक्ति का सर्वोत्तम रूप सूर म प्रकट हुआ है। वात्सल्य भाववाले भक्तो की भी व्रज की वयस्क नारियाँ, वयस्क गोपाल, यशोदा, नद आदि की दृष्टि से कई श्रेणियाँ हैं। व्रज की वयस्क सन्नारियो का हृदय कृष्ण के बालरूप को देखकर उत्तरोत्तर पुष्ट होता चला जाता है, कृष्ण के अलौकिक कार्यों से उनके वात्सल्य मे कभी-कभी आतक सा छा जाता है, किन्तु कृष्ण की बालचेष्टाओ को देखकर उनका वत्सल भाव पुन यथावत हो जाता है। सूरकाव्य म इस भाव की चरम परिणति यशोदा के मातृत्व म सन्निहित है। डा हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं यशोदा के वात्सल्य मे वह सब कुछ है जो माता शब्द को इतना महिमाशाली बनाए है। यशोदा के बहाने सूरदास ने मातृहृदय का ऐसा स्वाभाविक, सरल और हृदयग्राही चित्र खींचा है कि आश्चर्य होता है। माता ससार का ऐसा पवित्र रहस्य है जिसे कवि के अतिरिक्त और किसी को व्याख्या करने का अधिकार नही। सूरदास जहाँ पुत्रवती जननी के प्रेम पलव हृदय को छूने म समर्थ हुए हैं वहा वियोगिनी माता के करुण विगलित हृदय को भी उसी सतर्कता से छू सके है।[3] नदबाबा, वसुदेव और देवकी आदि भी वात्सल्य के पात्र हैं जिनमे सूर ने स्वल्पमात्रा म इस भाव को सन्निहित बताया है।

---

१ सू०, प ४=४६। २ न म का म, पृ १५६। ३ सूर साहित्य, पृ १२० १२२।

वात्सल्य-भाव की भक्ति को स्वतन्त्र रस मान कर आचार्य रूप गोस्वामी ने इसके विभावादि समस्त अगो की स्थापना की है। इस भाव के आलवन कृष्ण तथा उनकी क्रीडाएँ उद्दीपन हैं। मधुर-रति की भाँति इसके भी सयोग और वियोग दोनो पक्ष होते है।[1]

सूर ने वात्सल्य-भक्ति के दोनो पक्षो पर प्रचुर पद लिखे है। 'सूरसागर' दशम स्कन्ध के कृष्ण-जन्म से लेकर मथुरागमन के पूर्व तक के यशोदा आदि के भाव सयोग पक्ष तथा इसके पश्चात् के वियोग पक्ष के अन्तर्गत आएँगे। यशोदा के दुलार मे सूर ने इतनी उत्कट तन्मयता भर दी है कि कृष्ण के अतिप्राकृत कार्यो को प्रत्यक्ष देखने पर भी उसमे किसी भी प्रकार का व्यतिक्रम उत्पन्न नही होता है। आपत्ति के समय वह कृष्ण के ब्रह्मत्व की थोडी भी प्रतीति न करके अपने कुल-देवता को मनाने लगती है। दूसरी ओर वह काम-भाव सबधी गोपियो के उलाहनो पर भी विश्वास नही करती है। राधा-कृष्ण को वह प्रत्यक्ष कामचेष्टाएँ करते देख लेती है, फिर भी उस पर वह कुछ भी विचार नही करती है।

सूर-साहित्य मे वात्सल्य-भक्ति के जहाँ शताधिक पद उपलब्ध होते है वहाँ नरसी-साहित्य मे मुश्किल से लगभग तीस पद मिलते है और उनमे भी शुद्ध वात्सल्य के पदो की सख्या तो और भी कम है। वियोग-वात्सल्य का तो नरसी मे सर्वथा अभाव है। सूर की भाँति नरसी के यशोदा, नद, वसुदेव और देवकी भी कृष्ण के ब्रह्मत्व से परिचित है।

सूर की तरह नरसी ने भी वात्सल्य की अभिव्यक्ति मे कृष्ण का तुतलाना[2], माता के समक्ष नृत्य करना[3], माखन खाना[4], चन्द्र के लिए हठ करना[5], नक्षत्रो को अपने पास रखना[6], आदि विविध चेष्टाओ तथा बालसुलभ क्रिया-कलापो का वर्णन किया है। उदाहरणार्थ यहाँ दोनो कवियो के कृष्ण के चन्द्र-प्रस्ताव का एक-एक पद प्रस्तुत किया जाता है —

सूर

(आछे मेरे) लाला हो, ऐसी आरि न कीजै।
मधु-मेवा-पकवान-मिठाई, जोइ भावै सोइ लीजै।
सद माखन घृत दह्यो सजायौ, अरु मीठौ पय पीजै।
पालागौं हठ अधिक करै जनि, अति रिस तैं तन छीजै।
आन बतावति, आन दिखावति बालक तौ न पतीजै।
खसि-खसि परत कान्ह कनियाँ तैं, सुसुकि सुसुकि मन खीजै।
जल पुट आनि धर्यौ आँगनमैं, मोहन-नैंकु तौ लीजै।
सूर-स्याम हठि चंदहिं माँगै, सुतौ कहाँ तैं दीजै।[7]

---

१ विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायीपुष्टिमुपागत।
एष वत्सलतामात्रः प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः ॥१॥
कृष्णं तस्य गुरुंश्चात्र प्राहुरालम्बनान् बुधा।
कौमारादि वयोरूपवेषा शैशवचापलम् ॥८॥
जल्पितस्मितलीलाद्या बुधैरुद्दीपना स्मृता ॥ भ. र. सि, पृ २६४, सं डा नगेन्द्र।
२. न म का सं, पृ ४६६। ३ न म का सं, पृ ४५८। ४ न म का सं, पृ ४६०, ४६१।
५ न म का सं, पृ ४६२। ६ न म का. स, पृ ४६१। ७ सू०, प. ८०८।

नरसी

> आवडी राढ शी विठला तुजने, गगन थी इदु केम आपु आणी,
> कुवर काइ नव लहे, वात अभिनवी कहे, नोहे कोय टोपरु गोळ धाणी
> आखे आसु ढळे, इदु देखी चळे, टळवळे माता ने मान मागे,
> रेहे रेहे रोतो, शु रे जो तो घणु रमवा रमकडा छे रे बोहु आगे
> इदु थयो अस्त ने रहे नहीं राखता, दधिसुत प्रकट करी आणे आपे,
> नरसयाचो स्वामी माखणे भोलव्यो, सकळ वभवतणो बध कापे[१]

नरसी की अपेक्षा सूर के कृष्ण अधिक हठी एव चतुर प्रतीत होते हैं। यशोदा कृष्ण को जल मे चद्र का प्रतिबिंब बताकर फुसलाना चाहती हैं किन्तु वे चद्र को प्राप्त करने का ही हठ पकडे रहते हैं। नरसी के कृष्ण इतने भोलेभाले हैं कि माता यशोदा मक्खन देकर उनको भुलावे म डाल देती है। सूर के पद की छठवी पक्ति मे कृष्ण का इष्ट वस्तु की अप्राप्ति म गोद से खिसक खिसक कर नीचे गिरना तथा नरसी के पद की तीसरी पक्ति मे चद्र को देख कर रह रह कर मचलना और माता की बात पर कान न धरना बालसुलभ चेष्टाओ के अतीव स्वाभाविक चित्र हैं।

मधुर भक्ति

मधुर भक्ति भाव म इष्टदेव के साथ जितनी निकटता एव घनिष्ठता का सबध स्थापित हो सकता है, उतना दास्य, सख्यादि इतर भावो म नही। दास्य भाव म भक्त और भगवान् के बीच लघुता और महत्ता का व्यवधान रहता है। सख्य मे केवल साहचर्य-जन्य परस्पर अनुराग होता है। वात्सल्य म मन स्थिति एकदम रागद्वेष रहित रहती है जो सामान्यतया दुलभ है। ससार के विषय चक्र मे भ्रमित मानव का काम ही मूलभूत विकार है। मानव के धर्माचरण मे सदा यही बाधक बना रहता है। इसीलिए कृष्णभक्त अपनी समस्त चक्षु कर्ण जिह्वा, त्वचा आदि इद्रियो का आलबन परमात्मा को बना लेते है। उनकी चक्षुरिद्रिय लौकिक रूप से हटकर भगवान् की रूप माधुरी पर केद्रित हो जाती है कर्णेद्रिय लौकिक सुखद स्वरो को छोडकर मुरली-नाद के श्रवण के लिए लालायित हो उठती है जिह्वेद्रिय कृष्ण का अधरामृत पान करना चाहती है त्वगिद्रिय उनके आनदपूर्ण स्पर्श मे रोमाचित होना चाहती है तथा मन उनके साथ केलिक्रीडा करने के लिए आकुल रहता है।

काव्यशास्त्र म जो शृगार रस है वही भक्ति मे मधुर रस है। काव्यशास्त्र म जिस प्रकार विभाव अनुभाव सचारीभाव एव स्थायीभाव रस-सामग्री माने गये हैं उसी प्रकार मधुर रस म भी। मधुर रस म परमात्मा तथा भक्त आलबन होते हैं मुरली-नाद सखा आदि उद्दीपन विभाव स्वेद रोमाचादि अनुभाव तथा निर्वेदादि व्यभिचारी भाव हैं। कृष्ण म रति मधुर रस का स्थायी भाव है। काव्यशास्त्रियो ने जिस प्रकार शृगार को रसराजत्व प्रदान किया है उसी प्रकार आचार्यों ने भी मधुर रस को भक्ति का प्रमुख रस माना है। लोक म स्वकीय प्रेम से परकीय प्रेम म अधिक तीव्रता होती है वैसे ही मधुर रस म भी जार प्रेम श्रेष्ठ माना जाता है।

वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तो का चरम लक्ष्य गोपीभाव म भगवान् का प्रत्यक्ष सहवास प्राप्त करना है। इस सम्प्रदाय के अनुयायियो ने स्वकीय भाव म ही सम्यक् मधुर रस के भाव ग्रहण

---

[१] ... म पृ ४५८।

व्यक्त किये है। परकीय मधुर-भाव इनमे स्वकीय की अपेक्षा अतीव स्वल्प प्रमाण मे मिलता है। वल्लभ सप्रदाय मे मधुर-रति का प्रवेश आचार्य वल्लभ के उत्तरकाल मे तथा विट्ठलनाथजी के आचार्यत्व काल मे हो गया था।[1]

सूर की भक्ति सख्यभाव की होने पर भी मधुर-भाव का विकास एव विस्तार भी उनमे पूर्णत पाया जाता है। उन्होने मधुर-भाव की अनुभूति गोपियो के माध्यम से की है। अष्टछाप के भक्तो का भाव एक ओर जहाँ पुरुष रूप मे सखा का है वहाँ दूसरी ओर स्त्री रूप मे कृष्ण की प्रिया का भी माना गया है। सूर-साहित्य मे मधुर-भाव के स्वकीय एव परकीय दोनो रूपो का निरूपण हुआ है। मधुर-भाव की तीव्रता मे सूर ने व्रज-वधू बनने की अभिलाषा व्यक्त की है।[2]

सूर ने राधा एव गोपियो के माध्यम से ही मधुर-भाव की अभिव्यजना की है। गोपिकाएँ दो प्रकार की मानी गई है—कुमारिकाएँ और विवाहिताएँ। कुमारिकाओ ने कृष्ण के गुणो पर मुग्ध होकर उन्हे पति माना था। कृष्ण ने इनमे से कई गोपिकाओ का वरण भी किया था। विवाहिता गोपिकाओ ने कृष्ण से 'जार-प्रेम' किया था। परकीय की अपेक्षा सूर मे स्वकीय-भाववाले पद अधिक मिलते है। मधुर-भक्ति का प्रतिनिधित्व करनेवाली सूर की गोपिकाएँ कृष्ण मे इतनी लीन हो जाती है कि उनका काम भी वहाँ निष्काम रूप मे परिणत हो गया है। 'सूरसागर' मे मधुर-रति के आत्म-समर्पण, अनन्यता आदि भाव 'चीरहरण', 'रास' आदि लीलाओ मे क्रमश विकसित होकर 'दानलीला' मे पुष्टता के चरमबिन्दु तक पहुँच गये है। सूर ने मधुर-भावो को पूर्वराग से प्रारभ करके सयोग की पूर्णावस्था मिलन तथा इसके पश्चात् उनको वियोग के चरमबिन्दु तक पहुँचा दिया है। सूर की मधुर-भक्ति का वियोग पक्ष सयोग की अपेक्षा अधिक तीव्र, उज्ज्वल, पुष्ट एव गभीर है, जिसकी चरम परिणति हम 'उद्धव-गोपी सवाद' मे पाते है। वियोग की अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता आदि काम-दशाओ तथा विरह-वेदना से शारीरिक व्यापारो मे उत्पन्न होनेवाले व्यतिक्रमो का सूर ने गभीरतापूर्वक विशद वर्णन किया है। सूर प्रेम की कसौटी विरह को ही मानते है—

विरह दु.ख जहाँ नाँहि जामत, नहीं उपजै प्रेम।[3]

वस्तुत विरह ही प्रेम की यथार्थ भूमि है, क्योंकि इस भाव के द्वारा ही गोपियो को श्रीकृष्ण के मूल-स्वरूप की उपलब्धि हुई थी।

नरसी मधुर-भाव के भक्त है। मधुर-भाव को 'प्रकट' रूप मे गाने का आदेश उनको कृष्ण से ही मिला था—

जे रस गुप्त ब्रह्मादिक नव लहे प्रगट गाजे तुं हुंने वचन दीधुं.[4]

इसीलिए नरसी ने कृष्ण की मधुर-लीलाओ के गुप्त से गुप्त भावो को भी खुल कर गाया है। इस सवध मे सूर स्वय को मर्यादित बताने का प्रयत्न करते है—

बातन लई राधा लाइ।
चलहु जैबै विपिन वृंदा, कहत स्याम बुझाइ।
० ० ०
नैकहुँ नहिं करौं अंतर निगम भेद न पाइ।

१ अ. व. गु, पृ. ६२६। २. सू०, प २६६४। ३ सू०, प ४०३१। ४. न. म. का. सं, पृ. ७६।

नरसी

> आवडो राड शो विठ्ठला तुजने गगन थी इंदु केम आपु आणी,
> कुवर काइ नव लहे, वात अभिनवी कहे, नोहे कोय टोपरु गोळ घाणी
> आख आसु ढळे, इंदु ऐथी चळे, टळवळे माता न मान मागे,
> रेहे रेहे रोतो, शु रे जो तो घणु रमवा रमकडा छे रे बोहु आगे
> इंदु ययो अस्त न रहे नहीं राखता, दधिसुत प्रकट करी आणे आपे,
> नरसयाचो स्वामी माखणे भोलव्यो, सकळ यमवतणो बंध कापे[1]

नरसी की अपेक्षा सूर के कृष्ण अधिक हठी एव चतुर प्रतीत होते हैं। यशोदा कृष्ण को जल मे चद्र का प्रतिबिंब बनाकर फुसलाना चाहती है किन्तु व चद्र को प्राप्त करने का ही हठ पकडे रहते हैं। नरसी के कृष्ण इतने भोलेभाले हैं कि माता यशोदा मक्खन देकर उनको भुलावे म डाल देती है। सूर के पद की छठवी पक्ति म कृष्ण का इष्ट वस्तु की अप्राप्ति म गोद से खिसक खिसक कर नीचे गिरना तथा नरसी के पद की तीसरी पक्ति म चद्र का देख कर रह रह कर मचलना और माता की बात पर कान न धरना बालसुलभ चेष्टाओ के अतीव स्वाभाविक चित्र हैं।

मधुर-भक्ति

मधुर भक्ति भाव म इष्टदेव के साथ जितनी निकटता एव घनिष्ठता का सबध स्थापित हो सकता है उतना दास्य, सख्यादि इतर भावो मे नही। दास्य भाव म भक्त और भगवान् के बीच लघुता और महत्ता का व्यवधान रहता है। सख्य म केवल साहचर्य जन्य परस्पर अनुराग होता है। वात्सल्य म मन स्थिति एकदम रागद्वेष रहित रहता है जो सामान्यतया दुर्लभ है। ससार के विषय चक्र म भ्रमित मानव का 'काम' ही मूलभूल विकार है। मानव के धर्माचरण मे सदा यही बाधक बना रहता है। इसीलिए कृष्णभक्त अपनी समस्त चक्षु कर्ण जिह्वा, त्वचा आदि इद्रियो का आलबन परमात्मा को बना लेते हैं। उनकी चक्षुरिंद्रिय लोकरूप से हटकर भगवान् की रूप माधुरी पर केंद्रित हो जाती है कर्णेंद्रिय लौकिक सुखद स्वरो को छोडकर मुरली-नाद के श्रवण के लिए लालायित हो उठती है, जिह्वेंद्रिय कृष्ण का अधरामृत पान करना चाहती है त्वगिंद्रिय उनके आनन्दपूर्ण स्पर्श से रोमाचित होना चाहती है, तथा मन उनके साथ केलिक्रीडा करने के लिए आकुल रहता है।

काव्यशास्त्र मे जो शृगार रस है वही भक्ति म मधुर रस है। काव्यशास्त्र म जिस प्रकार विभाव अनुभाव, सचारीभाव एव स्थायीभाव रस-सामग्री माने गये है उसी प्रकार मधुर रस मे भी। मधुर रस म परमात्मा तथा भक्त आलबन होते है मुरली-नाद सखा आदि उद्दीपन विभाव स्वेद रोमाचादि अनुभाव तथा निर्वेदादि व्यभिचारी भाव है। कृष्ण म रति मधुर रस का स्थायी भाव है। काव्यशास्त्रियो ने जिस प्रकार शृगार को रसराजत्व प्रदान किया है उसी प्रकार आचार्यों ने भी मधुर रस को भक्ति का प्रमुख रस माना है। लोक म स्वकीय प्रेम स परकीय प्रेम म अधिक तीव्रता होती है वैसे ही मधुर रस मे भी 'जार प्रेम' श्रेष्ठ माना जाता है।

वल्लभ सम्प्रदाय के भक्तो का चरम लक्ष्य गोपीभाव मे भगवान् का अखण्ड सहवास प्राप्त करना है। इस सप्रदाय के अनुयायियो ने स्वकीय भाव मे ही सुन्दर मधुर रस के भाव अभि

१ न म का स , पृ ४४८।

प्रदान की है। इस सबध मे वे स्वय कहते है कि स्वपुरुष की अपेक्षा 'जार-पुरुष' का प्रेम ही अधिक आनद प्रदान करनेवाला है—

पुरुषने पुरुषनो स्नेह शा कामनो, जारी पुरुषनो स्नेह रुडो.[1]

नरसी के 'जार-भाव' का एक पद यहाँ उद्धृत किया जाता है, जिसमे गोपिका स्वय कृष्ण को बाहर से अनुचित व्यवहार के लिए उपालभित करती हुई भी अतर से उनके साथ समागम की उत्कट कामना व्यक्त करती है—

छेडलो न ताण महारा छालनो, छेलपणुं मेल महारा वहाला.
अमोरे आहीरडा नार पींडारी, ने तुने लोक कहावे व्यभिचारी;
पर नारीनो पालव ताण्यो, तो काहांनो ब्रह्मचारी.
सुरीजन मुनीजन कौतक जोये, तुने निरखतां मन मोहे;
नरसैंयाच्यो स्वामी भले मळीयो, तूज समो नहीं बीजो कोये.[2]

मधुर-भाव की अभिव्यक्ति मे राधा का महत्त्व सर्वाधिक माना जाता है। दोनो कवियो ने समान रूपसे कृष्ण की मधुर-केलियो मे राधा को ही प्रमुख स्थान दिया है। सूर ने सर्वत्र राधा का स्वकीया के रूप मे[3] तथा नरसी ने कही स्वकीया तथा कही परकीया के रूप मे चित्रण किया है। निम्नलिखित पदो मे नरसी ने क्रमश राधा के स्वकीया एव परकीया-रूपो का निरूपण किया है—

(अ) जशोदा परणावोरे काहान, हारे बाई तमो छो चतुर सुजाण;
कन्या छे वीखभान नंदनी, छे रुडो रूप निधान रे.
शुभ-नक्षत्रे लगन ज ल्योनो, गुणे गुण मळशे;
सदा निरतर रंग भेर रमशे, तो एक एकने हलशे रे.
रचो मडप मंगळ गाओ, वाओ ढोल निशान;
गुण गाय गांध्रव वंदीजन बोले, जय जय श्री भगवान रे.
सुरिनर मुनिजन नारद सहुको, वहेला पधरावो जान;
वर विट्ठल परणवा चाल्या, तां नरसैंयो खवरावे पान रे.[4]

(आ) राधाजी कुंजभवनना द्वार, के उभां हेरवा रे लोल;
वहाले मारे दडुलो हाथ, के मांड्यो फेरवा रे लोल.
रसीए उछाळीने नाख्यो, के राधाजीना उरमां रे लोल;
त्यारे हरिए नांख्यो हाथ, के वळगाळूम थइ रे लोल.
रसीए लीधां नयनां मोती, के कौतक खेलवा तंही रे लोल;
जोतां नाक थइ तपास, के गइ राधा लेहेरीए रे लोल.
रसीया आपो नयनां मोती, के नाके पेहेरीए रे लोल;
सहीयर जाणशे एवी वात, के गडदा थापशे रे लोल.

---

१ न म. का. सं, पृ. ३८८। २. न. म. का सं., पृ. २७७।
३ सू०, प १६६०, १६६२, १६६३, १६६४। ४ न. म. का सं., पृ ४१७।

तुव परस तन ताप मेटौं, काम द्वंद्व गँवाइ ।
चतुर नागरि हँसि रही सुनि, चतुर-बदन नवाइ ।
मदनमोहन भाव जान्यौ गगन मेघ छवाइ ।
स्याम-स्यामा गुप्त-लीला, सूर क्यों कहि गाइ ।[1]

एक ओर नरसी का यह कहना कि गुप्त लीला को प्रकट रूप में गाने का उनको भगवद्दत्त आदेश है और दूसरी ओर सूर का 'स्याम स्यामा' की गुप्त लीला को प्रकट रूप में न गाने की इच्छा व्यक्त करना दोनों कवियों के अन्तर को समझने के लिए पर्याप्त है ।

नरसी की मधुर भक्ति की यह विशेषता रही है कि उसमें दास्यभाव का समन्वय भी मिलता है । दास्यभाव में भक्त एवं भगवान् के मध्य लघुता तथा महत्ता की मर्यादा का व्यवधान रहता है, किन्तु नरसी अनोखी प्रकृति के भक्त हैं । वे भगवान् के इस कोटि के दास हैं कि अवसर आने पर कृष्ण स्वयं उनके सामने हाथ बाँधे खड़े रहते हैं —

हार आपी हरि विनय-वीनती करे,
रह्या सन्मुख प्रभु जोडी हाथ ।[2]

सूर की भाँति नरसी भी जन्म-जन्मान्तर के लिए हरि-दासी बनने की उत्कट अभिलाषा रखते हैं —

जप-तप तीरथ देहडी न दमीए, जो म्हारा वहालाशुं रंगभर रमीए,
जनम जनम हरीदासी थाशुं, नरसैंयाचा स्वामीनी लीला गाशुं ।[3]

किन्तु नरसी का यह दास्यभाव उनकी मधुर भावाभिव्यक्ति में किसी भी रूप में बाधक नहीं अपितु साधक ही सिद्ध होता है क्योंकि एक ओर जहाँ वे हरि-दासी बनने की इच्छा व्यक्त करते हैं वहाँ दूसरी ओर वे सखी रूप में कृष्ण की रासक्रीडा में भी स्वयं को उपस्थित बताते हैं—

पुरुष पुरुषारथ मौन थयुं माहरु, सखी रूपे थयो गीत गावा ।[4]

नरसी 'रास', 'हींडोळा', 'वसंत', 'राधाविवाह' तथा अन्य समस्त मधुर-लीलाओं में गोपी, सखी, दूत, सेवक, दासी आदि कई रूपों में स्वयं को उपस्थित बताते हैं । अतः सूर की अपेक्षा उनका मधुर भाव अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है । सूर की भावाभिव्यक्ति में जहाँ गोपियों का माध्यम रहता है वहाँ नरसी प्रत्यक्ष रूप में संयोग लीलाओं में स्वयं को विद्यमान बताते हैं ।

'राससहस्रपदी', 'चातुरीओ', 'हींडोळाना पद', 'वसंतलीला', 'शृंगारमाळा' तथा 'नरसिंह महेता-कृत काव्य-संग्रह' के परिशिष्ट १-२ में नरसी के मधुर भाव के सहस्राधिक पद मिलते हैं । सूर की अपेक्षा नरसी की मधुर भावाभिव्यक्ति में पर्याप्त अन्तर है । प्रथम यह कि सूर ने जहाँ कृष्ण, राधा एवं गोपियों के मधुर भाव का भागवतानुक्रमेण पूर्वराग से लेकर चीरहरण, 'पनघट', 'रास', 'दान', 'मान' आदि लीलाओं में उत्तरोत्तर विकसित एवं पुष्ट होते चित्रित किया है वहाँ नरसी ने क्रमरहित एवं स्फुटरूप में मधुर लीलाओं के भावों का अंकन किया है । नरसी की मधुर भावाभिव्यक्ति की अन्य विशेषता यह है कि उन्होंने जार भाव को ही अधिक पुष्टता

---

१ सू०, प० १३०१ । २ हा० स० हा० क०, पृ० ३२ । ३ न० म० का० स०, पृ० ४६१ ।
४ न० म० का० स०, पृ० ७ ।

सूधी निपट देखियत तुमकौं, तातें करियत साथ ।
सूर स्याम नागर, उत नागरि, राधा दोउ मिलि गाथ ।[1]

कृष्ण राधा के साथ इसलिए खेलना उचित समझते है कि वह एकदम सीधी एव भोली-भाली बालिका है। किसीको विश्वास मे लेने का यह कैसा मनोवैज्ञानिक उपाय है। फिर तो राधा कृष्ण के प्रेम मे ऐसी उलझ गई कि न उसे घर मे चैन और न बाहर। वह खान-पान सब कुछ भूल गई—

नागरि मन गई अरुझाइ ।
अति बिरह तनु भई व्याकुल घर न नैकु सुहाइ ।।
स्यामसुदर मदन मोहन, मोहिनी सी लाइ ।
चित्त चंचल कुँवरि राधा, खान-पान भुलाइ ।।
कबहुँ बिहँसति, कबहुँ बिलपति, सकुचि रहति लजाइ ।
मातु-पितु को त्रास मानति, मन बिना भई बाइ ।।
जननि सौं दोहनी माँगति, बेगि दैरी माइ ।
सूर प्रभु कौं खरिक मिलिहौं, गए मोहिँ बुलाइ ।।[2]

राधा का यही मधुर-भाव पनघट, रास, दान आदि विविध सभोग-लीलाओ मे पुष्टता प्राप्त करके अत मे कृष्ण के मथुरा जाने पर विप्रलभ मे परिणत हो जाता है।

नरसी के राधा-कृष्ण-प्रेम-विकास मे इस प्रकार की क्रमिकता का सर्वथा अभाव है। एक पद मे वे गिरिराज की झाडी मे राधा-कृष्ण-मिलन करवाते है। किन्तु वह उनकी मुग्धावस्था का मिलन नही प्रतीत होता है। सूर की जितनी मनोवैज्ञानिकता एव स्वाभाविकता का इस वर्णन मे पर्याप्त अभाव है—

व्रजतणी वाडीमा गिरितणी झाडीमां लाडी व्रखुभाननी गइती रमवा;
कामी जे कानजी वणी ठणी वानजी, सान संभारीने गयो रे मळवा.
दूरथी देखियो नटवर पेखियो, लेखी लक्षणवत मन मोहो;
नटवर नागरो बुद्धिनो सागरो, घर तजी आवियो जोई सोई.
कार्य सरशे नहि नवकी हुं कहुं सही, कहीं तक भूलियो नाथ काळा;
घेर मुज मावडी नित्य करे रावडी, ध्रावडी वार क्या गइती बाळा.
अमो उत्तर शो दीजिए अवळा भणुं बीजिए, रीजीए वळी ज्यारे मुख जोइए;
नाथ कहो क्यम करुं जननी थी हुं डरुं, वरुं वर आपने केड सोइए.
दुःख अवला तणुं लाग्युं मनमां घणुं, वन्युं दीनरूप दयाळ केरुं;
नरसैयाना नाथ जे बोल्यो जोडी हाथ ते, साथ मारो करो दुःख फेडुं.[3]

मधुर-भक्ति का वियोग-पक्ष

मधुर-भक्ति के सयोग-पक्ष की भाँति वियोग का चित्रण भी दोनो कवियो ने किया है, किन्तु परिमाण की दृष्टि से सूर की अपेक्षा नरसी का वियोग-पक्ष स्वल्प है।

---

१. सू०, प १२६७। २ सू०, प १२६६। ३. न. म. का. स., पृ ५०४।

परण्यो पोकशे सारी रात, के आख रातो थशे रे लोल,
चोटी खणशे गोरे गाल, के मीठडी लागशे रे लोल
नाचे नरसयो सुखश्वास के लीला जोइ नायनी रे लोल,
सदा रमे छे हैड रास, के लीला ब्रह्मप्रकाशनी रे लोल[१]

दोना कवियो ने राधा के प्राथमिक मिलन का अपन अपन ढग से चित्रण किया है। सूर ने बाल्यावस्था मे ही राधा-कृष्ण मे मधुर भाव का बीज वपित करके उसे क्रमश पवित, पल्लवित एव पुष्पित बताया है, किन्तु नरसी के प्रेम चित्रण म इस प्रकार के मनोवज्ञानिक क्रम का सवथा अभाव है। सूर के बालकृष्ण पहल ही दिन जब व्रजगलिया मे खेलने को निकलत हैं तब अल्प वयस्का राधा के सौंदय पर अपन आप रीझ उठते हैं। आंखा स आखें मिलते ही ठगौरी पड जाती है—

खेलत हरि निकसे ब्रज खारी।
० ० ०
गए स्याम रवि तनया क तट, अग लसति चदन की खोरी।
औचक ही देखी तहँ राधा, नन बिसाल भाल दिए रोरी।
नील बसन फरिया कटि पहिरे, बेनी पीठि रुलति झकझोरी।
सग लरिकिनी चलि इत आवति, दिन थोरी अति छबि तन-गोरी।
सूर स्याम देखत हीं रीझ, नन नन मिलि परी ठगोरी।[२]

दोनो मुग्ध हृदया का यह प्रथम दशन था। धीरे से कृष्ण उसके पास पहुँच कर बात हा बात मे उसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेत हैं—

बूझत स्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी।
काहे कौं हम ब्रज-तन आवति, खेलति रहति आपनी पौरी।
सुनत रहति स्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखन दधि-चोरी।
तुम्हारो कहा चोरि हम लहैं खेलन चलौ सग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातनि भुरइ राधिका भोरी।[३]

और राधा-कृष्ण के इस प्रथम मिलन का परिणाम यह आया कि—

प्रथम सनह दुहूँनि मन जान्यौ।
नन नन कीन्ही सब बात, गुप्त प्रीति प्रगटायौ।[४]

अपनी ओर पूण रूप से आकृष्ट जान कर कृष्ण राधा को प्रतिदिन साँझ सबेरे साथ खलने का आमत्रण देत हैं—

खेलन कबहूँ हमारे आवहु, नद-सदन ब्रज गाउँ।
द्वारे आइ टरि मोहि लीजौ कान्ह हमारौ नाउँ।
जो कहियै घर दूरि तुम्हारौ बोलत सुनियै टरि।
तुमहिं सौंह बृषभानु बबा की, प्रात-साँझ इक फरि।

---

१ न म का स, पृ ४०८। २ सू०, प १२९०। ३ सू० प १२९१। ४ स, प १२९२।

सूधी निपट देखियत तुमकौं, ताते करियत साथ ।
सूर स्याम नागर, उत नागरि, राधा दोउ मिलि गाथ ।[1]

कृष्ण राधा के साथ इसलिए खेलना उचित समझते है कि वह एकदम सीधी एव भोली-भाली वालिका है। किसीको विश्वास मे लेने का यह कैसा मनोवैज्ञानिक उपाय है। फिर तो राधा कृष्ण के प्रेम मे ऐसी उलझ गई कि न उसे घर मे चैन और न वाहर। वह खान-पान सब कुछ भूल गई—

नागरि मन गई अरुझाइ ।
अति विरह तनु भई व्याकुल घर न नैंकु सुहाइ ।।
स्यामसुदर मदन मोहन, मोहिनी सी लाइ ।
चित्त चंचल कुँवरि राधा, खान-पान भुलाइ ।।
कवहुँ विहँसति, कवहुँ विलपति, सकुचि रहति लजाइ ।
मातु-पितु को त्रास मानति, मन विना भई वाइ ।।
जननि सौं दोहनी माँगति, वेगि दैरी माइ ।
सूर प्रभु कौं खरिक मिलिहौं, गए मोहिं वुलाइ ।।[2]

राधा का यही मधुर-भाव पनघट, रास, दान आदि विविध सभोग-लीलाओ मे पुष्टता प्राप्त करके अत मे कृष्ण के मथुरा जाने पर विप्रलभ मे परिणत हो जाता है।

नरसी के राधा-कृष्ण-प्रेम-विकास मे इस प्रकार की क्रमिकता का सर्वथा अभाव है। एक पद मे वे गिरिराज की झाडी मे राधा-कृष्ण-मिलन करवाते है। किन्तु वह उनकी मुग्धावस्था का मिलन नही प्रतीत होता है। सूर की जितनी मनोवैज्ञानिकता एव स्वाभाविकता का इस वर्णन मे पर्याप्त अभाव है—

व्रजतणी वाडीमां गिरितणी झाडीमा लाडी व्रखुभाननी गइती रमवा;
कामी जे कानजी वणी ठणी वानजी, सान संभारीने गयो रे मळवा.
दूरथी देखियो नटवर पेखियो, लेखो लक्षणवंत मन मोही;
नटवर नागरो बुद्धिनो सागरो, घर तजी आवियो जोई सोई.
कार्य सरशे नहि नक्की हुं कहुं सही, कहीं तक भूलियो नाथ काळा;
घेर मुज मावडी नित्य करे रावडी, आवडी वार क्यां गइती वाळा.
अमो उत्तर शो दीजिए अवळा भणुं वीजिए, रीजीए वळी ज्यारे मुख जोइए;
नाथ कहो क्यम करुं जननी थी हुं डरुं, वरुं वर आपने केइ सोइए.
दुःख अवला तणु लाग्युं मनमां घणुं, वन्युं दीनरूप दयाळ केरुं;
नरसैयाना नाथ जे वोल्यो जोडी हाथ ते, साथ मारो करो दु:ख फेडुं.[3]

मधुर-भक्ति का वियोग-पक्ष

मधुर-भक्ति के सयोग-पक्ष की भाँति वियोग का चित्रण भी दोनो कवियो ने किया है, किन्तु परिमाण की दृष्टि से सूर की अपेक्षा नरसी का वियोग-पक्ष स्वल्प है।

---

१ सू०, प. १२६२। २ सू०, प १२६६। ३ न. म. का. स., पृ. ५०४।

इस सबध म सूर के जहा सकडो पद मिलते है वहाँ नरसी के मुश्किल स ६ ७ पद मिलते हैं जिनमे मुख्यत गोपिया द्वारा कुब्जा को विविध रूपा मे उपालभित किया गया है। उदाहरणार्थ यहा एक पद उद्धृत किया जाता है जिसम गोपिकाएँ कुब्जा के पास कृष्ण की उचित सेवा शुश्रूषा करन का सदेश पहुँचाती हैं। इसम गोपिया का वात्सल्य मिश्रित मधुर भाव कितना स्वाभाविक प्रतीत होता है—

कुब्जाने कहेजोरे ओधव एटलुरे, हरी हीरो आव्यो ताहारे हाथ,
प्राते उठीनेरे, प्रथम पूछजेरे, जे मागे ते आप ज ततखेव,
बीजु काइरे, भुधरने भावे नहीँरे, माहावाने छे महि माखणनी टेव

० ० ०

झाझु न जगाडीशरे जादवरायनेरे, कोमळ करमाशे एनो सुवेश
एहेने ते आपोरे, घडी नव कीजीएरे, घली नव करीएरे अहवार,
शिव ने विरचीरे महामोह्या मुनिरे, जने नव जड्यो एहेनो पार
कस ने घेर दासीरे, पेली कूबजा रे, सुदर शामळीयो भरथार,
नरसयानो स्वामीरे, सखि मुने मळयो रे, वहाला मारा आवागमन निवार[1]

सूर की गोपिकाए कुब्जा के प्रति इतनी विश्वस्ता नही हैं। नरसी की गोपिकाओं की अपेक्षा वे कुब्जा के प्रति अधिक कठोर है। कुब्जा का वे सौत दासी, नटिनी आदि कठोर वचना से उपालभित करती हैं—

उधौ अब कछु कहत न आव।
सिर पर सौति हमारैं कुबिजा, चाम के दाम चलाव।

० ० ०

तब जो कहत असुर की दासी, अब कुल-बधू कहाव।
नटिनी लौं कर लिए लकुटिया, कपिज्यौं नाच नचाव॥[2]

मधुर भाव के वियोग के भावा म कही कही दोना कविया म विचित्र साम्य दृष्टिगत होता है। गोपिकाएँ उद्धव के सदेश म कहती है कि कृष्ण यदि समय रहते हमारी सुध न लेंगे तो हमारे मरने के पश्चात उन्हीको पछताना पडेगा। इस सबध म दोना कविया के पदा मे अद्भुत भाव साम्य द्रष्टव्य है—

सूर

उधौ देखि हौ ब्रज जात।
जाइ कहियौ स्याम सौं यौं, बिरह के उत्पात॥
नन नहि कछु और सूझ, स्रवन कछु न सुहात।
स्याम बिनु आसुअनि बूडत दुसह धुनि मद गात॥
आइवैं तो आइऐ हरि पुनि सरीर समात।
सूर प्रभु पछिताहुगे तुम अतहूँ गए गात॥[3]

---

[1] न म का स, पृ ३१२। [2] सू०, प ४७५७। [3] सू०, प ४,६२।

नरसी

ओधव कहेजोरे, हरीने एटलुरे, के अमने तमारो आधार;
विखडां पाइनेरे, वहालोजी शे नव गयारे, के दुःख देखाड्यां दीन दयाळ.
दुखडांनी दाझीरे, के ओधव देह केम वळेरे, के हरी विना होळी हइडा माहे;
के वेहतणा भडकारे, ओधव जो समेरे, के वळवंत आवी झाळे वांहे.
महारा मन विखेरे, हरिनी दास छुंरे, के घणा तमो साधो मानव सार;
के जीवे तेनेरे, जोवा आवजोरे, के मुवा पछी लेजोरे सभाळ.
के साधुने वळावीरे ओधव, आवीयारे, मथुरा नगरली मोझार;
गोपीजन नित्येरे नरसैंना स्वामीने कहीएरे, के नयणे वेह आंसुडांनी धार.[1]

दोनो कवियो के उपर्युक्त पदो मे भावसाम्य होने पर भी प्रभाव की दृष्टि से अन्तर हे। नरसी की गोपिकाओ का यह कथन कि 'कृष्ण गये तो हमे विप पिलाकर क्यो न गये, उनके बिना हमारे हृदय मे होली की ज्वालाएँ धधक रही है', कितना हृदय-द्रावक है। दोनो कवियो का मधुर-वियोग यहाँ अपने चरम भाव तक पहुँच गया हे।

इस प्रकार दोनो कवियो के मधुर-भाव का साराश यह है कि —

(१) सूर ने जहाँ समानाधिकार से मधुर-भाव के दोनो पक्षो के भावो का गभीर एव व्यापक रूप से निरूपण किया है वहाँ नरसी ने इसके सभोग-पक्ष को ही अधिक पुष्टता प्रदान की है।

(२) सूर का मधुर-भाव सभोग की 'रास', 'दान', 'मान' आदि विविध लीलाओ मे विकसित होकर वियोग मे पूर्ण पुष्टता को प्राप्त करता है। अवतार-दशा मे कृष्ण के अवतीर्ण पूर्वरस (सभोग-शृगारात्मक) तथा मूल (विप्रलभ रसात्मक) रूपो मे अतिम भाव (विप्रलभ) ही भक्ति मे श्रेष्ठ माना गया है।[2] सूर के मधुर-भाव की निष्पत्ति का यही स्वाभाविक क्रम रहा है।

नरसी के मधुर-भाव मे यह क्रमिकता दृष्टिगत नही होती है। वे तो सदा सभोग के मधुर-भाव मे ही निमग्न रहनेवाले भक्त हे। गुप्तजी ने चैतन्य के लिए कहा है—

अक्षय माधुर्य-भाव भर कर लाये वे,
हो न हो, वही है, अधिष्ठातृ-देव प्रेम के।

वास्तव मे नरसी गुर्जरधरा पर अवतीर्ण मधुर-भाव के प्रत्यक्ष अवतार थे।

(३) सूर अपने मधुर-भावो की अभिव्यक्ति जहाँ गोपियो के माध्यम से करवाते है वहाँ नरसी गोपियो के साथ मधुर-लीलाओ मे स्वय भी उपस्थित रहते हे।

(४) नरसी ने मधुर-भाव मे स्वकीय-भाव की अपेक्षा 'जार-रति' का ही अधिक आग्रह रखा है।

---

१. न. म का. सं., पृ ३१७। २. सिद्धान्तरहस्यविवृति, श्लोक ३, श्री हरिरायजी।

शान्ता भक्ति

भक्ति के उपयुक्त चार प्रमुख भावों के अतिरिक्त दोनों कवियों में शान्ता भक्ति के पद भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। वास्तव में देखा जाए तो दोनों कवियों के भक्ति-साहित्य का प्रयोजन लौकिक वासनाओं का त्याग एवं ईश्वर के चरणों में रति ही है।

शान्त रस की परिभाषा देते हुए 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है जहाँ न दुःख है न सुख है, न चिन्ता है न द्वेष है न राग है और न इच्छा है, इस प्रकार के भाव में शान्त रस होता है।[1] निर्वेद इसका स्थायी भाव है। संसार की अनित्यता, वासनाओं का त्याग ईश्वरभक्ति तथा ज्ञानोपलब्धि से चित्त में एक विलक्षण आनंद की अनुभूति होती है—यही आनन्द शांत भाव है। साधुओं एवं ज्ञानियों का उपदेश तथा शास्त्र का पठन-पाठन इसके उद्दीपक हैं। रोमांचादि इसके अनुभाव हैं।

दास्य के अधिकांश पदों में सूर ने संसार के प्रति विरक्ति तथा भगवच्चरणों में अनुरक्ति उत्पन्न करनेवाले भाव अभिव्यक्त किये हैं। 'सूरसागर' प्रथम स्कंध के 'मन प्रबोध' शीर्षक के अधिकांश पद शांत भाव से सबद्ध हैं। उदाहरणार्थ शांत भाव से सबद्ध सूर का एक पद यहाँ दिया जाता है —

> हरि की सरन महँ तू आउ।
> काम क्रोध विषाद-तृष्ना, सकल जारि बहाउ।
> काम कै बस जो परै जमपुरा ताको वास।
> ताहि निसि दिन जपत रहि जो सकल-जीव निवास।
> कहत यह बिधि भली तासौं, जौ तू छाँड देहि।
> सूर स्याम सहाइ हैं तौ आठहूँ सिधि लेहि।[2]

सूर की भाँति नरसी में भी इस विषय से सबद्ध कई पद नरसिंह महेता कृत काव्य-संग्रह के 'भक्तिज्ञानना पदो' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित हैं। यहाँ एक पद की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं जिनमें संसार की अनित्यता एवं भगवन्नाम का माहात्म्य वर्णित है—

> दिन पुठ दिन तो वही जाय छे, दुरमतीना में भर्या रे डाला,
> भक्ति भूतल विष, नव करी ताहरी खाइया ससारना थोथा ठाला
> देह छे जूठडो, करम छे जूठडा, भीड भजन तार नाम साचु[3]

नरसी ने अत्यन्त वृद्धावस्था का वैराग्यपूर्ण वर्णन करके अंत में मानव मात्र को भगवद् भजन का सदबोध दिया है—

> घडपड कोणे मोकल्यु जाण्यु जोबन रहे सौ काळ,
> उमरा तो डुगरा थयारे, पादर थया परदेश
> गोळी तो गगा थइरे, अग उजळा थया छे केश
> o o o
> एवु सामळी प्रभु भजोर, साभरजो जगन्नाथ[4]

---

१ न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणम्॥
साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, २४९वें श्लोक की व्याख्या।

२ द., प ३१४। ३ न म का स, पृ ४७७। ४ न म का म, पृ ४६३।

शिवभक्ति

शिव के प्रति परम-भक्ति के भाव दोनो कवियो मे समान रूप से उपलब्ध होते है। दोनो भगवान् शकर के प्रति इतना पूज्यभाव रखते है कि वे हरि-हर मे किसी भी प्रकार का अतर मानने को प्रस्तुत नही है। एक स्थान पर 'हरि-हर' की एक साथ स्तुति करते हुए सूर ने 'हर' को 'हरि' का ही अभिन्न रूप घोपित किया है—

हरि-हर संकर, नमो नमो।
अहिसायी, अहि-अंग-विभूषन; अमित-दान, बल-विष-हारी।
नीलकंठ, बर नील कलेवर, प्रेम-परस्पर कृतहारी।
कंद्रचूड़ सिखि चन्द्र-सरोरुह, जमुना-प्रिय गंगाधारी।
सुरभि-रेनु-तन, भस्म विभूषित, वृष-वाहन, बन-वृषचारी।
अज-अनीह अविरुद्ध एकपस यहै अधिक ये अवतारी।
सूरदास सम रूप-नाम-गुन अंतर अनुचर-अनुसारी।[1]

नरसी ने कृष्ण एव शिव मे भेदबुद्धि रखनेवाले को अधम की सज्ञा दी है—

गंगधर ने गोकुलपति विचि जे को आणे भेद,
भणे नरसैंओ वैष्णव नहि ते, अधम तेहि किहि वेद.[2]

नरसी के कुलदेव भगवान शकर ही माने जाते है। उनको शकर की कृपा से ही कृष्णभक्ति उपलब्ध हुई थी—

गोपनाथे मुने अभेपद आपीयु, नरसै हरिरस रह्यो वखाणी
o o o
उमीयाधीशनी मुजने कृपा हवी, जो जोरे माहेरु भाग्य मोटु;
कीडी हुतो ते कुजर थइने उठ्यो, पूरण ब्रह्मशुं ध्यान चोहोट्यु.
हाथ झाल्यो मारो पारवतीपते, मुक्ति दरशन मुने सघळी देखाडी;[3]

अत इस दृष्टि से सूर की अपेक्षा वे शिव के अधिक कृपापात्र कहे जा सकते है। भाभी के कठोर उपालभ से विद्ध होकर नरसी ने सात दिन तक शिव-मदिर मे निराहार रह कर शिवभक्ति की थी। फलत शिव ने प्रसन्न होकर उन्हे द्वारिका मे कृष्ण के दर्शन करवाये। शिव की कृपा से ही कृष्ण ने नरसी को अपने श्रेष्ठ भक्तो मे स्थान दिया था—

भक्त आधीन तमो छो सदा त्रीकमा, प्रसन्न थइने शीव बोल्या वाणी;
भक्त हमारो भूतल लोकथी आवीयो, करो तेने कृपा दीन जाणी.
भक्त उपर हवे दृष्ट करुणा करो, नरसैयाने नीज दास थापो;[4]

इसके पश्चात् कृष्ण ने नरसी के सिर पर अपना वरद-हस्त रखकर उसको आद्य व्रजलीला के दर्शन कराये—

(अ) तेज वेळा श्री हरीए मुजने करुणा करी, हस्त कमल मारे शीश चांप्यो.[5]
(आ) व्रजतणी लीलानुं आद्य दरशण हवु ....[6]

---

१. सू०, प ७८६। २. राससहस्रपदी, के का शास्त्री पृ ३०। ३ न. म. का. स, पृ ७५।
४. न. म का. सं, पृ ७५, ७६। ५ न. म. का. स, पृ ७६। ६. न म का सं, पृ ७६।

भक्ति में सत्संग का महत्त्व

भक्तकवियो ने सत्संग को भक्ति के उद्दीपन विभाव के रूप में अत्यधिक महत्त्व दिया है। भक्ति के उद्भव तथा विकास के लिए सत्संग एक अद्वितीय साधन है। भक्ति, ज्ञान, योग आदि में सत्संग, सच्छास्त्र-श्रवण तथा सद्गुरु का परम माहात्म्य माना गया है। संत महात्माओं के पावन संसर्ग से चित्त सात्त्विक एवं ईश्वराभिमुख बनता है। भक्तों ने भगवान् एवं भक्त में अंतर नहीं माना है।

सूर में सत्संग महिमा के कई पद मिलते है। उनका निम्न लिखितपद संत महिमा का सुन्दर प्रसिद्ध है—

जा दिन संत पाहुने आवत।
तीरथ कोटि सनान करे फल जैसो दरसन पावत।
नयौ नेह दिन दिन प्रति उनकै चरन-कमल चितलावत।
० ० ०
संगति रहै साधु की अनुदिन, भव-दुख दूरि नसावत।
सूरदास संगति करि तिनकी, जे हरि-सुरति करावत।[1]

सूर ने संत दर्शनका माहात्म्य कोटि-तीर्थ-स्नान के जितना बताया है किंतु नरसी ने इससे भी बढ़कर संत-समागम को कोटितीर्थ समागम के जितना महत्त्व दिया है। उन्होंने तो यहां तक कहा है कि तीनों लोकों के समस्त प्राणियों को भवसागर के पार उतारनेवाली भगवती भागीरथी के भी संत तारनहार है। इस प्रकार संतो का माहात्म्य नरसी ने गंगा से भी बढ़कर बताया है—

वैष्णवने घेर बेठा गंगा निर्मळ हरिगुण गाय रे,
कोटी कोटी तीरथ त्यांहां आवे, ज्यां संत समागम थाय रे
हरिथी विमुख तेने शुं करे गंगा, जेम बग गंगामां नाहाय रे,
० ० ०
गंगाजी एणी पेर बोल्यां, हुं त्रण लोकने तारुं रे
हरिना जन ते मुजने तारे, कहे नरसैयो हुं वारुं रे[2]

दोनों कवियों ने समान रूप से हरि से विमुख रहनेवाले असाधुओं के संसर्ग को त्याज्य माना है, क्योंकि नास्तिकों के सम्पर्क से कुबुद्धि उत्पन्न होती है तथा सत्कार्य और ईश्वर भजन में बाधाएँ उपस्थित होती है—

सूर

तजौ मन, हरि विमुखन को संग।
जिनकै संग कुमति उपजति है, परत भजन मैं भंग।[3]

नरसी

मारा हरिजिनु हेत न दीसे रे, तेने घेर शीद जइए रे तेने संग शीद रहीए,
हेत विना हुंकारो न देवो, जनुं हरखसुं हइडुं न हीसेरे,

१ सू०, प ३५०। २ न म का स, पृ ६११। ३ सू०, प ३३२।

आगळ जइने वात विस्तारे, जेनी आंखमां प्रेम न दीसेरे.
भक्तिभावनो भेद न जाणे, भुरायो थइ भाळेरे;
ललित-लीलाने रंगे न राचे, उलची अंधारुं टाळेरे.
नामतणो विश्वास न आवे, उडु उडुं शोधेरे;
जाह्नवी केरा तरंग तजीने, [लटमां जइ कूप खोदेरे.'

भगिनी, पुत्र कलत्रादि मे से भी यदि कोई ईश्वर-भजन मे बाधा उपस्थित करते हो, तो नरसी उनके भी त्याग को उचित समझते है —

नारायणनुं नाम ज लेतां, वारे तेने तजीये रे;
मनसा वाचा कर्मणा करीने, लक्ष्मीवरने भजीये रे.
कुळने तजीये कुटुंबने तजीये, तजीये मा ने बाप रे;
भगिनि सुत दाराने तजीये, जेम तजे कंचुकी साप रे.[२]

नरसी ने संत की महत्ता ईश्वर से भी अधिक मानी है, क्योकि कृष्ण-कृपा मे जहाँ केवल कृष्ण-दर्शन मिलते हैं वहाँ संत-कृपा से समस्त मनोरथ सिद्ध होते है तथा परमानद प्राप्त होता है—

संत करुणा थकी, सकळ कारज सरे, कृष्णकरुणा थकी कृष्ण भासे,

० ० ०

संत सुखिया सदा, दुःख नव धरे कदा, जीव जंजाळ भरपूर माता;
जगत उन्मत्त फरे, विषे वासना धरे, भक्त भगवंत संघ रंग राता.
जगत गति परहरी, भक्ति ले दृढ़ करी, अखिल अघ थर हरि दुर न जाशे;
भणे नरसंयो सतसंतने सेवतां, पेरेपेरे परम आनंद थाशे.[३]

नरसी ने इस पद मे ससार को विषयासक्त एव भक्त को भगवान् मे लीन बताया है।

नरसी साधु-सगति के अभाव मे अपने जीवन को ही भ्रष्ट मानते है। वे भक्त की चरण-रज सिर पर धारण करके अपने जीवन को सफल बनाना चाहते है —

(अ) तारा दासना दासनी नित्य संगतविना भ्रष्ट थाय भूधरा मन मारुं;
दुष्टनी संगते दुष्ट मति उपजे, ...[४]

(आ) तारा दासनां चरणनी रेण मस्तक धरुं, जेथकी कोटि कल्याण पामु;[५]

'नारदभक्तिसूत्र' मे भक्त के माहात्म्य का वर्णन करते हुए कहा गया है कि 'तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि'[६]—तीर्थों को भी भक्त पवित्र करते है और भागवत मे कहा गया है 'मद्‌भक्तियुक्तो भुवन पुनाति'—मेरा भक्त सपूर्ण विश्व को पवित्र करता है। वास्तव मे नरसी के समक्ष सतो एव भक्तो का यही आदर्श था। भक्ति मे सत्सगति की महत्ता तथा सतो एव भक्तो के माहात्म्य-गान मे सूर की अपेक्षा नरसी की अभिरुचि विशेष प्रतीत होती है। नरसी ने जितनी प्रगाढ भक्ति सतो के प्रति प्रदर्शित की है, उतनी सूर मे उपलब्ध नही होती है। नरसी ने तो कृष्ण-दर्शन से भी संत-समागम को श्रेष्ठ घोषित किया है।

---

१. न. म. का सं., पृ ६१३। २ न म का. सं, पृ ४९२। ३ न म का सं., पृ ६१०। ४ न. म. का सं., पृ. ४७७। ५. न. म. का. सं, पृ ४८२। ६. नारदभक्तिसूत्र ॥६९॥

गुरु महिमा

भक्तिक्षेत्र म गुरु का अतीव महत्त्वपूण स्थान माना गया है। वह ज्ञानदीप स अपन शिष्य की आत्मा को प्रकाशमान करता है। वही शिष्य के ईश्वरीय माग का प्रदशक एव भव-नौका का केवट है। वह ईश्वर से भी महान एव श्रेष्ठ है।

पुष्टि सप्रदाय म ईश्वर और गुरु म किसी भी प्रकार का भेद नही माना गया है। चत्रभुज दासजी ने सूर के अतिम समय म उनस आचाय जी महाप्रभून के यश-वणन का आग्रह किया था। उस समय सूर न कहा था— जो म तो सब श्रीआचायजी महाप्रभून का ही जस वणन कियो है। कछू न्यारो देखू ँ तो न्यारो करू।[1] तात्पय यह कि सूर के कृष्णभक्ति विषयक समस्त पदो म कृष्ण के रूप म गुरु के माहात्म्य का ही गान किया गया है। इसके पश्चात गुरुचरणो मे प्रगाढ भक्ति बताते हुए सूर न भरोसो दृढ इन चरनन केरो पद गाया। सूर ने प्रकट रूप म गुरु का माहात्म्य गान बहुत कम किया है। एक पद म उन्होन गुरु को भवसागर का तारक तथा शिष्य के हाथ म ज्ञानदीप धरनवाला बताया है—

> गुरु बिन एसो कौन करे?
> माला तिलक मनोहर बाना ल सिर छत्र धर।
> भव सागर त ँ बूडत राखे, दीपक हाथ धर।
> सूर स्याम गुरु ऐसो समरथ, छिन म ँ ल उधर।[2]

सूर की भाति नरसी ने भी गुरु महिमा का गान किया है। उनका विश्वास है कि वेद, शास्त्र, शिव सनकादि तक गुरु के माहात्म्य का वणन करन म असमथ है। उन्होन गुरु को भवसागर की नौका एव ईश्वर से भी महान बताया है। नरसी का गुरु के प्रति यह अनन्यभाव सत परपरानुमोदित है—

> गुरपद वदी रे वाणी ओचरु रे, हु छु बाळक अजाण,
> o o o
> भवसागरमा रे गुरु नावे हु चढयो रे सहेजमा आव्या सागर पार
> होडा हिल्ला तो ते मुजने नव नडया रे, सदगुण सावध हाकणहार
> o o o
> वेपार तो कीधा है हरि नामनो रे, कीधो गुरु रूपा दलाल,
> o o o
> गुरु महिमानो पार क्यम लहु रे, थाक्यो सरस्वती थाक्या वेद,
> शिव सनकादिक रे वरणी नव शक्या रे एवो भारे गुरु गुण नो भेद
> गोविंदयो अदकारे सदगुरुगुण नीधो रे, अधम उधारण कहावे नाम
> तनमन अरपी रे सेवा सदा करु रे, नमी नरसयो करे प्रणाम।[3]

सूर न जहाँ गुरु तथा ईश्वर म अभेद माना है वहा नरसी न गुरु को गोविद स भी महान बताया है। सूर के गुरु स हम भलीभाति परिचित हैं किन्तु नरसी क गुरु क सबध म हम किसी

---

१ अष्टछाप, श्री गोकुलनाथ-कृत सम्पादक धीरेन्द्र वर्मा, पृ १६ चतुथ सस्करण, १९५०।

२ सू०, प ४१७। ३ न म का म, पृ ८९०।

भी प्रकार की जानकारी उपलब्ध नही हुई है। नरसी ने गुरु-महिमा के वर्णन मे जिस प्रकार की प्रगाढ भक्ति प्रकट की है, उससे यह प्रतीत होता है कि उनके कोई न कोई गुरु अवश्य थे, जिनके कृपाप्रसाद से उनके अन्तश्चक्षु उद्घाटित हुए। गुरु-महिमावाले उपर्युक्त पद के अंतिम चरण मे नरसी ने जो 'तन-मन' अर्पित कर गुरुसेवा करने की भावना अभिव्यक्त की है उससे भी यही अनुमान किया जा सकता है।

भक्ति में ऊँच-नीच के विचार का त्याग

भक्ति का विकास वास्तव मे सार्वजनीनता को लेकर ही हुआ है। इसमे जातिपाँति के भेदभाव के विचार वर्ज्य माने गये है। गीता मे भगवान् कृष्ण ने स्त्री, वैश्य, शूद्र आदि सभी को समान रूप से भक्ति का अधिकारी घोषित किया है—

> मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
> स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥[1]

आजकल विभिन्न सप्रदायो मे जो छुआ-छूत के भेदभाव दृष्टिगत होते है, वह उनके मानवता के उच्चादर्शो से पतित होने के लक्षण हे।

सूर एव नरसी दोनो कवि समान रूप से भक्ति की सार्वजनीनता को स्वीकार करते है। सूर कहते हैं—

> कह्यौ सुक श्री भागवत-बिचार।
> जाति-पाँति कोउ पूछत नाही, श्रीपति कैं दरबार।
> श्री भागवत सुनै जो हितकरि, तरै सो भव-जल पार।[2]

नरसी वाणी से ही नही किन्तु व्यवहार से भी भक्ति मे समत्व के आदर्श का पालन करनेवाले समदर्शी भक्त थे। आमंत्रण मिलने पर वे शूद्रो की वस्तियो मे भी कीर्तन करने जाया करते थे। नरसी के जीवन का 'ढेढवाड' का प्रसग प्रसिद्ध है, जिसमे एक शूद्र के यहाँ कीर्तन करने के कारण वे जाति-वहिष्कृत कर दिये गये थे। किन्तु इसकी भी उन्हे कोई चिन्ता नही थी। जाति-वहिष्कृत करनेवालो से उन्होने निडर होकर कहा था—

> एवा रे अमो एवा रे एवा, तमे कहो छो वळी तेवा रे;
> भक्ति जो करतां भ्रष्ट कहेशो तो, करशु दामोदरनी सेवा रे.
> जेनु मन जे साथे बंधाणुं, पेहेलुं हतुं घर करातुं रे;
> हवे थयुं छे हरिरसमातुं, घेर घेर हींडे छे गातुं रे.
> सघळा सायर्मां हुं एक भुंडो, भुंडाथी वळि भुंडो रे;
>
> ० ० ०
>
> हरिजनथी जे अंतर गणशे, तेना फोगट फेरा ठाला रे.[3]

---

१ गीता, ९-३२। २. स०, प २३१। ३. न. म. का स, पृ ४७१।

भक्ति और कर्मकांड

सूर एवं नरसी दोनों कवियों ने समान रूप से भक्ति में कर्मकाड के प्रति उपेक्षा बताई है। भक्ति में दोनों ने बाह्याचारों का निषेध प्रकट किया है। स्नान, तिलक, तीर्थयात्रा, जटा-जूट, भस्म-लेपन आदि बाह्याचारों के प्रति दोनों ने अपना विरोध प्रकट किया है। सूर कहते हैं—

> जौ लौं मन कामना न छूटे।
> तौ कहा जोग-जग्य-ब्रत कीन्हैं बिनु कन तुस कौं कूटे।
> कहा सनान किये तीरथ के अंग भस्म जट-जूट।
> कहा पुरान जु पढ़े अठारह, ऊर्ध्व धूम के घूँटे।
> जग सोभा की सकल बड़ाई, इहिं कछू न खूटे।
> करनी और कहै कछु और मन दसहूँ दिसि टूटे।
> काम, क्रोध, मद, लोभ, सत्रु हैं जो इतननि सौं छूटे।
> सूरदास तब ही तम नासै, ज्ञान अगिनि झर फूटे।[1]

सूर ने आत्मज्ञान के अभाव में याग यज्ञ, तीर्थ, व्रतादि सकल बाह्याचारों के विधानों को तण्डुल रहित तुषों को ऊखल में कूटने के सदृश बताया है। जैसे तण्डुल रहित तुषों को ऊखल में डालकर कूटने से कोई लाभ नहीं वैसे ही आत्मज्ञान के अभाव में भी कोई सार नहीं।

सूर की भाँति नरसी ने भी समस्त स्नान, जप, पूजा दान केश-लुंचन तथा माला आदि बाह्याचारों का उग्र विरोध किया है। नरसी ने वेदपाठ व्याकरण-सम्मत संस्कृत-वाणी षडदर्शन ज्ञान, तथा राग रंगादि तक को उदर-पूर्ति के प्रपंच घोषित किये हैं। उन्होंने आत्मज्ञान के अभाव में केवल बाह्याचारों के विधिविधानों में रत व्यक्ति के जीवन को असमय की वर्षा की भाँति व्यर्थ माना है—

> ज्यालगी आतमा तत्त्व चिन्यो नहीं, त्यालगी साधना सर्व जूठी,
> मानुष देह तारो, एम एळे गयो मावठानी जेम वृष्टि वूठी।[2]
>
> ० ० ०
>
> शुं थयुं स्नान सेवा ने पूजा थकी, शुं थयुं घेर रही दान दीधे,
> शुं थयुं धरि जटा भस्मलेपन करे, शुं थयुं वाळलोचन कीधे
> शुं थयुं तपने तिथ कीधा थकी, शुं थयुं माळ ग्रही नाम लीधे,
> शुं थयुं वेद व्याकरण वाणी वदे, शुं थयुं राग ने रंग जाणे,
> शुं थयुं षटदर्शन सेवा थकी शुं थयुं वरणना भेद आणे
> ए छे परपंच सहु पेट भरवा तणा, आतमाराम परिब्रह्म न जोयो
> भणे नरसैयो के, तत्त्वदर्शन विना, रत्न चिंतामणि जन्म खोयो।[3]

नरसी ने कबीर की भाँति बाह्याचारों के प्रति अपना उग्र विरोध प्रकट किया है। उन्होंने कर्मकाड प्रेमियों को भूतल पर भटकने मूरख की उपमा दी है।

> मूरख ममता करे, भूतल भमता फरे, जाने राजाय ते कर्मकांडे।[4]

---

१ सू०, प ३६२। २ मावठु→माघवृष्टि असमय की वर्षा। वूठी→वुट्ठ (प्रा)→वृष्टि (संस्कृत)।
३ न म का स, पृ ४८६। ४ न म का स, पृ ४८७।

भक्ति मे शरीर-शोधन के यम-नियमादि योगागो का दोनो ने किसी सीमा तक स्वीकार भी किया है। इस सवध मे नरसी के विचार द्रष्टव्य है—

शरिर शोध्या विना, सार नहिं सांपडे, पंडिता पार नहिं पामो पोथे.[1]

सूर का कथन है कि अष्टागयोग का क्रमश. अभ्यास करने के पश्चात् समाधि-दशा तक पहुँचने पर साधक की समस्त भौतिक उपधियाँ मिट जाती है—

भक्ति-पथ कौं जो अनुसरै। सो अष्टांग जोग कौं करै।
यम, नियमासन, प्रानायाम। करि अभ्यास होइ निष्काम।
प्रत्याहार, धारना, ध्यान। करै जु छाँड़ि वासना आन।
क्रम-क्रम सौं पुनि करै समाधि। सूर-स्याम भजि मिटै उपाधि।[2]

सभव है दोनो कवियो के शरीर-शोधन सवधी उपर्युक्त विचार उस समय के हो जिस समय उन्हे 'भाव-भक्ति' की उपलब्धि न हुई हो। क्योकि दोनो कवियो के भक्ति-साहित्य मे रागात्मिका-भक्ति के भावो का ही प्राधान्य रहा है। आचार्य वल्लभ से 'लीला-भेद' सुनने के पश्चात् सूर को तथा कृष्ण से 'दुर्लभ भक्ति-रस' पान करने के पश्चात् नरसी को यम-नियमादि योगागो की अपेक्षा रही हो, यह सभव नही। नरसी कहते है—

भक्तिरस दोह्यलो; विण कृपा नवि जडे;
जेह पियि तेह रसिया काहावे.[3]

ऐसे दुर्लभ भक्ति-रस के 'रसियाओ' को भला वाह्याचारो से क्या प्रयोजन हो सकता है?

---

१. न. म. का. सं, पृ ४८५। २ सू०, प. ३६४। ३ हा स. हा के., पृ. ३१।

षष्ठ अध्याय

सूर एवं नरसी के काव्य का भाव-पक्ष

षष्ठ अध्याय

सूर एवं नरसी के काव्य का भाव-पक्ष

जैसा कि गत अध्याय मे स्पष्ट किया जा चुका है, सूर एव नरसी के काव्य मे भक्ति-तत्त्व ही मुख्य है। भगवान् कृष्ण की मधुर-लीलाओ का गान ही उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य था। उन्होने अपने समस्त सासारिक-भावो का कृष्ण-चरणो मे ही समर्पण कर दिया था। अत दर्शन की तरह काव्यत्व भी उनके काव्य का मुख्य-प्रयोजन नही रहा। फिर भी भाव-भक्ति के साथ जो काव्य-सौष्ठव उनके साहित्य मे उपलब्ध होता है, वह किसी भी रूप मे कम गरिमाशाली नही है; क्योकि एक दृष्टि से काव्यत्व ही उनके मधुर-साहित्य का वह महत्त्व पूर्ण अग रहा है जो अलौकिक एव दिव्य भक्ति-भाव को लोक-भोग्य बनाने मे पर्याप्त सहायक बन सका है। इसीलिए भगवल्लीलाओ मे निबद्ध भाव-राशि के सम्यक् अनुशीलन के लिए उनके काव्य-पक्ष का परीक्षण भी अतीव अपेक्षित है। इसी हेतु यहाँ उनके काव्य के भाव-पक्ष का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

भाव और रस

भाव-पक्ष से तात्पर्य काव्य के अन्तरग से है, जो काव्य की आत्मा माना जाता है। भाव प्रत्येक व्यक्ति के अन्त करण के धर्म हैं, अत वर्णनातीत एव अनुभवैकगम्य माने जाते है। मानव-हृदय ही भावो का सागर है, जो सदा बाह्य सुख-दु ख के अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण से तरगायित होता रहता है। जिन बाह्य प्रभावो से भाव उद्बुद्ध होते है, वे विभाव कहे जाते है। ये दो प्रकार के होते है—आलबन और उद्दीपन। जिसका आलबन कर भाव उत्पन्न होते है, वह आलबन तथा उद्भूत भावो को उद्दीप्त करनेवाले उद्दीपन विभाव कहलाते है। आश्रय जिन चेष्टाओ द्वारा हृदयस्थित भावो को अभिव्यक्त करता है, वे अनुभाव कहे जाते है।

भाव दो प्रकार के होते है सचारी एव स्थायी भाव। तरग या बुदबुदो की भाँति प्रकट होकर जो शीघ्र लुप्त हो जाते है वे सचारी एव रसास्वादन पर्यन्त मन मे स्थिर रहनेवाले स्थायी भाव कहलाते है। सचारियो का कार्य स्थायी भावो को पुष्ट करना है। इनकी सख्या ३३ मानी गई है। स्थायी भाव आठ है किन्तु 'शम' को भी स्वतत्र भाव मान लेने पर नव मानी गई है।[1] विभाव, अनुभाव और सचारियो के योग से पुष्ट स्थायी भाव ही रसरूप मे परिणत होते है। शान्तरस के साथ इनकी भी सख्या नव मानी गई है।[2] इनके अतिरिक्त आचार्यो ने वात्सल्य को

---

[1] रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्साविस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥१७५॥ साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद।

[2] शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मत. ॥१८२॥ साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद।

षष्ठ अध्याय

सूर एवं नरसी के काव्य का भाव-पक्ष

जैसा कि गत अध्याय मे स्पष्ट किया जा चुका है, सूर एव नरसी के काव्य मे भक्ति-तत्त्व ही मुख्य है। भगवान् कृष्ण की मधुर-लीलाओ का गान ही उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य था। उन्होने अपने समस्त सासारिक-भावो का कृष्ण-चरणो मे ही समर्पण कर दिया था। अत दर्शन की तरह काव्यत्व भी उनके काव्य का मुख्य-प्रयोजन नही रहा। फिर भी भाव-भक्ति के साथ जो काव्य-सौष्ठव उनके साहित्य मे उपलब्ध होता है, वह किसी भी रूप मे कम गरिमाशाली नही है; क्योकि एक दृष्टि से काव्यत्व ही उनके मधुर-साहित्य का वह महत्त्व पूर्ण अग रहा है जो अलौकिक एव दिव्य भक्ति-भाव को लोक-भोग्य बनाने मे पर्याप्त सहायक बन सका है। इसीलिए भगवल्लीलाओ मे निबद्ध भाव-राशि के सम्यक् अनुशीलन के लिए उनके काव्य-पक्ष का परीक्षण भी अतीव अपेक्षित है। इसी हेतु यहाँ उनके काव्य के भाव-पक्ष का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

भाव और रस

भाव-पक्ष से तात्पर्य काव्य के अन्तरग से है, जो काव्य की आत्मा माना जाता है। भाव प्रत्येक व्यक्ति के अन्त करण के धर्म हैं, अत वर्णनातीत एवं अनुभवैकगम्य माने जाते है। मानव-हृदय ही भावो का सागर है, जो सदा बाह्य सुख-दु ख के अनुकूल-प्रतिकूल वातावरण से तरगायित होता रहता है। जिन बाह्य प्रभावो से भाव उद्बुद्ध होते है, वे विभाव कहे जाते है। ये दो प्रकार के होते है—आलबन और उद्दीपन। जिसका आलबन कर भाव उत्पन्न होते है, वह आलबन तथा उद्भूत भावो को उद्दीप्त करनेवाले उद्दीपन विभाव कहलाते है। आश्रय जिन चेष्टाओ द्वारा हृदयस्थित भावो को अभिव्यक्त करता है, वे अनुभाव कहे जाते है।

भाव दो प्रकार के होते है सचारी एव स्थायी भाव। तरग या बुदबुदो की भाँति प्रकट होकर जो शीघ्र लुप्त हो जाते है वे सचारी एव रसास्वादन पर्यन्त मन मे स्थिर रहनेवाले स्थायी भाव कहलाते है। सचारियो का कार्य स्थायी भावो को पुष्ट करना है। इनकी सख्या ३३ मानी गई है। स्थायी भाव आठ है किन्तु 'शम' को भी स्वतत्र भाव मान लेने पर नव मानी गई है।[1] विभाव, अनुभाव और सचारियो के योग से पुष्ट स्थायी भाव ही रसरूप में परिणत होते है। शान्तरस के साथ इनकी भी सख्या नव मानी गई है।[2] इनके अतिरिक्त आचार्यो ने वात्सल्य को

---

१ रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्साविस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ता· शमोऽपि च ॥१७५॥ साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद।

२. शृंगारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसा· शान्तस्तथा मत· ॥१८२॥ साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद।

भी स्वतंत्र रस घोषित किया है। वात्सल्य, स्नेह इसका स्थायी भाव तथा पुत्रादि आलंबन होते हैं।[1]

सूर जैसे महाकवि को काव्यशास्त्र की इस भावसीमा के संकुचित क्षेत्र में रख कर देखना उचित नहीं क्योंकि उन्होंने दाम्पत्य रति के अतिरिक्त भगवद् विषयक रति (मधुर भाव) तथा वात्सल्य को भावदशा से ऊपर रस की कोटि तक पहुंचाया है। उन्होंने शृंगार के अनेक संचारियों के अतिरिक्त अन्य कई मनोदशाओं की अभिव्यंजना करके शृंगार को रसराजत्व प्रदान किया है। वस्तुतः सूर जैसे महाकवि की अनुभूतियों की व्यापकता एवं सूक्ष्मता पर विचार किया जाए तो यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मानव-जीवन की जो अनुभूतियाँ सर्वजनीन तथा सर्वकालीन हैं, जो अनुभूतियाँ क्या भारत में क्या विश्व के समस्त भू भागों में क्या सभ्य-समाज में क्या असभ्य समाज में क्या प्राचीन काल में, क्या अर्वाचीन समय में सर्वत्र सभी क्षेत्रों में समान रूप से अनुभूत होती हैं जो अनुभूतियाँ मन के निभृत अंतस्तल में छिपी रहती हैं वे ही उनके काव्य विषय हैं।

भगवान् के शील शक्ति एवं सौंदर्य विभूतियों में से सूर ने केवल सौन्दर्य का ही चित्रण किया है। उन्हें द्वारिकेश कृष्ण की अपेक्षा यशोदानंदन एवं गोपीजन वल्लभ कृष्ण ही अधिक प्रिय हैं। इसीलिए उन्होंने भगवान् कृष्ण के बाल्य एवं यौवन से संबद्ध भावों का ही सूक्ष्म अंकन किया है। वात्सल्य एवं शृंगार की सूक्ष्मतम अनुभूतियों, गंभीरतम भावों एवं विविध व्यापारों का चित्रण ही उनके काव्य का प्रमुख विषय है। इस संबंध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के विचार द्रष्टव्य है—'वात्सल्य और शृंगार के क्षेत्रों का जितना अधिक उद्घाटन सूर ने अपनी बंद आंखों से किया उतना किसी अन्य कवि ने नहीं। इन क्षेत्रों का कोना-कोना वे झांक आए। उक्त दोनों के प्रवर्तक रति भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतना का और कोई नहीं। हिन्दी साहित्य में शृंगार का रसराजत्व यदि किसी ने पूर्ण रूप से दिखाया है तो सूर ने।'[2]

यद्यपि नरसी में कृष्ण के बाल्य एवं यौवन दोनों अवस्थाओं के भावों की अभिव्यक्ति हुई है, तथापि सूर की भाँति वात्सल्य की सूक्ष्म भावाभिव्यक्ति का उनमें अभाव रहा है। सूर के जितना विशद एवं सूक्ष्म वात्सल्य चित्रण उनमें नहीं हो पाया है क्योंकि वे मुख्यतः शृंगार के ही कवि हैं। सौन्दर्य ही उनके मधुर-काव्य का उत्स है। राधा-कृष्ण के गुप्त से गुप्त रतिभावों का प्रकट रूप में गान ही उनके काव्य का मुख्य विषय रहा है।

तात्पर्य यह कि सूर एवं नरसी दोनों कवियों ने भगवान् की शील शक्ति एवं सौन्दर्य विभूतियों में से सौंदर्य के ही भावों का अंकन किया है। दोनों ने कृष्ण की बाल एवं यौवन-लीलाओं का ही चित्रण किया है। इनके तुलनात्मक अध्ययन के लिए जिन भावों, लीलाओं तथा विषयों का आधार लिया गया है उनका क्रम इस प्रकार है—

(अ) वात्सल्य भाव

(१) जन्मलीला

---

१ स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥ २१॥ सा द., तृ प।

(२) वाललीला, चन्द्र-प्रस्ताव, अन्य वालचेष्टाएँ
(३) माखन-चोरी
(४) गोचारण, छाक-प्रसग
(५) नद-यशोदा और वसुदेव-देवकी

(आ) शृंगार-भाव : संभोग

(६) रासलीला
(७) पनघटलीला
(८) दानलीला
(९) हिंडोला
(१०) वसतलीला
(११) सभोग के अन्य भाव
वय.सधि, कृष्ण की रूपमाधुरी,
राधा-कृष्णरति, सुरतान्त, विपरीत रति आदि ।
(१२) मानलीला
(१३) खडिताओ के भाव

(इ) विप्रलंभ :

(१४) अक्रूर-आगमन, कृष्ण का मथुरा-गमन
(१५) भ्रमरगीत-प्रसग

(ई) व्रजवासियों का कृष्ण-मिलन

(उ) अन्य रसों के भाव

(ऊ) प्रकृति-चित्रण

प्रभात, वृन्दावन, वर्षा (सभोग-विप्रलभ) वसत, शरद् ।

(अ) वात्सल्य-भाव

१—जन्मलीला

सूर एव नरसी दोनो कवियो ने कृष्ण-जन्म-विपयक पद लिख है, जिनमे कृष्ण के जन्म पर वसुदेव-देवकी की चिन्ता, कृष्ण को नन्द के यहाँ पहुँचाना, नन्द के घर कृष्ण-जन्मोत्सव, गोप-गोपियो के हर्षोल्लास आदि का दोनो कवियो ने अपनी स्वतत्र उद्‌भावना के आधार पर वर्णन किया है ।

कस के कारावास मे कृष्ण का जन्म हुआ था । जन्म के पश्चात् वसुदेव कृष्ण को रातोरात नद के घर पहुँचा आए । दोनो कवियो ने कृष्ण को परब्रह्म का ही अवतरित रुप मान कर अभूत-पूर्व आनदोल्लास का विविध रुप मे चित्रण किया है ।[१] वल्लभ-सप्रदाय मे कृष्ण का वालरूप ही

---

१ (अ) सूर, सू०, प. ६२६, ६३० ।
(आ) नरसी, न म. का. सं , पृ ४३२ ।

प्रमुख रूप से आराध्य रहा है। अत नरसी की अपेक्षा सूर ने कृष्ण के जन्म नन्दोत्सव तथा गोप-गोपियों के हर्षोल्लास आदि का अधिक विशद वर्णन किया है। सूर ने जन्म समय के ही ऐसे कई प्रसगों का सविस्तार वर्णन किया है जिनका नरसी में सर्वथा अभाव है। नाल छेदन के समय दाइन का पुरस्कार के रूप में आवां का हार न पाने तक हठपूर्वक बैठ रहना और रोहिणी से हार मिलने पर ही नाल-छेदन करना आदि प्रसगों का सूर ने पर्याप्त रुचि के साथ वर्णन किया है।[1] नरसी-साहित्य में इस प्रसग का सामान्य उल्लेख भी उपलब्ध नहीं होता है।

दोनों कवियों ने यशोदा के उस समय के हर्षातिरेक की समान रूप से अभिव्यजना की है जिस समय वह जागते ही अचानक सद्य-जात शिशु को अपने पार्श्व में पाती है। हर्ष सचारी तथा रोमाच, स्वरभग आदि सात्विक भावों के एक साथ उदित होने से यशोदा की मन स्थिति में जो सहसा भाव-परिवर्तन होता है वह द्रष्टव्य है—

सूर

गोकुल प्रगट भए हरि आई।
अमर-उधारन, असुर-सँहारन, अतरजामी त्रिभुवनराइ।
माथैं धरि वसुदेव जु ल्याए, नद महर घर गए पहुँचाइ।
जागी महरि, पुत्र मुख देख्यौ, पुलकि अग उर मैं न समाइ।
गदगद कठ, बोल नहिं आवै, हरषवत ह्वै नद बुलाइ।
आवहु कत, देव परसन भए, पुत्र भयौ मुख देखौ धाइ।[2]

नरसी

(अ) दुष्ट विदारन सकट तारन, गोकुलमा पधराव्यो रे,
दुदुभी नाद अतरीक्ष थाल, पुष्पनी वृष्टी थाय रे,
नरसैयाना स्वामी जशोदा खोळे, वसुदेव मूकीने जाय रे[3]

(आ) मनमा विस्मय थया माता जशोदा, पासामा दीठो बाल रे,
चौदभुवन नो लीलाकारी, अवतर्यो कसनो काळ रे
प्रथम नयण निरखु कुवरने, पछे जगाडु नदराय रे,
जागो प्यारा सबळ सार, जागृ भाग्य तमारु वरणाय रे[4]

वसुदेव का नद के यहा कृष्ण को पहुँचाना, पार्श्व में सुदर शिशु को देखकर यशोदा का पति को बुलाना आदि उल्लेख दोनों में समान रूप से मिलने पर भी भाव की दृष्टि से सूर का वर्णन अपेक्षाकृत सूक्ष्म एव प्रभावोत्पादक है। शिशु को अपने पार्श्व में देखकर नरसी ने यशोदा को जहाँ विस्मित मात्र बताया है, वहाँ सूर ने हर्ष, पुलक आदि भावों का उत्तम स्वाभाविक सन्निवेश किया है। कृष्ण के अमर-उद्धारक दुष्ट विदारक आदि अतिमानवीय लीलाकारी चरित का उल्लेख दोनों ने किया है।

१ सू०, प ६३३ से ६३६। २ सू०, प ६३१। ३ न म का स, पृ ४३५।
४ न म का स, पृ ४०५।

इसके पश्चात् दोनो कवियो ने नद के सुत-मुख दर्शन-जन्य हर्ष का वर्णन किया है। अपने पुत्र का मुख देखकर सुर ने नन्द को जहाँ स्नेह-गद्गद चित्रित किया है वहाँ नरसी ने नद को दिव्य-आनन्द मे मग्न बताया है—

सूर

दौरि नंद गए, सुत-मुख देख्यौ, सो सुख मोपै बरनि न जाइ।[१]

नरसी

जाग्या नंदजी आनंद पाम्या, जोया जगदाधार रे;
कोटी रविशशी, प्रगट्या, कोटी कोटी दीवडानी हार रे.
० ० ०
नंद कहे सुणो भामनी मारी, दीसे छे लीलाकार रे.[२]

यहाँ नरसी के नद को कृष्ण के अवतरित रूप का ज्ञान हो चुका है, किन्तु सूर के नद उसे अपने आत्मा का अश मान कर ही हर्ष-विह्वल हो उठते है। अत अपेक्षाकृत सूर का वर्णन अधिक स्वाभाविक प्रतीत होता है। वात्सल्य-भक्ति मे कृष्ण के अतिमानवीय भाव को ग्राह्य माना जाता है, किन्तु यहाँ वत्सल-भाव मे यह बाधक ही सिद्ध होगा।

प्रभात होते ही सुत-जन्म के समाचार समस्त व्रज मे फैल गये। घर-घर बधाइयाँ बजने लगी। नन्द महर के आँगन एव द्वार पर आबालवृद्ध सभी हर्ष-मत्त होकर नाचने लगे। सारा आँगन गोरस-कीच से भर गया। सूर ने नन्दोत्सव के चित्र का इस प्रकार अकन किया है—

महरि जसोदा ढोटा जायौ, घर-घर होति बधाई।
द्वारैं भीर गोप-गोपिनि की, महिमा बरनि न जाई।
अति आनंद होत गोकुल मैं, रतन भूमि सब छाई।
नाचत वृद्ध, तरुन अरु बालक, गोरस-कीच मचाई।[३]

लगभग सूर की ही तरह नरसी ने भी नन्दोत्सव का वर्णन किया है, किन्तु आँगन मे दधिकीच होने की उनकी कल्पना अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक प्रतीत होती है। पुत्रजन्म के समाचार पाते ही एक गोपिका नन्द के घर दौड पडती है। हर्षातिरेक मे उसीके सिर से दही की मटकी अनायास ही ढरक पड़ती है—

नंद ने आंगणे नर घोष वाध्यो, पंचम शब्दना पूर्या नाद रे;
धोळ मंगळ आलापे बाला, श्री गोकुळमां पडीयो साद रे.
घर घर थी निसरी रे गोपी, सरखा सरखी टोळी रे;
दधिकीच मच्यो नंद आंगणे, शीरथी ढोळी गोळी रे.[४]

अपने समस्त कृष्णलीला-साहित्य मे सूर ने स्वय को कृष्ण के सम्मुख यदि कही उपस्थित बताया है तो वह जन्मलीला के अवसर पर ही। अपने आराध्य के प्रकट होते ही सूर ढाढी के

१. सू०, प ६३१। २. न. म. का. सं., पृ ४३५। ३. सू०, प. ६३६। ४. न. म. का. स., पृ. ४३६।

रूप म शीघ्र नद महर के यहाँ पहुँच जाते हैं और अपन आन का प्रयोजन इस भाँति प्रकट करते हैं—

(नद जू) मेर मन आनद भयो, म गोबधन त आयो।
तुम्हर पुत्र भयो, हो सुनि क अति आतुर उठि धायो।

० ० ०

नदराइ, सुनि बिनती मेरी, तबहिं बिदा भल ह्वहो ।
दीज मोहिं कृपा करि सोई, जो हो आयो मागन ।
जसुमति-सुत अपन पाइनि चलि, खेलत आव आँगन ।
जब हँसि क मोहन कछु बोल, तिहि सुनि क घर जाऊँ ।
हौं तौ तेरे घर कौ ढाढी, सूरदास मोहिं नाऊ ।[1]

नरसी अपन परमाराध्य के अवतरित हान का आनद भिन रूप म प्रकट करते हैं। वे प्रत्यक्ष कृष्ण के निकट न पहुँच कर भाव जगत म ही इस परमानद की अनुभूति प्राप्त कर धय हा जाते है —

केसर कुकुम चर्चे सहुने, घेर घेर श्रोच्छव थाय रे

० ० ०

रग रेलायो नरसयो गाये, मन वाध्यो आनद रे[2]

पुत्र-ज म समय के विविध लाकाचारा उत्सवा आदि का सूर न बडा विशद एव भावपूण वणन किया है। इस क्षेत्र म नरसी सूर स बहुत पीछे है। उन्होन अतीव स्वल्प रूप मे इस विषय से सबद्ध भावा की अभिव्यक्ति की है। ज म प्रसग की उ‍भावनाआ म नरसी सूर से कहीं-कहीं अलग भी पड जाते हैं। एक पद म दवकी अपने पुत्र कृष्ण के समक्ष करुण विलाप करती हुई कहती है—

दो दुखे दाझी माता तमारी दुख दमोया छे तात तमारो रे,
पापीनो मे भाग्यो पुत्र वळावु छु, घणु दाम जीव हमारो रे
पर घेर पुत्र ने कोइ म वळावे, जेनी माता होइ मुइ रे,
पुत्र धन कमाई जशोदा केरी, माता ते कहेवाश रे,
पुत्रने आपी माता आसुडा ढाळे, पुत्र छेली अरज हमारी रे,
क्रोड वरस आयुष्य हजो पुत्रने माता लूण नाखे उतारी रे[3]

दवकी दोना आर स दुखी है। एक आर उसका गाहस्थ्य जीवन कठार कारावास म व्यतीत हो रहा है जहाँ उसके आत्म पिंडा तक का छीन कर मार दिया जाता है वहाँ दूसरी आर कृष्ण जस सुदर शिशु का ज म दकर भी वह उसकी माता न कहला सकगी। उसका पुत्र किसी अन्य द्वारा पालित हो यह उसके लिए असह्य है। दवकी की करुण स्थिति उस समय अपन चरम बिन्दु तक पहुँच जाती है जिस समय वह कहता है कि उसा पुत्र का पालन दूसरा क यहाँ हाना है जिसकी माता मर चुकी हो। नरसी ने सूर का चित्रण एकदम भिन्न है। पुत्र की चिंता म दवकी मूर्च्छित

---

१ सू०, प ६४३। २ न म का स, पृ ४३६। ३ न म का स, पृ ४३७।

हो जाती है। कृष्ण अपनी माता की यह स्थिति देख कर चतुर्भुज रूप मे प्रकट होकर उसे इस भाँति आश्वस्त करते है—

खड्ग धरे आवै, तुव देखत, अपनैं कर छन माँह पछारै।
यह सुनतहिं अकुलाइ गिरी घर, नैन नीर भरि-भरि दोउ ढारैं।
दुखित देखि वसुदेव-देवकी, प्रगट भए धरि कै भुज चारैं।
बोलि उठे परतिज्ञा करि प्रभु, मो तैं उबरै तव मोहिं मारै।
अति दुख मैं सुख दै पितु मातहिं, सूरज-प्रभु नँद-भवन सिधारे।[1]

इस प्रकार दोनो कवियो ने अपने इष्टदेव के प्राकट्योत्सव से सवद्ध विविध लोकाचारो का अपनी-अपनी कल्पना के आधार पर वर्णन किया है। नवीन प्रसगो की उद्भावना, भावो की सूक्ष्मता, वर्णन-वैविध्य आदि की दृष्टि से विचार किया जाए तो नरसी की अपेक्षा सूर का वर्णन अधिक श्रेष्ठ है। नरसी ने जहाँ मित पदो मे ही अपने भाव व्यक्त कर दिये है वहाँ सूर का भाव-पट निश्चित रूप से अधिक विस्तृत एव सूक्ष्म है।

२—बाललीला

सूर-साहित्य मे इस प्रसंग के कई पद मिलते है, जिनमे कृष्ण के शिशु-स्वभाव की सरलता, चचलता, हठ आदि तथा कृष्ण का सीधे से औंधा होना, घुटनो के वल चलना, पैरो चलना, आँगन मे खेलना और फिर धीरे-धीरे सखाओ के साथ खेलते हुए दूर निकल जाना आदि का कई रूपो मे वडा सूक्ष्म एव मनोवैज्ञानिक वर्णन किया गया है।

नरसी-साहित्य मे इस प्रसग के पद अपेक्षाकृत स्वल्प है। नरसी का वाल-चित्रण सूर की भाँति विस्तृत एव सूक्ष्म न होने पर भी कृष्ण की अनेक वालचेष्टाओ का उसमे स्वाभाविक चित्रण मिलता है। कृष्ण का माता के सम्मुख नृत्य करना,[2] वछडे की पूछ पकड कर खडे होना,[3] चन्द्र को प्राप्त करने के लिए हठ करना,[4] तुतली वाणी से माता के मन को मुदित करना[5] आदि अनेक वाल-सुलभ व्यापारो एव चेष्टाओ का उसमे विविध रूपो मे अकन मिलता है।

नृत्य-रत कृष्ण का शब्दचित्र दोनो कवियो ने अपने-अपने ढग से अकित किया है। नृत्य-रत कृष्ण के नूपुरो के मधुर अनुरणन् के साथ शब्द-माधुर्य का सामजस्य द्रष्टव्य है—

सूर

त्यौं त्यौं मोहन नाचै ज्यौं ज्यौं रई घमर कौ होइ री।
तैसियै किंकिनि-धुनि पग-नूपुर, सहज मिले सुर दोइ री।
o o o
सूर भवन कौ तिमिर नसायौ, वलि गइ जननि जसोइ री।[6]

नरसी

(अ) रुम झुम नादे नेपुर वाजे, झांझरना झमकार रे;
ताली ताल मृदंग घूने नाचे, कटी कोंकणी रणकार रे;
o o o
भणे नरसैयो आनंद थयो अति, हरि भामिनी भावे रे।[7]

---

१ सू०, प० ६७८। २. न म. का. सं, पृ. ४५८। ३. न. म. का सं, पृ. ४६०। ४. म. म. का. सं, पृ. ४५८। ५. न म. का. सं., पृ. ४५६। ६. सू०, प. ७६६। ७. न. म. का. सं, पृ ४६०।

करते हुए कृष्ण को शान्त करने के लिए माता उन्हे चन्द्र दिखाती है। कृष्ण चन्द्र को मीठी वस्तु समझ कर खाने की इच्छा प्रकट करते है और इसके पश्चात् उसे खिलौना समझ कर प्राप्त करने का हठ पकडते है। कृष्ण को शात करने के लिए माता कई उपाय करती है, फिर भी सभी व्यर्थ सिद्ध होते है। अन्त मे माता कृष्ण को कहती है कि कृष्ण तुम्हारे डर से ही चन्द्र दूर-दूर भागता जा रहा है।

नरसी-साहित्य मे इस प्रसग के दो पद मिलते है। एक मे चन्द्र के लिए रुदन करते हुए कृष्ण को माता कहती है कि चन्द्र बहुत दूर आकाश मे है, वह कोई गुड, 'खोपरा' या 'धाणी' नही कि शीघ्र ला कर दे दिया जाए। कृष्ण का ध्यान रह-रह कर चन्द्र की ओर जाता है और चन्द्र प्राप्त न करने के कारण वे पुन. मचल जाते है। माता की परवशता एव लाचारी जैसे भाव इस पद मे बड़े ही स्वाभाविक ढग से व्यक्त हुए है। वह बालक को अतीव कोमल स्वर मे समझाने का प्रयत्न कर रही है। अत मे खिलौनो से भी बाल कृष्ण जब चुप नही होते है तब माता उन्हे माखन दे कर शात करती है—

आवडी राढ शी विठ्ठला तुजने, गगन थी इंदु केम आपुं आणी;
कुंवर कांइ नव लहे, वात अभिनवी कहे, नोहे कोय टोपरुं गोळ धाणी.
आंखे आंसु ढळे इंदु देखी चळे, टळवळे माता ने मान मागे;
रहे रहे रोतो, शुं रे जो तो घणुं, रमवा रमकडां छे रे बोह आगे.
इंदु थयो अस्त ने रहे राखतां, दधीसुत प्रगट करी आणे आपे;
नरसैंयाचो स्वामी माखणे भोळव्यो, सकळ वैभव तणो बंध कापे.[1]

दूसरे पद मे कृष्ण चन्द्र के साथ नक्षत्रो को भी खिलौनो के रूप में प्राप्त करना चाहते है। माता कई प्रयत्नो के बाद पानी मे चन्द्रबिंब बताकर कृष्ण को शान्त करती है—

ओ पेलो चांदलियो, आइ मुने रमवाने आलो;
नक्षत्र लावीने माता, मारा गजवामां घालो.
० ० ०
वाडकामां पाणी घाली, चांदलियो दाख्यो;
नरसैयानो स्वामी शामळीओ, रडतो तव राख्यो.[2]

यहाँ नक्षत्रो के जेब मे रखने की नरसी की कल्पना सर्वथा मौलिक है।

सूर के कृष्ण नरसी के कृष्ण की अपेक्षा अधिक चतुर है। नरसी के कृष्ण जहाँ जल मे चन्द्र-बिंब देखकर चुप रह जाते है वहाँ सूर के कृष्ण माता की इस चाल को समझ कर कहते है कि जल के भीतर के चन्द्र को मैं कैसे पा सकूँगा। मैं तुम्हारी सब चाल समझता हूँ। मुझे तो वही चन्द्र चाहिए जो आकाश मे चमक रहा है—

मैया री मैं चंद लहौंगो।
कहा करौं जलपुट भीतर कौ बाहर ब्यौंकि गहौंगौ।
यह तौ झलमलात झकझोरत, कैसैं कै जु लहौंगौ।
० ० ०

१ न. म. का. स., पृ ४५८। २ न. म. का स., पृ. ४६२।

तुम्हरो भ्रम प्रगट मैं जान्यौ, बौराएँ न बहौगो ।
सूर स्याम कहै कर गहिल्याऊँ ससि-तन-ताप दहौगो ।[१]

अन्य बाल-चेष्टाएँ

नरसी ने अपने 'बाललीला' के मुक्तक गेय पदों में हँसना, मचलना, तुतलाना, रीझना आदि कृष्ण की विविध चेष्टाओं तथा भावों का वर्णन तो किया है, किन्तु सूर साहित्य में जो कृष्ण के वय विकास का क्रमिक एवं मनोवैज्ञानिक चित्रण उपलब्ध होता है उसका उनमें सर्वथा अभाव है। बाल स्वभाव की सूक्ष्मतम चेष्टाओं एवं हावभावों के वर्णन में जो सूक्ष्म अभिव्यंजना-कौशल सूर-साहित्य में उपलब्ध होता है वह नरसी साहित्य में नहीं। वास्तव में सूर का बाल वर्णन विश्व साहित्य में अप्रतिम है।

दोनों कवियों ने कृष्ण की बालशोभा के चित्र भी बड़े मनोयोग से अंकित किये हैं। दोनों ने कृष्ण के मुख नासिका नेत्र श्याम शरीर आदि के सौंदर्य का विविध उपमानों के द्वारा बड़ा भावपूर्ण वर्णन किया है। सूर ने अपने आराध्य के नवनीत-करधारी रूप का कई रूपों में वर्णन किया है। घुटनों के बल चलते धूलि धूसरित कृष्ण की बालशोभा का वर्णन सूर ने निम्नलिखित पद में कैसा प्रभावोत्पादक ढंग से किया है। इससे नवनीत प्रिय कृष्ण का बालछवि का अनुपम चित्र हमारे समक्ष उभर आता है—

सोभित कर नवनीत लिए।
घुटुरुनि चलत रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए।
चारु कपोल लोल लोचन गोरोचन तिलक दिए।
लट लटकनि मनु मत्त मधुप-गन मादक मदहिं पिए।
कठुला कंठ, वज्र केहरि-नख राजत रुचिर हिए।[२]

नरसी शृंगार के कवि हैं। अतः बाल कृष्ण की शोभा के वर्णन में भी वे कामदेव का प्रसंग लाना नहीं भूले हैं। कृष्ण की चपल आँखों की चेष्टाओं से उन्होंने कामदेव को भी तिरस्कृत होते बताया है। यहाँ उनका एक पद प्रस्तुत किया जाता है जिसमें हम कृष्ण के सौन्दर्य तथा उनकी विविध बालसुलभ चेष्टाओं आदि का सुन्दर समन्वय पाते हैं। माता पुत्र का वात्सल्य-वश हो धीरे से ताडित करती है और पुत्र दौड कर उनकी कमर से लिपट कर झूल पडता है—

जसोदाजी जमवाने तेडे नाचता हरी आवे रे,
बोले मीठडा बोलडोआ ने, अंगो अंग नचावे रे
मुखनी शोभा शी कहु जाणे, पूनमचंद विराजे रे,
नेत्र कमळना चाळा जोइ जोइ, मन्मथ मनमां लाज रे
अंजन वेउए नयणे सार्यां, उर लटके गजमोती रे,
तिलक तणी रेखा अति सुंदर, माता हरख जोती रे
स्नेह जणावीने पुत्र ने मार्यो आवीने कोट वळग्यो रे[३]

---

१ सू० ८१२। २ सू० ७१७। ३ न म का म, पृ ४६१।

नर्तित कृष्ण की शोभा के भी कई चित्र दोनो कवियो ने अंकित किये है। नृत्य करते समय कृष्ण की विविध भंगिमाएँ एव चेष्टाएँ देख कर माता कितनी प्रसन्न होती है, देखिए—

सूर

तनक तनक चरननि सौं नाचत, मनहीं मनहिं रिझावत ।[1]

नरसी

माता आगळ मोहन नाचे, आंगळीए हरी वलग्यो रे;
वदन सकोमळ नीरखे जननी, क्षण नव मे'ले अलगो रे.[2]

रूप-वर्णन मे नरसी की अपेक्षा सूर की दृष्टि अधिक पैनी रही है। तनिक तनिक पैरो से थिरकते कृष्ण की छोटी-छोटी एडियो की रक्तिमा तक उनकी दृष्टि पहुँच गई है।

३—माखन-चोरी

कृष्ण की समस्त लीलाओ मे इस लीला का अन्यतम स्थान है। 'सूरसागर' मे अन्य लीलाओ की भाँति इसका भी यथाक्रम एव विशद वर्णन किया गया है। कृष्ण की रुचि शैशव काल से ही माखन की ओर विशेष रूप से रही। वे अपने सखाओ के साथ ब्रज मे जहाँ अवसर पाते वही घुसकर माखन खाया करते थे। नन्द के घर मे माखन की कमी नही थी, फिर भी कृष्ण को पराये घरो मे चोरी करके माखन खाने और सखाओ को खिलाने मे एक विशेष प्रकार का आनंद प्राप्त होता था। दोनो कवियो ने इस विषय के अनेक पद लिखे है, जिनमे कृष्ण की चेष्टाओ और क्रिया-कलापो की दृष्टि से पर्याप्त साम्य दृष्टिगत होता है। सूर की एक गोपिका कृष्ण की शरारतो से उकता गई है। एक दिन उसने कृष्ण को चोरी करते पकड लिया, किन्तु कृष्ण ने निर्भीक होकर उत्तर दिया—'देखती नही हो, मै तो चीटी निकाल रहा हूँ।' इस समय गोपिका के कृष्ण पर रीझने-खीझने का चित्र सूर ने इस प्रकार अंकित किया है—

जसुदा कहँ लौं कीजै कानि ।
दिन-प्रति कैसैं सही परति है, दूध-दही की हानि ।
अपने या बालक की करनी, जौ तुम देखौ आनि ।
गोरस खाइ, खवावै लरिकनि, भाजत भाजन भानि ।
मैं अपने मंदिर के कोनैं राख्यो माखन छानि ।
सोई जाइ तिहारैं ढोटा, लीन्हौ है पहिचानि ।
बूझि ग्वालि निज गृह मैं आयौ, नैंकु न संका मानि ।
सूर स्याम यह उतर बनायौ, चींटी काढ़त पानि ।[3]

नरसी ने भी कृष्ण के नटखटपन की लगभग इसी आशय की शिकायत गोपियो से करवाई है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि सूर के कृष्ण जहाँ इतने चतुर हैं कि चीटी काढने का कारण बताकर स्वय को वे निर्दोष बताने का प्रयास करते है वहाँ नरसी के कृष्ण अभी अति सरल एवं नासमझ है। गोपियो द्वारा कृष्ण पर लगाये गये मटकी फोडने, माखन ढोलने और फिर चिटाने के आरोपो को माता निराधार घोषित करके अपने पुत्र का ही पक्ष लेती है। वह कहती है कि

मेरा लाल तो अभी म घर ही म था। यह कब बाहर गया? मेरे घर म भी माखन के बड़े बड़े माट भरे पड़े हैं, फिर क्या यह तुम्हारे यहाँ खाने गया? सूर की गोपियों म यौवन के पीछे जो रीझने का भाव ध्वनित होता है, वह नरसी की गोपांगनाओं म नहीं। सूर की गोपियाँ जहाँ सुगम्य प्रतीत होती हैं वहाँ नरसी की कठोर एव प्रखर। कृष्ण पर दोषारोपण करने का ढग उनका कितना मुखर एव चुनौती भरा है यह यशोदा के इन पदों म ही द्रष्टव्य है—

जसोदा तारा कानुडाने, साद करीने वार रे,
आवडी धूम मचावे व्रजमां, नहीं कोई पुछणहार रे
शीकु तोड्यु गोरस ढोळ्यु उघाडी ने बार रे,
माखण खाधु ढोळी नाख्यु, जान' किधु आ वार रे
घायांघोळां करतो हींडे, बिहे नहीं लगार रे,
मही मथवानी गोळी फोडी, आ शां कहिये लाड रे
वारे वारे कहु छु तमने, हवे न राखु भार रे,
नित उठीने एम कयेम सहिये, वसी नगर मोझार रे
मारो कानजी घरमां हुतो, क्यारे दीठो बहार रे,
दही दूधनां माट भर्यां छ, धीजे चाखे न लगार रे
शाने काजे मळीने आवी, टोळी वळी दश बार रे,
नरसयानो स्वामी साचो, जूठी व्रजनी नार रे[१]

यहाँ 'घायांघोळां करता हांडे' प्रयोग बालक के विशेष निर्भीक व्यापार के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसम वह किसीको खिझाने के लिए दूर भागता हुआ बगल मारता है। इस चेष्टा द्वारा कृष्ण यह प्रकट कर रहे हैं कि उनका अब कोई कुछ नहीं बिगाड सकता है।

नरसी की ही भाँति सूर-साहित्य म भी ऐसे कई चित्र मिलते है जिनम माता कृष्ण की शिकायत करने को आई हुई गोपियों को झिडक देती है। ऐसा ही एक चित्र यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जिसम माता शिकायत करने को आई गोपियों पर रुष्ट हो कर उन्हींको अनेक बातें सुनाने लगती है—

मेरो गोपाल तनक सो, कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावत आवति ग्वारिनि, जीभ करै किन थोरी।
कब सीके चढि माखन खायौ, कब दधि मटुकी फोरी।
अगुरी करि कबहूँ नहिं चाखत, घरही भरी कमोरी।
इतनी सुनत घोष की नारी, रहसि चली मुख मोरी।[२]

दोनों कवियों मे भावसाम्य तुलनीय है।

गोपिकाओं ने किसी भी भाँति चोरी तो सहन कर ली किन्तु कृष्ण का उनको कचुकी खींच

---

१ जान=नुकसान। २ न म का स, पृ ४६०।

३ स० ८ ६११ (इसी संदर्भ म स० ९, प ६१०, ६१२ भी द्रष्टव्य हैं)।

कर फाड देना और फिर गले का हार तोड देना उसके लिए असह्य हो उठा। वह रुष्ट होकर यशोदा के पास पहुँची और कहने लगी—

सुनहु महरि अपने सुत के गुन, कहा कहौं किहि भाँति बनाई।
चोली फारि, हार गहि तोर्यौ, इन बातनि कहौ कौन बड़ाई।
माखन खाइ, खवायौ ग्वालनि, जो उबर्यौ सो दियौ लुढ़ाई।
सुनहु सूर, चोरी, सहि लीन्ही, अब कैसैं सहि जात ढिठाई।[1]

कृष्ण के नटखटपन और ढिठाई की शिकायतो से यशोदा ऊब गई। अत मे उसने पुत्र को समझाने का प्रयत्न किया। उसने अपने कुल की महत्ता, गौरव आदि को लेकर कृष्ण को समझाने का प्रयास किया। दोनो कवियो मे इस प्रसग के पद मिलते है। दोनो मे भाव-साम्य द्रष्टव्य है—

सूर

माखन खात पराए घर कौ।
नित प्रति सहस मथानी मथिए, मेघ-शब्द दधि-माट घमर कौ।
कितने अहिर जियत मेरैं घर, दधि मथि लै बेंचत महि मरकौ।
नवलख धेनु दुहत हैं नित प्रति, बड़ौ नाम है नंद महर कौ।
ताके पूत कहावत हौ तुम, चोरी करत उधारत फरकौ।
सूर स्याम कितनौ खैहौ, दधि-माखन मेरैं जहँ-तहँ ढरकौ।[2]

नरसी

शामळिया पातळिया वाहाला, चोर कहे कां लोक रे;
आपणे घेर वाण कशी नहि, परघेर जावुं फोक रे.
नव लख धेनु दुझे घेर आपणे, कुंवर कशो नहि वांक रे;
आटला दाहडा माखणने काजे, ताहारी रावो लावे रांकरे.
आहां तो चोर वेरे पोढु, कुंवर कशी नहि भूखरे;
कां गोकुळमां वाक कढावे, लेउं नाधडियानुं दुःख रे.[3]

दोनो कवियो ने मातृहृदय की उस वेदना का समान रूप से स्पर्श किया है, जो पुत्र की उद्दण्डता के कारण परिवार के कलकित होने की आशका से त्रस्त है। नरसी की यशोदा कृष्ण के प्रति अपेक्षाकृत अधिक मृदु प्रतीत होती है। कृष्ण के लिए 'पातलिया' एव 'वहाला' प्रयोग इसके प्रमाण है।

माता के इस 'साम' प्रयोग का कृष्ण पर कोई प्रभाव नही पडा। दिन-प्रतिदिन उनकी माखन-चोरी और अन्य उद्दण्डताएँ बढती ही चली गई। माता ने अत मे 'दण्ड' का प्रयोग किया। एक दिन कृष्ण ऊखल से बाँध दिये गये। सूर ने लगभग पचास पदो मे 'ऊखल-प्रसग' का वर्णन किया है, जो यमलार्जुन उद्धार के साथ समाप्त होता है।[4] इसमे माता का कृष्ण के प्रति खीझना, कृष्ण को दण्डित करना, गोपियो का पश्चात्ताप करना और यशोदा से कृष्ण की मुक्ति की प्रार्थना करना, आदि कई वात्सल्य से सबद्ध भावों का सन्निवेश हुआ है। नरसी मे इस प्रसंग का एक

१. सू., प. ६२१ २. सू. प. ६५१। ३. न. म. का. सं., पृ. ५७६। ४. सू., प. ६५६-१००६।

ही पद मिलता है, जिसमे भाव की दृष्टि से सूर की अपेक्षा पर्याप्त अन्तर है। सूर की गोपियाँ जहाँ कृष्ण का बन्धन दशा मे देखकर द्रवित हो उठती हैं और अपने किये पर पछताने लगती हैं तथा यशोदा से उनकी मुक्ति के लिए विनती करती हैं वहाँ नरसी की अल्हड गोपिकाएँ अनेक प्रकार के व्यग्य करती हुई कृष्ण की इस स्थिति पर मुख को घूघट की ओट मे करके भरपेट हँसती हैं—

> गोपीया कृष्ण मिसे आवे,
> जुए तो काहान ऊखले बाध्यो, चतुर चोहोदश भाळ रे
> एक हसे मुख अबर रोधी, गोपी चोहोदशथी आवे रे,
> ए तो न होय रे अमारा मदिरिये, जे करतो मन भावे रे
> एक कहे छोडावु रे हवडा, कह्यू हमारु माने रे,
> वगर कहे जशोदाजी ने मदिर, माखण खाधु शाने रे
> एक कहे तमे शाने कहा छो, ए बधाणो कोई रे,[1]

किन्तु इसके विपरीत सूर की गोपिकाएँ पर्याप्त सहृदया हैं। वे कृष्ण को दडित होते देखकर द्रवित हो जाती हैं और कठोर व्यवहार करने पर बदले मे यशोदा को ही खिजने लगती हैं—

> (अ) जसुदा तोहिँ बाधि क्यों आयौ।
> कसक्यौ नाहिँ नैकु मन तेरो यहै कोखि को जायौ।[2]
> (आ) कहौ तौ माखन ल्यावैं घर तैं।
> जा कारन तू छोरति नाहीँ, लकुट न डारति करतैं।
> सुनहु महरि ऐसी न बूझिय, सकुचि गयौ मुख डरतैं।
> ज्यौं जलरुह ससि रस्मि पाइ कै, फूलत नाहिं न सर तैं।[3]
> (इ) साँटी देखि ग्वालि पछितानी, बिकल भई जहँ तहँ मुख मोर।[4]

डर के कारण कृष्ण का मुख ऐसा मुड़ा गया है जैसे चन्द्र किरणों का स्पर्श पा कर कमल सकुचित हो जाता है। इस प्रकार का स्वाभाविक वर्णन नरसी मे उपलब्ध नहीं होता है।

४—गोचारण

कृष्ण के बाल जीवन मे 'गोचारण' का पर्याप्त महत्त्व है। सूर ने अपनी प्रतिभा से इस प्रसग को भागवत से भी अधिक रम्यता प्रदान की है जिसमे उन्होंने कृष्ण के गोचारण के लिए वन गमन करना, मित्रों के साथ क्रीडाएँ करने, छाक आरोगन तथा गोधूलि वेला मे श्रान्त एव धूलि धूसरित कृष्ण के पुन व्रज की ओर प्रयाण करने जैसे अनेक भावपूर्ण चित्र अंकित किये हैं। अन्य प्रसगो की भाति सूर ने इस प्रसग की भी क्रमिक योजना की है। मुक्तक गेय पदों मे भी वर्णन की एक स्वाभाविक क्रमिकता विद्यमान है। भाव-वैविध्य की दृष्टि से भी सूर का यह प्रसग नरसी की अपेक्षा अधिक मौलिक एव प्रभावोत्पादक है।

सूर का यह प्रसग कृष्ण का 'आजु मैं गाइ चरावन जैहौं' के बाल हठ से प्रारभ होता है। माता यशोदा से 'वदन-कमल' के 'मुरझा' जाने का भीति बताकर कृष्ण को वन मे जाने से रोकना

---
१ न म का स, पृ० ४७८। २ सू० प० ९९२। ३ सू०, प० ९७०। ४ सू०, प० ९९२।

चाहती है, पर कृष्ण अपना हठ पूरा करके ही छोडते है। इसी प्रसग के अन्तर्गत अन्तर्कथा के रूप मे सूर ने 'बकासुर-वध', 'अघासुर-वध', 'ब्रह्मा-बालक-वत्स हरण' आदि प्रसगो पर भी अनेक पद लिखे है, किन्तु नरसी मे कही इनका स्वल्पाश मे भी निर्देश नही मिलता है। नरसी का एक पद ऐसा मिलता है, जिसमे कस तथा अन्य सभी असुरो का वध बताकर कृष्ण का यदुकुल के साथ द्वारका-प्रयाण का वर्णन किया गया है, किन्तु यह गोचारण प्रसग से सबद्ध पद नही है।[1]

नरसी-साहित्य मे गोचारण प्रसग के स्वल्प पद मिलते है, जिनकी भाव-योजना सूर से पर्याप्त साम्य रखती है। कृष्ण को गोचारण के लिए जगाने के दोनो के वर्णन मे भाव की दृष्टि से अद्भुत माम्य है। इस प्रसग मे माता के मृदु वात्सल्य का दोनो कवियो ने समान रूप से अकन किया है—

सूर

(अ) प्रात भयौ उठि देखिए किरनि उज्यारे।
ग्वाल-बाल सब टेरहीं गैया बन चारन।
लाल उठौ मुख धोइऐ, लागी बदन उघारन।[2]

(आ) बदन पौंछियौ जल जमुन सौं धोइकै, कह्यौ
मुसकाइ कछु खाहु ताता।
दूध औट्यौ आनि अधिक मिसरी सानि,
लेहु माखन पानि दाति प्राणदाता।[3]

नरसी

जागने जादवा, कृष्ण गोवाळिया, तुज विना धेनमां कुण जाशे?
त्रणसे ने साठ गोवाळ टोळे मळ्या, वडोरे गोवाळियो कुण थाशे?
दहितणां दैथरां, घीतणां घेवरां, कढियल दूध ते कुण पीशे?
हरि तार्यो हाथियो, काळिनाग नाथियो, भूमिनो भार ते कुण लेशे?
जमुना ने तीरे, गौधण चरावतां, मधुरीसी मुरली कुण वहाशे?

० ० ० ०

वारणा बाहार बळिभद्र उभा रह्या, जोरे वाहाला तारी वाट जोये;
नरसैंना स्वामिनुं, मूखडुं दीठडे, मातानुं मनडुं अतिरे मौहे.[4]

सूर का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है। नरसी का माता के वात्सल्य के साथ कृष्ण के लोकोत्तर चरित का समन्वय करना रसास्वादन में एक दृष्टि से बाधा ही पहुँचाता है, क्योकि मानवीय भावो के साथ लोकोत्तर भावो का मिश्रण रस की दृष्टि से उचित नही माना गया है। किन्तु भक्ति-साहित्य मे भक्त स्वभावत अपने इष्ट देव के अलौकिक रूप का जहाँ-तहाँ सन्निवेश करता ही रहता है, जिससे उसके काव्य के मुख्य प्रतिपाद्य भक्ति के माहात्म्य का वातावरण बना रहता है तथा साथ ही लौकिक भावो के साथ अलौकिक भाव की अन्विति से पाठक के मन में एक प्रकार की रहस्यात्मक विलक्षण अनुभूति भी बनी रहती है। इस भाँति लौकिक भावो के

१. न. म का. सं., पृ० ४३४—४३५। २. सू०, प० १०५७। ३ सू०, प० १०५८।
४. न म. का सं., पृ० ४७५-४७६।

साथ अलौकिक व्यापारो के समन्वय से जो कुछ रस-क्षति होती है दूसरे रूप मे उसकी पूर्ति हो जाती है।

छाक-प्रसग

वन मे छाक आरोगने का वर्णन सूर ने कई पदो मे किया है। इस प्रसग के नरसी मे कुछ पद मिलते है। कृष्ण वन मे सखाओ के साथ छाक आरोगते समय दूसरो के हाथ से कौर छीन कर खा जाते हैं और कभी अपना षडरस निष्पन्न भोजन छोडकर दूसरो के पास से उनके उच्छिष्ट की याचना करते हैं। इसी प्रकार की कई लीलाएँ इस प्रसग मे आती हैं। दोनो कवियो ने प्राय इसी प्रकार की कृष्ण की चेष्टाओ एव क्रिया कलापो का वर्णन किया है। उदाहरणार्थ दोनो के कुछ पदो की पक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जाती है—

सूर

ग्वालनि कर तै कौर छुड़ावत।
जूठो लेत सबनि के मुख को अपनै मुख लै नावत।
षटरस के पकवान धरे सब, तिनमै रुचि नहिँ लावत।
हा हा करि-करि माँगि लेत हैँ, कहत मोहिँ अतिभावत।[1]

नरसी

(अ) जोरे बाई गोवालडीमा करमळडो जमे रे,
जगत कर ते त्या आहिरडामा रमे रे[2]

(आ) कृष्ण आरोगे रुडो करमदो, आहीरडानो साथ
चाखे ने चखवे जुवे, वहालो पीए पीवडावे छीर,
जमी जमाडी पोते जमे हरि हळधर केरो वीर
बमणु ते ले वहालो वेंहेचता, ततक्षण आरोगी जाय,
जेनु देखे वहालो वाधतु, तेनु पडावी खाय[3]

गोचारण के पश्चात वन से ब्रज को लौटने के कई चित्र सूर ने अकित किए हैं जिनमे यशोदा का कृष्ण की प्रतीक्षा में अधीर होना, कृष्ण को दूर से ही आते देख कर माता का दौडकर पुत्र को गले लगाना आदि वात्सल्य के अनेक भावो को सूर ने अपने पदो मे बडी सूक्ष्म दृष्टि से सन्निवेश किया है। इसी प्रसग से सबद्ध सूर का एक पद यहाँ प्रस्तुत किया जाता है जिसमे एक सूत्र मे अनेक मणियो की भाँति विविध भाव-सुमनो को कवि ने बडे कलात्मक ढग से गुम्फन किया है—

आजु बने बन तै ब्रज आवत।
नाना रग सुमन की माला, नद-नँदन उर पर छबि पावत।
सग गोप-गोधन गन लीन्हे, नाना गति कौतुक उपजावत।
कोउ गावत, कोउ नृत्य करत, कोउ उघटत, कोउ करताल बजावत।
राँभति गाइ बच्छ हित सुधि करि, प्रेम उमँगि थन दूध चुवावत।

---

१ सू०, प० १०८६। २ न म का स, पृ ४८०। ३ न म का स, पृ ४४४।

जसुमति बोलि उठी हरषित ह्वै, कान्हा धेनु चराए आवत ।
इतनी कहत आइ गए मोहन, जननी दौरि हिए लै लावत ।
सूर स्याम के कृत्य, जसोमति, ग्वाल-बाल कहि प्रगट सुनावत ।[1]

यद्यपि नरसी ने भी मातृ-वात्सल्य का चित्र इसी भाँति अंकित किया है तथापि उसमे लौकिक भावो के साथ कृष्ण के अतिमानवीय रूप के समन्वय की वृत्ति अपेक्षाकृत अधिक होने के कारण यहाँ भी पूर्व की भाँति वात्सल्य के साथ अन्य भावो का भी समन्वय हो गया है। माता यशोदा धूलि-धूसरित उस मुख को अपने हृदय से लगा रही है, जिसको देखकर यमराज भी काँप उठता है—

वदन सकुमळ जननी जायो, करपलवे गौरज मुखलो'यो;
जे मुख दीठे रविसुत कंपे, ते मुख जसोदाजी रुदयासु चंपे.[2]

गो-दोहन-प्रसंग

इस प्रसग के पद दोनो कवियो मे मिलते है। अन्य लीलाओ की भाँति सूर ने इस लीला मे भी विविध भावो का गुफन किया है। कृष्ण गो-दोहन करने को बैठी गोपिका से गाय दूहना सीखते है[3] और इसके पश्चात् वे स्वल्प काल मे ही इस कला मे इतने प्रवीण हो जाते है कि पास मे खडी प्यारी को भी दुग्धधार से छीट देते है, जिससे राधा ही नही किन्तु पास खडी अन्य सखियाँ भी काम-विह्वल हो जाती है—

धेनु दुहत अतिहीं रति बाढ़ी ।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी ।
मोहन-कर तैं धार चलति, परि मोहनि-मुख अति हीं छबि गाढ़ी ।
मनु जलधर जलधार वृष्टि-लघु, पुनि पुनि प्रेमचंद पर बाढ़ी ।
सखी सग की निरखतिं यह छबि भइँ व्याकुल मन्मथ की डाढी ।[4]

इस आशय का नरसी मे एक ही पद उपलब्ध होता है जो भाव की दृष्टि से पर्याप्त भिन्न है। एक ज्ञात-यौवना गोपिका गाय दूहने के मिस कृष्ण के सान्निध्य का लाभ प्राप्त करना चाहती है। वह कृष्ण के समक्ष इस प्रकार अपनी कामना प्रकट करती है—

लगारेक नंदना छोरा, आवनी मारी गावडी दोवा.
गावडी मारी तुजने हेरी, तुजने दोहवा दे;
महिनो टको जे जोइए ते, पेहेलो हाथ मां ले.
आवडु कहेवुं न पडे, पोतानां जाणी जोई;
गाममा सहु सगुं छे, तुज सरखुं न कोई.
घेर मारां छोकरां साथे, तुजने खावानु आलुं;
मोहन माळा जो गमे तो, कानजी गळे घालुं.

० ० ०

आज मारे एटलुं पड्यु, तुज सरीखडुं काम.
मनमां छे ते मनडु जाणे, मोढे कह्यो शुं थाय.[5]

---

१. सू०, प १०६८। २. न म. का. स., पृ. ५०१। ३ सू०, प. १०१८। ४. सू०, प. १३५४।
५ न म. का. सं, पृ ५८२, ५८३।

यद्यपि दोनो कवियो ने गो-दोहन प्रसग के उपयु क्त पदो म मधुर रति के ही भावो का सन्निवेश किया है तथापि सूर का भाव निरूपण अपेक्षाकृत अधिक प्रभावोत्पादक है। सूर हृय जहाँ भाव मग्न कर देते है वहाँ नरसी का पद कोरा वणनात्मक लगता है।

५—नद-यशोदा

अपत्य-स्नेह मानव ही नहा अपितु प्राणिमात्र म विद्यमान है। इसका आवेग अन्य आवेगो से अधिक प्रबल माना गया है। सतान के रूप गुण, हाव भाव, चेष्टाएँ तथा क्रियाकलाप माता पिता के लिए सब स अधिक प्रिय है। वल्लभ सप्रदाय म भगवान कृष्ण के बालरूप का सर्वाधिक माहात्म्य होने के कारण सभी कृष्ण भक्त कवियो ने अपत्य-स्नेह के भावो का अपने काव्य म बडा भाव पूर्ण निरूपण किया है। यद्यपि नरसी ने भी अपत्य स्नेह के भावो की यशोदा द्वारा अभिव्यजना करवाई है तथापि सूर के जितनी सूक्ष्म एव विशद भावाभिव्यक्ति उनम नही हो पाई है। अपत्य-स्नेह के सयोग एव वियोग दोनो के सूक्ष्म से सूक्ष्म भावो की अभिव्यक्ति सूर ने मुख्यत यशोदा के द्वारा ही करवाइ है। सूर की यशोदा को लक्र डा हजारीप्रसाद द्विवेदी कहते है 'यशोदा के वात्सल्य मे वह सब कुछ है जो 'माता शब्द को इतना महिमाशाली बनाय है।'[1] वास्तव म सूर ने यशोदा के द्वारा अपत्य भावो की सूक्ष्म अभिव्यक्ति तथा उसके द्वारा मातत्व का जो भाव लखन करवाया है वह अखिल विश्व के मातत्व का प्रतिनिधित्व करनेवाला है।

नरसी ने यशोदा के वात्सल्य के अतिरिक्त देवकी के आहत अपत्य का जिस सहृदयता म स्पर्श किया है, वह समूचे कृष्ण-साहित्य म विरल है। पुत्र से वियुक्त होने के समय देवकी हृदय द्रावक रुदन करती है। एक ओर उस 'पापी' कस का भय है तो दूसरी ओर पुत्र वियोग की असह्य व्यथा। देवकी की ही भाँति वसुदेव की मन स्थिति भी पुत्र वियोग के समय बडी करुण हो उठती है। वे पुत्र को अपने हाथो पर लेकर अतीव करुण रुदन करते हैं। देवकी एव वसुदेव की इस द्वद्वात्मक मनोदशा का चित्रण नरसी ने इस भाँति किया है[2]—

(अ) दो दुखे दाझी माता तमारी, दुख दमोया छे तात तमारो रे,
पापीनो भ भाग्यो पुत्र वळावु छु, घणु दाझे जीव हमारो रे
पर घर पुत्र ने कोई न वळावे, जेना माता होय मुई रे,
० ० ०
पुत्रने आपी माता आसुडा ढाळे, पुत्र छली अरज हमारी रे[3]

(आ) कुँवर लेइ वसुदेव चाल्या, पुत्र सोंब हमारे घर वासु रे,
पापी मामा तमने मारसे, एम कही ढाळ्या आसु रे[4]

'सूरसागर' म देवकी एव वसुदेव के चित्रण म इस प्रकार के भावो की अभिव्यक्ति नहा हो पाई है। वहा पुत्र के सकट का विचार करते ही देवकी मूर्च्छित हो जाती है और कृष्ण अपने चतुर्भुज रूप का दर्शन देकर माता का पूर्ण आश्वस्त करते हैं। इस भाँति माता का दुख सुख म परिवर्तित हो जाता है—

अति दुख म सुख ब दिनु मातहिं, सूरज प्रभु नँद भवन सिधारे।

१ सूरसाहित्य, पृ १२० १२१। २ न म का स, पृ ४२०। ३ न म का स, पृ ८३।
४ सू०, पृ ६२८।

यहाँ विशेष रूप मे यह उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है कि नरसी मे वियोग-वात्सल्य की अभिव्यक्ति उपर्युक्त चार-छ. पक्तियो के अतिरिक्त अन्य कही भी नही हो पाई है।

सूर ने 'सूरसागर' मे स्थान-स्थान पर यशोदा के वात्सल्य-सिक्त भावो की प्रभाव-पूर्ण अभिव्यजना की है, जिससे यह प्रतीत होता है मानो उनके जीवन का प्रत्येक क्षण कृष्ण के वात्सल्य मे निमग्न है। कृष्ण के मथुरा-प्रयाण करने के समय तथा मथुरा से नद के अकेले लौट आने के अवसर पर सूर ने यशोदा के द्वारा जो वियोग-वात्सल्य के भाव अभिव्यजित करवाये है, वे मर्मान्तक होने के साथ-साथ हृदय को द्रवित कर देनेवाले भी हैं। कृष्ण के मथुरा-गमन के समय की यशोदा की विह्वलावस्था का चित्र सूर ने इस प्रकार अकित किया है—

गोपाल राई किहिं अवलवन रहि हैं प्रान ।

o o o

जिहिं मुख तात कहत ब्रजपति सौं, मोहिं कहत है माइ ।
तेहिं मुख चलन सुनत जीवति हौं, बधि सौं कहा बसाइ ।
को कर कमल मथानी धरि है, को माखन अरि खै है ।

o o o

हौं बलि बलि इन चरन कमल की, ह्याईं रहौ कन्हाई ।
सूरदास अवलोकि जसोदा, धरनि परी मुरझाई ।[1]

यशोदा के आहत मातृत्व की प्रचडता का हमे वहाँ दर्शन प्राप्त होता है जहाँ वह कृष्ण-बलराम को मथुरा छोडकर नद के अकेले ही चले आने पर क्रुद्ध सिंहिनी की भाँति अपने पत्नीत्व की समस्त मर्यादाओ को भूल कर दहाड उठती है—

(अ) उलटि पग कैसैं दीन्हौ नंद ।
छाँड़े कहाँ उभै सुत मोहन, धिक जीवन मति मंद ।
कैं तुम धन-जोवन मद माते, कै छूटे वद ।[2]

(आ) यह मति नंद तोहिं क्यौं छाजी ।
हरि-रस विकल भयौ नहिं तिहिं छन, कपट कठोर कछू नहिं लाजी ।
राम-कृष्ण तजि गोकुल आए छतियाँ क्षोभ रही क्यौं साजी ।[3]

सूर की इसी वियुक्ता यशोदा के सबध मे डा हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते है, "पुत्र-वियोगिनी यशोदा वह माता है, जो प्रेम की असीम उपलब्धि से पूर्ण है।"[4]

इस प्रकार दोनो कवियो के वात्सल्य भावो पर दृष्टिपात करने के पश्चात् यहाँ अब उनके शृगारलीला के भावो पर विचार किया जा रहा है।

(आ) शृंगार भाव (संभोग)

शृंगारलीला

नरसी शृगार के ही कवि है। उनके आत्म-परक काव्यो तथा बाललीला एव भक्ति-ज्ञान के कुछ स्फुट पदो के अतिरिक्त शेष समस्त साहित्य राधा, कृष्ण एव गोपियो की मधुर लीलाओ

---

१ सू०, प ६५९२। २ सू०, प ३७४८। ३ सू०, प. ३७५१। ४. सू. सा, ह०, पृ १२०।

से ही सबद्ध है, जिसमे उनकी रास, दान, पनघट, हिंडोला, वसत आदि लीलाओ के प्रचुर पद विद्यमान है।

सूर के शृगार के सबध मे कहा जाता है कि उन्होने इसे रस राजत्व प्रदान किया है। उनके शृगार के भाव अपने एक स्वाभाविक क्रम मे पुष्ट हो कर विकास की पूर्ण दशा तक पहुँचे हैं। गोपियो के साथ कृष्ण का मधुर भाव जीवन के प्रभात से ही विकसित होकर सभोग की विविध लीलाओ मे शनै शनै पुष्ट होकर अत मे विप्रलभ की आँच मे निखर कर परमोज्ज्वलता प्राप्त करता है। गोपिया उद्धव से कहती है —

लरिकाई को प्रेम कहो अलि कैसे छूटै।[1]

तात्पर्य यह कि गोपियो का कृष्ण के प्रति प्रगाढ प्रेमाकर्षण घन विद्युत की भाँति सहसा चमक कर विलीन होनेवाला नही किन्तु शुक्ल-पक्ष की कला की भाँति क्रमश अभिवर्द्धित होने वाला है। आचार्य शुक्लजी कहते हैं "इस प्रेम को हम जीवनोत्सव के रूप मे पाते है सहसा उठ खडे हुए तूफान या मानसिक विप्लव के रूप मे नही।"[2]

यद्यपि नरसी प्रमुख रूप से शृगार के ही कवि हैं तथापि उन्होने सूर की भाँति राधा-कृष्ण एव गोपियो के प्रेम विकास का क्रमश निरूपण नही किया है। सूर के शृगार की सबसे बडी विशेषता यही है कि उन्होने इसे एक मनोवैज्ञानिक क्रम से परिपुष्ट कर विकास के चरमबिन्दु तक पहुँचाया है। इसके अतिरिक्त नरसी ने सभोग के भावो एव व्यापारो का जितना विशद चित्रण किया है उतना विप्रलभ के भावो का नही। उनका सभोग जितना पुष्ट है उतना विप्रलभ नही।

शृगार की स्थूलता को लेकर विचार किया जाए तो दोनो मे विपरीत रति, जार प्रेम आदि के अमर्यादित भाव प्राय समान रूप से उपलब्ध होते हैं किन्तु प्रमाण की दृष्टि से देखा जाए तो नरसी अपेक्षाकृत आगे हैं क्योकि सूर के खडिता प्रकरणो मे जहाँ स्थूल भावो की आवृत्ति प्रसग के तारतम्य के कारण अपेक्षाकृत कम हुई है वहाँ नरसी के पदो मे स्थान-स्थान पर यह प्रवृत्ति देखी जाती है। 'शृगारमाळा' का अधिकाश पदो का विषय अमर्यादित भावो का चित्रण ही है।

दोनो की उपर्युक्त विशेषताओ को दृष्टि समक्ष रखकर सभोग एव विप्रलभ के प्रभावपूर्ण प्रसगो तथा उनके अतर्गत आनेवाले भावपूर्ण स्थलो के आधार पर यहाँ विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

६—रासलीला

रासलीला के आध्यात्मिक पक्ष पर पहले विचार किया जा चुका है। यह ह्लादिनी शक्ति राधा तथा गोपियो के साथ होनेवाली भगवान की नित्यानित्य क्रीडा है। भगवान् के नित्य धाम मे यह निरन्तर हुआ करती है और उनकी कृपा से उनके कृपापात्रो के हितार्थ नित्यधाम के साथ ही भूमण्डल पर भी अवतीर्ण होती है। इसमे वशी ध्वनि, गोपियो के अभिसार, रास नृत्य, जलकेलि, वनविहार आदि प्रसगो का समावेश होता है। इस नित्य एव अलौकिक भावो का

---

[1] भ्रमरगीतसार, पृ २०। [2] सूरदास, पृ १६१।

कवियो ने लौकिक वाणी मे चित्रण किया है। इसीलिए मानवजन्य दु ख, उल्लास, विरह, चिन्ता, विपाद जैसे लौकिक आवेगो का इसमे समन्वय हो गया है।

पूर्णचन्द्रमयी शरद-रात्रि मे कृष्ण गोपियो के आह्वान के लिए वेणु-वादन करते है। नाद-श्रवण करते ही गोपियाँ अतीव भाव-विह्वल हो जाती है। वे शीघ्र पति आदि की मर्यादाओ का भग करके कृष्ण के पास दौड पडती हैं। गोपियाँ प्रेमोन्माद मे इतनी उन्मत्त हो उठती है कि वे वस्त्राभूषण तक स्थानान्तर पर धारण कर लेती है। दोनो कवियो ने गोपियो की प्रेमजन्य उत्सुकता एव उत्कटता के अतिरेक का चित्रण किया है—

सूर

करत शृंगार जुवती भुलाहीं।
अग-सुधि नहीं, उलटे बसन धारहीं, एक एकहिं कछू सुरति नाहीं।
नैन अंजन अधर आँजहीं हरप सौं, स्रवन ताटक उलटे सँवारैं ॥
सूर-प्रभु मुख ललित वेनु धुनि, वन सुनत, चलीं बेहाल अचल न धारैं [1]

नरसी

छानी केम रहूं? वनि वेणु वागे;
सांभळतां अङ्गे अनङ्ग जागे.
कानना कुण्डल पांउले घाली;
व्रेहनी वेंधी गोपी वनि चाली.
व्रेहनी छाराए विट्ठलो पामी. [2]

यहाँ दोनो कवियो ने प्रेमातिरेक को प्रकट करनेवाले 'विभ्रम' का निरूपण किया है, जिसमे प्रियतम के मिलन आदि की सभावना से उत्पन्न हर्प और अनुराग आदि के कारण शीघ्रता मे भूपणादि स्थानान्तर पर धारण कर लिये जाते है। काव्यशास्त्र के अनुसार इसका 'स्वभावज अलकार' के अन्तर्गत समावेश किया जाता है।

गोपियो को अर्धरात्रि मे सहसा बाहर निकलते देखकर माता-पिता आदि गुरुजन उन्हे इस अनुचित कार्य के लिए वारित करते है। सूर की गोपियाँ माता-पिता आदि द्वारा निवारित होने पर भी भाद्रपद के प्रमत्त जल-प्रवाह की भाँति कृष्ण से मिलने दौड पडती है—

जननी कहति दई की घाली, काहे कौं इतराति।
मानति नहीं और रिस पावति, निकसी नातौ तोरि।
जैसैं जल-प्रवाह भादौं कौ, सो को सकै वहोरि ॥ [3]

गोपिकाओ के कृष्ण के प्रति तीव्र प्रेमभाव की अभिव्यजना मे सूर ने यहाँ उत्कठा एव औत्सुक्य सचारियो का स्वाभाविक सन्निवेश किया है।

नरसी की एक गोपिका पर मुरली-नाद का ऐसा मादक प्रभाव पडा है कि कृष्ण के अतिरिक्त उसे कुछ भी नही सूझ रहा है। वह कृष्ण के पास जाने को एक दम निकल पडती है। माता जब

---

१ सू०, प. १६१६। २ रा स. प., के का. शास्त्री, पृ ३। ३. सू०, प. १६२१।

उसे इस प्रवृत्ति के लिए निषेध करती है तब वह निडरतापूर्वक कृष्ण के पास जाने का अपना दृढ़ निश्चय इस प्रकार प्रकट करती है—

वारिश मा, माता ! तू मुझने, नन्द तणो सुत नाथ मजू
° ° °
धनि धनि रे सहेली पेली, खले हरिशु रास रमे
हसतू मुख हरजीनू देखी मरक्लडे भव ताप शमे
भाडो मांथ को दिद्ध रे माता ! जावा दि जदुनाय मणी
रङ्ग भरि रास रमे राधावर, सखी समाणी स्यतिम घणी
लोक विहिया ते सहू मे सिहिगू, दुरिजन शिय शावा पाए
नरसयाचा स्वामी सङ्गि रमतां (माहरि) मङ्गि उलटय नव्य भाए[1]

सूर की गोपिकाएँ इस भाँति प्रगल्भा नहीं कि वे माता के सम्मुख कृष्ण मिलन के सभोग परक भावों का निःसंकोच होकर वर्णन करें। नरसी के उपर्युक्त पद में भी उत्कंठा एवं औत्सुक्य के भाव विद्यमान हैं, किन्तु सूर के जितनी भाद्रपद-जल प्रवाह जैसी तीव्रता का उनमें सर्वथा अभाव है।

वंशी ध्वनि के श्रवण से उत्पन्न गोपियों के उन्मत्त भाव का नरसी ने कई रूपों में वर्णन किया है। कोई गोपिका वंशी रव सुनते ही अपने घर का काम-काज भूल जाती है तो कोई कृष्ण, कृष्ण करती हुई वृन्दावन की ओर दौड़ पड़ती है कोई व्याकुल हो उठी है तो कोई रूप विह्वल—

(अ) काम काज वीसर्यां, ज्या सौ, वाहो वाहलि वासलडी रे[2]

(आ) कान्हड कान्हड करती हींडे वृन्दावन मां गोपी रे
मुरली नादे नाथ नीसरी कुटुंब लज्जा लोपी रे
शरद रैण्य सोहामण्य सुंदर रुडो आसो मास रे
वेण्य वजाडी विट्ठल करीनि रङ्ग भय रमिवा रास रे
मनडू व्याकुल वनिता केरु, नादे हरियां मन्न रे
भूषण-वस्त्रो भूली भामिनी, वासलीइ हयु तन्न रे[3]

इस प्रकार नरसी ने विविध रूपों में गोपिकाओं की उन्मत्त स्थिति का वर्णन किया है।

मुरली-नाद में सूर की प्रत्येक गोपिका स्वतन्त्र रूप से अपने नाम की ध्वनि सुनती है—

नाम लै लै सकल गोप-कन्यानि के सबनि कैं स्रवन यह धुनि सुनाई।[4]

वेणुनाद के श्रवण के साथ ही गोपांगनाओं के मन पर उसकी जो प्रतिक्रिया होती है, उससे यह स्पष्ट होता है कि जहाँ सूर की गोपिकाएँ प्रायः भावविह्वल एवं उत्कंठित हैं वहाँ नरसी की प्रगल्भाएँ। मुरली-नाद सुनते ही नरसी की एक मुखर गोपिका अपने हृदय की कामना प्रकट करती हुई कहती है कि अब वह अपने सुंदर वर के साथ एकांत में बैठकर अधर-सुधारस पान करेगा

१ रा स प, के का शास्त्री, पृ २। २ रा स प, के का शास्त्री, पृ २।
३ रा स प, के का शास्त्री, पृ २। ४ सू०, प १६०६।

और उन्हे हृदय पर धारण करेगी। इस प्रकार की प्रगलभता एव मुखरता सूर के रास-प्रसग मे कही भी उपलब्ध नही होती है—

चालो सहिग्रर! सामटी ग्रापण्य सुन्दर वरने जोइइ रे.
एकलडा एकान्त्य म्यलीने कांइक काहर्नाने कहीइ रे.
वृन्दावनमां वाहला साथ्यें रंग भर्य रेणी रमीइ रे.
ग्रधर-सुधारस-पान करीने वाहलु उरपर्य धरीइ रे.[१]

सूर ने वशी का प्रभाव जड-चेतन समस्त पदार्थो पर व्यापक रूप मे बताया है। सुर-नर-नाग सभी वशी की ध्वनि से मोहित हो गए है, यमुना का प्रवाह स्तभित हो गया है, पवन मुरझा गया है, चन्द्र की गति भी रुक गई है एव लता-वृक्ष ग्रादि सभी पुलकित हो उठे है—

सुनहु हरि मुरली मधुर बजाई।
मोहे सुर-नर-नाग निरंतर, ब्रज-वनिता उठि धाई॥
जमुना-नीर-प्रवाह थकित भयौ, पवन रह्यौ मुरझाई।
खग-मृग-मीन ग्रधीन भए सब, ग्रपनी गति बिसराई॥
द्रुम, बेली ग्रनुराग-पुलक तनु, ससि थक्यौ निसि न घटाई॥[२]

कृष्ण के पास पहुँच कर गोपियाँ परम ग्राश्वस्त हुईं किन्तु कृष्ण ने कौतुकवश गोपियो को उनके इस ग्रनुचित व्यवहार के लिए झिडकना प्रारभ किया। कृष्ण के इस ग्रप्रत्याशित व्यवहार से गोपियाँ स्तब्ध हो गईं। उनका हर्ष क्षण भर मे विपाद के रूप मे परिवर्तित हो गया। हर्प एव विषाद दोनो सचारी भाव एक दूसरे से प्रतिकूल परिस्थितियो मे ही उत्पन्न होते है। हर्ष जहाँ इष्टप्राप्ति, ग्रभीष्टजन के समागम तथा रोमाचादि ग्रनुभावो के द्वारा प्रकट होता है, वहाँ विपाद ग्रारभ किए गए कार्य मे ग्रसफल होने की स्थिति मे उत्पन्न होता है। दीर्घ श्वासो-च्छ्वास, सन्ताप ग्रादि इसके ग्रनुभाव है। सूर एव नरसी दोनो कवियो ने गोपियो की इस विचित्र मनोदशा का चित्रण किया है। दोनो ने सर्वप्रथम गोपियो की हर्प-दशा का वर्णन किया है, जिसमे कृष्ण-चन्द्र के दर्शन प्राप्त करते ही गोपिकाएँ कुमुदिनी की भाँति खिल उठती है—

सूर

देखि स्याम मन हरष बढायौ।
तैसियै सरद-चाँदनी निर्मल, तैसोइ रास रग उपजायौ॥[३]

नरसी

प्रेमदा प्रेम भराणी रे, चित्य चाल्यूं म्यलिवाने.
मोहन-वासलड़ी वेंधाणी रे, चित्य चाल्यूं म्यलिवाने.
जोबनमाती हरिगुणगाती, चाली मान्यनी रंगे रे.
श्यामलिग्रानू वदन निहाली, फूली ग्रंगो ग्रंगे रे,
वाहलां केरां वचन सुणी ने, वनिता वचन प्रकाशे रे.
नरसैंयो प्रभु माहलि ग्रमशूं, ग्रावी एणी ग्राशे रे.[४]

---

१ रा स प, के का शास्त्री, पृ १, २। २ सू०, प. १६०८। ३ सू०, प १६२८।
४. रा स प, के का शास्त्री, पृ ४।

किन्तु इसके पश्चात कृष्ण गोपियों को उनके अनुचित व्यवहार के लिए झिड़क देते हैं एवं पुनः अपने अपने घर लौट जाने का आदेश देते हैं। गोपियाँ कृष्ण के इस प्रकार के प्रतिकूल व्यवहार से अतीव कातर हो उठती हैं। वे कृष्ण को ही अपना आधार एवं सर्वस्व घोषित करती हैं और कहती हैं कि तुमसे वियुक्त होकर तो हम जीना भी नहीं चाहेंगी—

भवन नहीं अब जाहिं कन्हाई।

*　　*　　*

तुम बिछुरत जीवन राखै धिक, कह्यौ न आपु बिचारा॥
धिक यह लाज विमुख की संगति, धनि जीवन तुम हेत।
धिक माता, धिक पिता, गेह धिक धिक सुत-पति को चेत॥

कृष्ण के अप्रत्याशित व्यवहार का नरसी की गोपियों पर इतना प्रतिकूल प्रभाव पड़ा कि उनके नाम पर वे प्राणोत्सर्ग करने को भी प्रस्तुत हो जाती हैं—

मोहन केरां वचन सुणी ने नीचू जोयू बाली रे
मुखि आंगुल्य ने मन्य विमासे 'आ'शु किहि वनमाली रे?
गद गद कण्ठे वचन प्रकाशे 'सांभळु देव मुरारि रे
भूधर! अमने नहीं भजो तो तिजिशु देह अह्यारी रे'

यहाँ विषाद संचारी एवं स्वरभंग सात्विक भाव का भावपूर्ण निरूपण हुआ है। साथ ही गोपिका का कृष्ण के विचित्र व्यवहार से चकित हो कर मुख में अंगुली डालना बड़ा ही स्वाभाविक अनुभाव है।

कृष्ण के अभाव में जीवन की निरर्थकता के भाव दोनों कवियों में लगभग समान ही हैं। इसके पश्चात् सूर की गोपिकाएँ जहाँ कृष्ण को निष्ठुर एवं कठोर वचनों से उपालंभित कर चुप हो जाती हैं' वहाँ नरसी की गोपिकाएँ अर्धरात्रि में निर्जन वन प्रदेश में बुलाने का दोष कृष्ण पर ही आरोपित करती हैं—

सूर

(अ) तजो नँदलाल अति निठुराई।
(आ) क्यों तुम निठुर नाम प्रगटायौ।'

नरसी

श्या माटे, श्यामलिया वाहला! सान करीने तेडी रे
व्याकुल थ वनिता सौ अङ्ग वेण्य वजाडी रूडी रे
आणी वेला मध रात्ये अह्यो परहरियो परिवार रे,
सामा आल चलाव्या अह्यने निलज्ज नंदकुमार रे'

१ सू०, प १६४२। २ रा म प, के का शास्त्री, पृ १२। ३ सू०, प १६४७। ४ सू०, प १६४८। ५ सू०, प १६४७। ६ रा स प, के का शास्त्री, पृ ४।

वे कहती है कि हमने सुत-पति-कुल-मर्यादा-माता-पिता आदि का त्याग तुम्हारे ही लिए किया है, ऐसी स्थिति मे तुम्हारी यह उपेक्षा सर्वथा लोकाचार विरुद्ध है—

सुतने मेहली पतिने मेहली, मेहली कुल मरजाद;
मात-पिता वीसर्या मोहन, एकल तुझने काज्य.[१]

किन्तु इसके विपरीत सूर की गोपियो मे जो अपने प्रियतम कृष्ण के प्रति एकनिष्ठता एव अनन्यता मिलती है वह अन्यत्र विरल है। वे कृष्ण द्वारा उपेक्षित होने पर भी वारवार यही कहती है कि कृष्ण तुम्हारे विना व्रज मे हमारा कोई हितेच्छु नही है, कौन हमारी माता और कौन पिता है ? हम तो तुमको ही जानती है—

तुम हूँ तैं व्रज हितू न कोऊ, कोटि कहौ नहिँ मानैं।
काके पिता, मातु हैं काकी, काहूँ हम नहिँ जानैं।
काके पति, सुत-मोह कौन को घर हीं कहा पठावत।
० ० ०
हम जानैं केवल तुमहीं कौं और वृथा ससार।[२]

इसके पश्चात् गोपियो की अनन्यता से प्रसन्न हो कर कृष्ण उनको रास के लिए प्रस्तुत हो जाने का आदेश देते है। रास की आज्ञा सुनते ही वादल मे विद्युत् की भाँति गोपिकाओ के मुख हर्ष से चमक उठते है। सूर ने गोपिकाओ के इस हर्षावेग को वर्णनातीत वताया है—

हरि-मुख देखि भूले नैन।
हृदय-हरषित प्रेम गदगद, मुख न आवत वैन।
काम-आतुर भजीं गोपी, हरि मिले तिहिँ भाइ।
प्रेम वस्य कृपालु केसव जानि लेत सुभाइ।
परसपर मिलि हँसत रहसत हरषि करत विलास।
उमँगि आनँद-सिधु उछल्यौ स्याम कैं अभिलाष।
मिलति इक-इक भुजनि भरि-भरि रास-रुचि जिय आनि।
तिहिँ समय सुख स्याम-स्यामा, सूर क्यौं कहै गानि॥[३]

सूर ने यहाँ गोपियो की हर्षपूर्ण मनस्थिति का चित्रण करते हुए स्वरभग सात्विक भाव, हर्ष सचारी एव हावहेला अनुभावो की एक साथ सुदर समन्विति की है। नरसी मे गोपियो की मन स्थिति का ऐसा भावपूर्ण वर्णन नही मिलता हे। कृष्ण गोपियो के समक्ष रासक्रीडा करने की इच्छा व्यक्त करते हैं और गोपियाँ तुरत कृष्ण के साथ वृन्दावन की ओर चल देती हैं—

एवा वचन सुणी हरि हसिआ 'आपण्य रम्यशुं रास;
मोटा कुलनी तम्यो मान्यनी, पूरीशूं तह्म आश'.
* * *
साह्यलडीने सान करीने वाहलु वृन्दावनि चाल्यो रे.[४]

---

१. रा म प, के. का शास्त्री, पृ ५। २. सू०, प १६३६। ३. सू०, प १६५४।
४ रा स प, के. का. शास्त्री, पृ ५।

किन्तु इसके पश्चात कृष्ण गोपियों को उनके अनुचित व्यवहार के लिए भिड़क देते हैं एवं पुन अपने अपने घर लौट जाने का आदेश देते हैं। गोपियाँ कृष्ण के इस प्रकार के प्रतिकूल व्यवहार से अतीव कातर हो उठती हैं। वे कृष्ण को ही अपना आधार एवं सर्वस्व घोषित करती हैं और कहती हैं कि तुमसे वियुक्त होकर तो हम जीना भी नहीं चाहेंगी—

> भवन नहीं अब जाहिं कन्हाई।
>
> *　　　　*　　　　*
>
> तुम बिछुरत जीवन राखें धिक, कहो न आपु बिचारी॥
> धिक यह लाज विमुख की संगति, धनि जीवन तुम-हेत।
> धिक माता, धिक पिता, गृह धिक धिक सुत-पति को चेत॥[1]

कृष्ण के अप्रत्याशित व्यवहार का नरसी की गोपियों पर इतना प्रतिकूल प्रभाव पड़ा कि उनके नाम पर वे प्राणोत्सर्ग करने को भी प्रस्तुत हो जाती हैं—

> मोहन केरा वचन सुणी ने नीचूं जायूं बाला रे
> मुखि आगुल्य ने मन्य विमासे 'आ' शुं किहि वनमाली रे?
> गद गद कण्ठे वचन प्रकाशे 'सांभळ्ुं देव मुरारि रे
> भूधर! अमने नहीं भजो तो तिजिशुं देह अमारी रे'[2]

यहाँ विषाद सचारी एवं स्वम्भ सात्विक भाव का भावपूर्ण निरूपण हुआ है। साथ ही गोपिका का कृष्ण के विचित्र व्यवहार से चकित हो कर मुख मे अगुली डालना बड़ा ही स्वाभाविक अनुभाव है।

कृष्ण के अभाव मे जीवन की निरर्थकता के भाव दोनों कवियों मे लगभग समान ही हैं। इसके पश्चात सूर की गोपिकाएं जहाँ कृष्ण को निष्ठुर एवं कठोर वचनों से उपालम्भित कर चुप हो जाती हैं[3] वहाँ नरसी की गोपिकाए अर्धरात्रि मे निर्जन वन प्रदेश मे बुलाने का दोष कृष्ण पर ही आरोपित करती हैं—

सूर

> (अ) तजो नँदलाल अति निठुराई ।[4]
> (आ) क्यों तुम निठुर नाम प्रगटायौ ।[5]

नरसी

> शया माटे, श्यामलिआ वाहला! सान करीने तेडी रे
> व्याकुल थ वनिता सौ आह्व वेण्य वजाडी रूडा रे
> आणी वेला मध रात्य अह्मो परहरिओ परिवार रे,
> सामा आल चढाव्या अह्मने, निलज्ज नदकुमार रे[6]

---

१ सू०, प १६४२। २ रा म प, के का शास्त्री, पृ १२। ३ सू०, प १६४७।
४ सू०, प १६४८। ५ सू०, प १६४७। ६ रा स प, के का शास्त्री, पृ ८१

वे कहती है कि हमने सुत-पति-कुल-मर्यादा-माता-पिता आदि का त्याग तुम्हारे ही लिए किया है, ऐसी स्थिति मे तुम्हारी यह उपेक्षा सर्वथा लोकाचार विरुद्ध है—

सुतने मेहली पतिने मेहली, मेहली कुल मरजाद;
मात-पिता वीसर्यां मोहन, एकल तुझने काज्य.[1]

किन्तु इसके विपरीत सूर की गोपियो मे जो अपने प्रियतम कृष्ण के प्रति एकनिष्ठता एव अनन्यता मिलती है वह अन्यत्र विरल है। वे कृष्ण द्वारा उपेक्षित होने पर भी वारवार यही कहती है कि कृष्ण तुम्हारे विना व्रज मे हमारा कोई हितेच्छु नही है, कौन हमारी माता और कौन पिता है ? हम तो तुमको ही जानती है—

तुम हूँ तैं व्रज हितू न कोऊ, कोटि कहौ नहिँ मानैं।
काके पिता, मातु हैं काकी, काहू हम नहिँ जानैं।
काके पति, सुत-मोह कौन को घर हीं कहा पठावत।
० ० ०
हम जानैं केवल तुमहीं कौं और वृथा ससार।[2]

इसके पश्चात् गोपियो की अनन्यता से प्रसन्न हो कर कृष्ण उनको रास के लिए प्रस्तुत हो जाने का आदेश देते है। रास की आज्ञा सुनते ही वादल मे विद्युत् की भाँति गोपिकाओ के मुख हर्ष से चमक उठते है। सूर ने गोपिकाओ के इस हर्षावेग को वर्णनातीत वताया है—

हरि-मुख देखि भूले नैन।
हृदय-हरषित प्रेम गदगद, मुख न आवत वैन।
काम-आतुर भजीं गोपी, हरि मिले तिहिँ भाइ।
प्रेम वस्य कृपालु केसव जानि लेत सुभाइ।
परसपर मिलि हँसत रहसत हरषि करत विलास।
उमँगि आनँद-सिंधु उछल्यौ स्याम कैं अभिलाष।
मिलति इक-इक भुजनि भरि-भरि रास-रुचि जिय आनि।
तिहिँ समय सुख स्याम-स्यामा, सूर क्यौं कहै गानि॥[3]

सूर ने यहाँ गोपियो की हर्षपूर्ण मनस्थिति का चित्रण करते हुए स्वरभग सात्विक भाव, हर्ष सचारी एव हावहेला अनुभावो की एक साथ सुदर समन्विति की है। नरसी मे गोपियो की मन स्थिति का ऐसा भावपूर्ण वर्णन नही मिलता है। कृष्ण गोपियो के समक्ष रासक्रीडा करने की इच्छा व्यक्त करते है और गोपियाँ तुरत कृष्ण के साथ वृन्दावन की ओर चल देती हैं—

एवां वचन सुणी हरि हसिआ 'आपण्य रम्यशुं रास;
मोटा कुलनी तम्यो मान्यनी, पूरीशूं तह्म आश'.
* * *
साह्यलडीने सान करीने वाहलु वृन्दावनि चाल्यो रे.[4]

---

१ रा स प, के. का शास्त्री, पृ ५। २. सू०, प. १६३६। ३ सू०, प १६५४।
४ रा स. प, के. का शास्त्री, पृ ५।

रास प्रस्ताव के पश्चात् सूर के कृष्ण अपनी ढिठाई के लिए गोपियों के समक्ष अति दीन एवं विनम्र होकर क्षमा मांगते हैं और स्वयं को असाधु एवं गोपियों को साधु घोषित करते हैं—

स्याम हँसि बोले प्रभुता डारि।
बारंबार बिनय कर जोरत, कटि-पट गोद पसारि।
तुम सनमुख मैं बिमुख तुम्हारौ, मैं असाधु तुम साधु।[1]

नरसी के रास प्रसंग में इस प्रकार के भाव कहीं पर भी उपलब्ध नहीं होते हैं।

सूर ने रास के पूर्व क्रीडा संचारी की भी बड़ी स्वाभाविक योजना की है। कृष्ण ने अपनी 'रास की इच्छा बताते हुए गोपियों को सुसज्ज होने की आज्ञा दी। गोपियाँ इस समय तक कृष्ण में ही तल्लीन थीं। उन्होंने जब अपनी ओर देखा तब उन्हें अपनी वस्त्राभूषणों की विपर्यस्त स्थिति का ज्ञान हुआ। वे कितनी बह गई हैं इसका उन्हें अब ज्ञान हुआ—

जो देखैं अँग उलटे भूषन, तब तरुनी मुसक्यानी।
बार-बार पिय देखि देखि मुख, पुनि पुनि जुवति लजानी।[2]

इसके पश्चात् आदि रास प्रारंभ होता है। दोनों कवियों ने अपनी स्वतंत्र उद्भावना के द्वारा रास के मधुर भावों की बड़ी भावपूर्ण अभिव्यंजना की है। संभोग शृंगार की भाव-योजना दोनों में प्रायः समान रूप से ही मिलती है। निम्नलिखित पदों में दोनों कवियों का भाव-साम्य तुलनीय है—

सूर

कबहुँ हरषि हिरदै लगावै।
कबहुँ लै लै तान नागरी सुघर, अति सुघर नँद सुवन को मन बै रिझावै।
कबहुँ चुंबन देति, आकरषि जिय लेति, गिरति बिनु चेत बस हेत अपनैं।
मिलति भुज कंठ दै, रहति अँग लटकि कै, जात दूरि ह्वै झसकि सपनैं।
लेत गहि कुचनि बिच देति अधरनि अमृत[3]

नरसी

(अ) भुजबल भरती भामिनी करती अधर रस पान रे
ताल देइ देइ नाचे नादे सम्मुख करती गान रे[4]

(आ) आलिंगन ल उरि धर, भीडि भामिनी भावि
श्रमजल वदने झलक्ता, श्याम श्यामा सुहावि
मरकलडा करी कृष्णने मल्ला भाव जणावि[5]

उक्त पदों में संभोग हर्षान्वित भावों के साथ अन्य विविध व्यापारों का भी सुंदर समन्वय हुआ है। यहाँ शृंगार के प्रायः सभी अंगों का स्वाभाविक सन्निवेश हुआ है।

रास प्रसंग में संभोग की भाँति विप्रलंभ के भी समस्त भावों का बड़ा भावपूर्ण निरूपण हुआ है। गोपियों के 'अहं' के कारण कृष्ण अंतर्धान हो जाते हैं। गोपियाँ कृष्ण वियोग में विह्वल

---

१ सू०, प १६४१। २ सू०, प १६२५। ३ सू०, प १६७८। ४ रा स प, के का शास्त्री, पृ ८। ५ रा स प, के का शास्त्री, पृ ६।

हो कर वन-वन भटकती फिरती है। वे जड-चेतन का भेद भूल कर लता-द्रुम आदि से भी कृष्ण का पता पूछने लगती है। दोनो कवियो ने गोपियों की इस दशा का भावपूर्ण अकन किया है—

सूर

कहि धौं री बन बेलि कहूँ तैं देखे हैं नँद-नदन।
बूझहु धौं मालती कहूँ तैं पाए हैं तन-चंदन॥
कहि धौं कुंद, कदंब, वकुल, वट, चंपक, ताल, तमाल।
कहि धौं कमल कहाँ कमलापति, सुंदर नैन विसाल॥
कहि धौं री कुमुदिनि, कदली कछु, कहि बदरी करवीर।
कहि तुलसी तुम सब जानति हौ, कहँ घनश्याम सरीर॥
कहि धौं मृगी मया करि हमसौं, कहि धौं मधुप मराल।
सूरदास-प्रभु के तुम सगी, हैं कहँ परम कृपाल॥[1]

नरसी

(अ) पूछ्यूं द्रुमने रे: क्हिं माहारा नाथ नो उपदेश?
अह्म तिजी गयो रे धूरत धावलिआलो वेश.
* * *
सरवर पूछ्युं रे: क्हिं नटनागर केरी भाल्य?[2]

(आ) पूछे कुंजलता द्रुमवेली, क्याहि दीठडो नंदकुमार .[3]

दोनो कवियो ने वियोगिनी गोपियो द्वारा विषाद, चिन्ता, औत्सुक्य आदि सचारी, स्वेद, अश्रु आदि सात्विक भाव तथा सन्ताप, प्रलाप आदि अनुभावों की भावपूर्ण अभिव्यजना करवाई है।

कृष्ण अन्तर्धान होते समय राधा को भी साथ ले गए थे। राधा के प्रति कृष्ण के इस पक्षपात-पूर्ण व्यवहार से गोपियाँ ईर्पाविष्ट हो उठती है। सूर ने गोपियो के द्वारा इस भाव की अभि-व्यक्ति 'महा रसिकिनी बाम' जैसे उपालभो से करवाई है—

बन-कुजनि चलीं ब्रजनारि।
सदा राधा करति दुविधा, देतिं रस की गारि॥
संगहीं लै गई हरि कौं, सुख करति बनधाम।
कहाँ जैहै, ढूँढ़ि लैहैं, महा रसिकिनि बाम॥[4]

नरसी ने इसी सदर्भ मे गोपियो मे ईर्ष्या के भावो का सन्निवेश न करके उनके द्वारा राधा के भाग्य की सराहना करवाई है। गोपिकाएँ 'सौभाग्यवती नारी' कह कर राधा के सुख-सुहाग को सराहती है—

आ जोनी, आ केनूं पगलूं? पगले पद्म तणूं एधाण!
पगलापासे बीजूं पगलूं; ते रि सोहागण्य नौतम जाण्य.
पूर्ण भाग्य ते जुवती केरुं जे गै वाहलाने संगे;
एकलडी अधररस पीशे; ए रजनी रमशे रगे.[5]

---

१ सू०, प १७०९। २. रा स. प, के. का शास्त्री, पृ १४, १५। ३ रा म, प के का शास्त्री, पृ. १६। ४ सू०, प. १७१६। ५ रा स प, के का शास्त्री, पृ १५, १६।

गोपियाँ कृष्ण को ढूढती हुई जब कुछ आगे बढती हैं तो राधा को भी अपनी ही स्थिति में अकेली पाती है। राधा की इस दीन एव व्याकुल दशा का चित्र सूर ने बडा भावपूर्ण अंकित किया है—

जो देखै द्रुम के तरैं, मुरझी सुकुमारी।
चकित भई सब सुदरी, यह तौ राधा री॥
याही कौं खोजति सब, यह रही कहाँ री।
धाइ परीं सब सुदरी, जो जहाँ तहा री॥
तन की तनकहुँ सुधि नहो, व्याकुल भई बाला।
यह तौ अति बेहाल है, कहँ गए गोपाला॥
बार बार बूझतिं सब, नहि बोलति बानी।
सूर स्याम काहैं तजी कहि सब पछितानी॥[1]

नरसी ने एस अवसर पर गोपियों को मात्र चकित होते ही नही बताया है, किन्तु उनके द्वारा कृष्ण को धूर्त जसे वचनो से उपालभित भी करवाया है। एक ही प्रसग की उद्भावना म भी दोनो कवियो के भावाभिव्यजन मे कितना अतर है—

जाता जाता वनमा आव्या, दीठी एक साहेली,
धूतारानां लक्षण जो जो, म्यो एकलडी मेहली[2]

इसके पश्चात कृष्ण पुन प्रकट होते है और महारास प्रारभ होता है। महारास म आदिरास के ही सभोग के भाव निरूपित हैं। सूर ने रास के पश्चात कृष्ण के जल विहार का वर्णन किया है किन्तु नरसी ने रासप्रसग म राधा कृष्ण एव गोपियो की विविध चेष्टाओ एव हाव भावो द्वारा नृत्य-सबधी भावो का ही अकन किया है। इसी तरह आदिरास म सूर ने राधाकृष्ण के विवाह का वर्णन किया है जिसका नरसी के रास प्रसग म कही उल्लेख भी नही मिलता है।

७—पनघटलीला

रासलीला के पश्चात कृष्ण की मधुर लीलाओ म दूसरी पनघटलीला है। सूर ने 'रास' की तरह इस लीला मे भी सभोग शृगार के क्रीडा, रूप आदि भावो तथा अनुभावो की प्रभावोत्पादक अभिव्यजना की है। कृष्ण यमुना-जल भर कर आती हुई किसी गोपिका की गागर ढरका देते हैं किसीकी इडुरी छितरा देते हैं किसीकी गागर फोड देते है और किसीके चित्त को अपनी मधुर चितवन से चुरा लेते हैं—

काहू की गगरी ढरकावै। काहू की इडुरी फटकावै।
काहू की गागरी धरी फोरैं। काहू के चित चितवत चोरैं॥[3]

इससे भी आगे बढकर वे कभी किसीकी बाह मरोड देते हैं किसीकी अलकें पकड लेते हैं बरजोरी से किसीके उरस्थल का स्पर्श कर लेते हैं और 'ना ना' करती किसी गोपिका को अपने भुज-पाश म आबद्ध कर लेते हैं। गोपिका कृष्ण की इन शरारतो के प्रति बाहर से खीज प्रकट करने पर भी भीतर से इतनी मुग्ध रहती है कि मार्ग म जाती हुई भी पीछे मुड मुड कर देखती है और मन म

१ सू० प १७८४। २ रा स प, के का शास्त्री पृ १६। ३ सू०, प २०१७।

विचार करती है कि 'अरे ! हरि ने यह क्या कर डाला ।' इस मुग्ध मन स्थिति मे वह मार्ग भटक जाती है और अत मे गुरुजनो की कठोर स्मृति आने के पश्चात् ही वह प्रकृत स्थिति मे आती है। वह कितनी बह गई थी ? इसका स्मरण होते ही वह लज्जित हो जाती है। सूर ने यहाँ कुट्टमित अनुभाव की सुदर अभिव्यजना की है। गोपिका वाहर से सकुचित होने पर भी भीतर से पुलकित है—

(अ) ग्वारि घट भरि चली झमकाई ।
स्याम अचानक लट गहि कही अति, कहा चली अतुराइ ।
मोहन-कर तिय-मुख की अलकैं, यह उपमा अधिकाइ ।
मनौ सुधा ससि राहु चुरावत, धयौं ताहि हरि आइ ।
कुच परसैं अंकम भरि लीन्हो, अति मन हरख बढ़ाइ ।
सूर स्याम मनु अमृत-घटनि कौं, देखत हैं कर लाइ ।[1]

(आ) छाँडि देहु मेरी लट मोहन ।
कुच परसत पुनि-पुनि सकुचत नहिं, कत आई तजि गोहन ।।
जुवती आनि देखि है कोऊ, कहति बंक करि भौंहन ।
o o o
सूर स्याम नागरि बस कीन्ही, बिवस चली घर कोह न ।[2]

इसके पश्चात् आगे जब गोपिका मार्ग भटक जाती है तब उसका रोष वह अपनी लट पर प्रकट करती है, क्योकि वही अनर्थ का मूल है। श्याम ने उसीको छिटका कर उसकी यह दशा कर दी है। सूर ने अनुभावो की कितनी भाव-पूर्ण अभिव्यजना की है—

चली भवन मन हरि हरि लीन्हौं ।
पग द्वै जाति ठठकि फिरि हेरति, जिय यह कहति कहा हरि कीन्हौं ।।
मारग भूलि गई जिहिँ आई, आवत कै नहिँ पावति चीन्हौं ।
रिस करि खीझि खीझि लट झटकति, स्याम-भुजनि छुटकायौ ईन्हौं ।
प्रेम-सिंधु मैं मगन भई तिय, हरि कैं रंग भयौ उर लीनौ ।
सूरदास-प्रभु सौं चित अँटक्यौ, आवत नहिँ इत उतहिं पतीनौ ।।[3]

गोपिका का ठिठकना, वारवार पीछे मुडकर देखना, मार्ग भटकना तथा अपनी इस विचित्र मन स्थिति का रोष 'शिष्यापराधे गुरोर्दण्ड' के रूप मे वेचारी उस निर्दोष अलक पर प्रकट करना कितने स्वाभाविक अनुभाव है। दुष्यंत के प्रेम-कण्टक से विद्ध शकुन्तला की भी कालिदास ने यही स्थिति वताई है। काटा न चुभने पर भी वह काटा निकालने के मिस रुककर पीछे मुडकर प्रिय को देखती है—

'हला अनसूये! अभिनव-कुशसूचि-परिक्षतं मे चरणम् कुरबक-शाखा-परिलग्नञ्च वल्कलम्। तावत् प्रतिपालयतं माम्, यावदेन्मोचयामि ।'[4].

१ सू०, प २०६६। २ सू०, प २०६७। ३ सू०, प २०६८।
४ अभिज्ञान-शाकुन्तलम्, प्रथम अङ्क।

सूर ने जल भर कर ठिठक ठिठक कर चलना मटक मटक कर मुख मरोडती बंकिम भ्रूचालन करती और गजगति से चलती गोपिकाओं के सौन्दर्य का हाव भाव एवं विविध अनुभावों के साथ अप्रतिम वर्णन किया है। सूर ने प्रसंग के अनुसार गोपिकाओं को मदमत्त करिणियाँ तथा कृष्ण को गज यूथ पति के रूप में निरूपित किया है। इस प्रकार की भाव एवं कला की सुंदर अभिव्यक्ति अन्यत्र साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता है—

ठटकति चल, मटकि मुख मोर, बंकट भौंह चलाव।
मनहुँ काम-सेना अंग सोभा, अंचल धुज फहराव॥
गति गयंद, कुच कुंभ, किंकिनी मनहुँ घंट झहनाव।
मोतिनि हार जलाजल मानौ, खुभी दंत झलकाव॥
चंदक मनहुँ महाउत मुख पर, अंकुस बेसरि लाव।
रोमावली सूंड तिरनी लौं, नाभि-सरोवर आव॥
पग जेहरि जंजीरनि जकयौ, यह उपमा कछु भाव।
घट जल छलकि कपोलनि कनिका, मानौ मदहिं चुवाव।
गज सरदार सूर को स्वामी, देखि देखि सुख पाव।[1]

गज यूथ पति अपनी मदमत्त हथिनियों के सौंदर्य को निरख कर सुख पाता है वैसे ही कृष्ण गोपिकाओं के सौंदर्य को बारंबार देख कर सुख पा रहे हैं।

सूर के पनघटलीला के प्रसंगों में दो प्रसंग विशेष महत्वपूर्ण हैं। एक में कृष्ण वृक्ष की ओट में रह कर किसी गोपिका की गागर ढरका देते हैं। गोपिका कृष्ण की इस शरारत से खीझ कर उनकी कनक लकुटी छीन लेती है, और कृष्ण से गागर भर लाने को कहती है। अंत में चतुर कृष्ण 'चीरहरण' की याद दिलाकर उसे विवश कर देते हैं। गोपिका इतनी भावमग्न हो जाती है कि लकुटी कब उसके हाथ से छूट पड़ती है कुछ पता नहीं। यहाँ स्तंभ सात्विक एवं जड़ता संचारी की सुंदर अभिव्यंजना हुई है—

(अ) जुवति इक आवति देखी स्याम।
द्रुम कैं ओट रहे हरि आपुन, जमुना तट गई बाम॥
जल हलोरि गागरि भरि नागरि, जबहीं सीस उठायौ।
घर कौं चली जाए ता पाछ, सिर तैं घट ढरकायौ॥
चतुर ग्वालि करि गह्यौ स्याम कौ, कनक लकुटिया पाई।
औरनि सौं करि रहे अचगरी, मोसौं लगत कन्हाई॥
गागरि लै हँसि देत ग्वारि-कर, रीतौ घट नहिं लैहौं।
सूर स्याम ह्याँ आनि देहु भरि तबहिं लकुट कर दैहौं॥[2]

(आ) घट भरि देहु लकुट तब देहौं।
हौं हूँ बड़े महर की बेटी, तुम सौं नहीं डरैहौं॥
मेरी कनक-लकुटिया दै री, मैं भरि देहौं नीर।
बिसरि गई सुधि ता दिन की तोहिं, हरे सबन के चीर॥

---
१ सू०, प २०५७। २ सू०, प २०२२।

यह बानी सुनि ग्वारि बिबस भई, तन की सुधि बिसराई।
सूर लकुट कर गिरत न जानी, स्याम ठगौरी लाई ॥[१].

इसके पश्चात् कृष्ण गागर भर कर गोपिका के सिर पर रख देते है। गोपिका जब चलने को प्रस्तुत होती है तब उसकी ऐसी विचित्र स्थिति हो जाती है कि उसे कुछ मार्ग ही नही सूझ पडता है। उसे सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दीख पडते है—

घट भरि दियौ स्याम उठाई।
नैंकु तन की सुधि न ताकौं, चली ब्रज-समुहाइ।
स्याम सुदर नैन-भीतर, रहे आनि समाइ।
जहाँ-जहाँ भरि दृष्टि देखै, तहाँ-तहाँ कन्हाइ॥[२].

यहाँ प्रेम की अतिम तल्लीनावस्था के भाव अभिव्यजित हुए है।

दूसरे प्रसग मे गोपिकाएँ कृष्ण की उद्दण्डता की शिकायत करने यशोदा के पास जाती है। माता गोपियो से क्षमा याचना करके किसी भी प्रकार उन्हे शात करती है। गोपियाँ नन्द महर के घर से बाहर निकलती है तब उन्हे सामने ही कृष्ण दिखाई पडते हे। तब वे व्यग्यपूर्ण स्वर मे उन्हे कहती है, 'जाओ कृष्ण, माँ बुलाती है।' यशोदा के समक्ष पहुँच कर चतुर कृष्ण पूरा दोष गोपियो के सिर ही मढ देते है—

तू मोहीं कौं मारन जानति।
उनके चरित कहा कोउ जानै, उनहिं कही तू मानति॥
कदम-तीर तैं मोहिं बुलायौ, गढ़ि गढि बातैं बानति।
मटकत गिरि गागरी सिर तैं, अब ऐसी बुधि ठानति॥
फिरि चितई तू कहाँ रह्यौ कहि, मैं नहिं तोकौं जानति।
सूर सुतहिं देखत ही रिस गई, मुख चूमति उर आनति॥[३].

गोपिकाएँ कृष्ण के नटखटपन की शिकायत कर गई थी, फिर भी माता का यहाँ कृष्ण की बात पर ही विश्वास करना एक स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक सत्य है, क्योकि जिसके प्रति प्रेम होता है, मन प्राय उसीका पक्ष लेता है।

राधा के प्रति कृष्ण का व्यवहार इससे कुछ भिन्न ही रहा है। वह जब जल भरने निकलती है तब कृष्ण ऐसी कोई शरारत की बात नही करते है, जिससे वह रुष्ट हो जाए। इसके विपरीत कृष्ण अपनी अनेक प्रेम-चेष्टाओ से उसे किसी न किसी तरह अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करते है। सूर ने सखियो के मध्य मे चलती राधिका का एक ऐसा भावपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है, जिसमे कृष्ण अपनी प्यारी को प्रसन्न करने के लिए कभी उसके आगे और कभी पीछे चलते है। कभी आगे होकर कनक लकुटी से मार्ग स्वच्छ करते है, तो कभी उसकी छाँह का अपनी छाँह द्वारा स्पर्श करवाकर पुलकित होते है—

सखियन बीच नागरी आवै।
छबि निरखति रीझ्यौ नँद-नंदन प्यारी मनहिं रिझावै॥

---

१ सू; प २०२४। २ सू, प २०२५। ३ सू, प २०४६।

कबहुँक आगें, कबहुँक पाछें, नाना भाव बतावै।
राधा यह अनुमान करै, हरि मेरे चितहिं चुरावै॥
आगें जाइ कनक लकुटी लै, पथ सँवारि बनावै।
निरखत जहाँ छाँह प्यारी की, तहँ लै छाँह छुवावै॥
छबि निरखत तन वारत अपनौ, नागरि जियहिं जनावै।
अपने सिर पीताम्बर वारत, ऐसें रुचि उपजावै॥
ओढ़ि उढ़नियाँ चलत दिखावत, इहिं मिस निकटहिं आवै।
सूर स्याम ऐसे भावनि सौं राधा मनहिं रिझावै॥'[1]

नरसी-साहित्य में 'पनघटलीला' के पदों की संख्या दस से अधिक नहीं है। जिनमें प्राय उत्तम भाव-व्यंजना, सहज स्नेह विकास एवं वर्णन वैविध्य का अभाव है। सूर ने अपने मुक्तक पदों में भी प्रसंगों की क्रमिकता का निर्वाह करके एक ही प्रसंग की विविध रूपों में भावपूर्ण सृष्टि की है। नरसी के पदों में अभिव्यंजित भावों में से सूर के साथ तुलनीय भाव यहाँ प्रस्तुत किए जाते हैं।

सूर के कृष्ण का राधा के प्रति जिस प्रकार का प्रेम पूर्ण पक्षपात दृष्टिगत होता है, वैसे ही नरसी के कृष्ण भी एक गोपिका के प्रति इतने आसक्त हैं कि उसे वे अपने किसी भी व्यवहार से रुष्ट नहीं करना चाहते हैं। वे उसे अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए अनेक प्रकार की अनुनय विनय भरी चेष्टाएँ करते हैं। सामने मिलने पर वे कभी उसके गले में अपना हार डाल देते हैं और कभी हाथ जोड़ कर उसके पैरों में झुकते हैं। कृष्ण की इन चेष्टाओं एवं व्यापारों से गोपिका अपनी सखियों के सामने भारी लज्जित हुई है। वह कृष्ण के इस व्यवहार का प्रयोजन जानना चाहती है पर उसे कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। कृष्ण उससे क्या चाहते हैं? वह प्रयत्न करती है फिर भी कृष्ण के 'मर्म' को नहीं समझ पा रही है। वह आए दिन कृष्ण के इस प्रकार के आचरण से इतनी बेचैन हो उठी है कि इस झंझट से मुक्ति पाने के लिए अपनी सखी से विष की याचना करती है। कृष्ण की अनेक प्रेमचेष्टाओं तथा हाव भावों तथा गोपिका के व्रीडा संचारी का कवि ने बड़े सहज रूप में चित्रण किया है। सूर की तरह कृष्ण से राधाप्यारी की छाँह का स्पर्श न करवाने पर भी नरसी के इस पद की भाव-व्यंजना अनुपम है—

माहारो नाथ मूके साथ रे, सजनी शु कीजे,
कोई लावो रे हमारे हाथ, बख घोळी पीजे
जळ जमना भरवाने जाउ, ताहा काहान आवितो आव रे,
उरनो हार पोतानो उतारी, ते तो माहारा कंठ सोहावे रे
करजोडी वाहलो आगळ उभो, सळी सळी पायने लागे रे,
एहना मननो हु मम ना जाणु माहारी पासे शु मागे रे
हु रे लाजी त्यारे शणगट ताण्यो, सहीयर समाणीए दीठु रे,
पेरबरे पेखण युगमाहां जोतां, सहुधी लागे माठु रे

---
१ सू०,प २०५८।

वर्णागी वेरण भई लागी, वरवा हैडे वारं रे;
श्याम सलुणो मारी केड ना मूके कया माहरा रूप ने सारु रे.
अनेक सुंदरी एहेने रे इच्छे, तेसुं प्रीत न जोड़े रे;
नरसैयाचो स्वामी माहारी भाले भोजन मूकी ने दोडे रे[1].

दोनो कवियो के 'पनघटलीला' प्रसग की भावयोजना मे मौलिक अतर यह प्रतीत होता है कि सूर ने जहाँ प्राय शृगार के मर्यादित भावो की योजना की है वहाँ नरसी ने अमर्यादित स्थूल शृगार के भावो की भी खुलकर अभिव्यजना की है। उदाहरणार्थ एक पद यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जिसमे पनघट पर किसी गोपिका के साथ कृष्ण ने विविध रूपो मे विलास किया है। गोपिका के घर पहुँचने पर अधर-क्षत के सबंध मे सास प्रश्न करती है। तब बडे चातुर्य से सुरत-सगोपन करती हुई गोपिका अपनी सास से कहती है कि यह तो घडा सिर पर रखते समय सखी का नख लग गया है—

सरोवर पाणी हुं गइ, वाहलो मारी ते मरडेरे बांयरे;
पीनपयोधर ग्रही ते रह्यो, अधुर अमृत रस पीये पायरे.
सासु पूछे सुण वहुआरु, आ अधुर डंक कांहां लागोरे;
सरवर कुंभ चढावता हुंने, सहीयरनो नख वागोरे.
जातां गइ उतावळी, वाहले वलती वलवा न दीधीरे;
नरसैयांचो स्वामी भले रे मळियो, आप सरीखडी कीधीरे[2].

सूर के 'पनघटलीला' के भाव नरसी की अपेक्षा किंचित् भिन्न है। वे सभोग-परक भाव-योजना मे अपेक्षाकृत मर्यादित रहे है। उनमे कही भी इस प्रकार की सुरत-सगोपन की परिस्थिति उपस्थित नही हुई है। उनके निरूपण मे कही-कही इस प्रकार की भाव-योजना मिलती है तो वह प्राय निम्नानुसार ही—

सूर लह्यौ गोपाल-आलिंगन, सुफल किये कंचन घट ।[3].

सूर की राधा इतनी लजीली है कि छाँह छूते कृष्ण की विविध प्रेमचेष्टाओ का भी कोई उत्तर नही देती है, किन्तु नरसी की राधा अपेक्षाकृत प्रगल्भा है। राधा एक समय सिर पर गागर लिए जा रही थी कि कुछ ही दूर मार्ग मे कृष्ण से भेट हो गई। सिर पर भार होने से उस समय राधा ने उनसे बातचीत करना उचित न समझ कर उन्हे एक सकेत-स्थल निर्दिष्ट करते हुए कहा कि कृष्ण, तुम वही मेरी प्रतीक्षा करो, मै अभी आती हूँ। वहाँ हम 'तन-मन' की खूब बाते करेंगे और फिर तुम तृप्त होकर मेरे यौवन-रस का आस्वाद लेना—

वेडे मारे भार घणो नंदलाल, वातो केम करिये.
साव सोनानो मारे शिर घडुलो, हाथ सोनानी झारीरे;
राधाजी पाणीलां निसर्यां, सोल वरसनी नारीरे.
लटकेथी आवु हुं लटकेथी जाउं, लटकामां समजावुंरे;
एक घडी तमे उभा रहेजो, वेडु मेहेली पाछी आवुं रे.

१ न म का॰ सं॰, पृ॰ ५३१। २ न. म. का॰ सं॰, प ३५६। ३. सू०, प. २०७०।

एक ठेकाणु तमने एवु बतावु, त्या जइ उभा रहजोरे,
मन तनना आपणे वातु करशु, मारा जोबनायाना रस लेजोरे¹

सूर की ही भाँति नरसी ने भी एक ऐसी गोपिका के भावों का चित्रण किया है, जो कृष्ण की छेड छाड से खीझ कर नद-यशोदा तक पहुँचने की धमकी देती है। वह कृष्ण को झिडक कर कहती है कि शरारत न करो, नही तो गालिया सुनोगे। बिना बुलाए बोलना और फिर छेड छाड करना अच्छा नही। गोपाल ऐसे चतुर होत हैं कि वे कही खाते हैं तो कहा जाकर हाथ पोछते हैं—

म करो भाळ, दश गाळ, कोहोने कनयालाल आ कोना चाल,
वण आछ वण बोल बोलावे, धाइ धाइ चुबन दे रे गाल
कोहनीक वहु ने कोहनीक बेटी जमुना पाणीनी ए वाट,
चालो जइने पूछीए नद जशोदा ने, कुवर तड छे ते शाभाट
गोवाळानी ए चतुराइ, अहि खाय छ तही लोहे हाथ,
नरसयाचा स्वामीने कोइ न देखे, अमने देखे सहियर साथ²

सूरसागर म जिस प्रकार कृष्ण का वृक्ष की आट म रहकर गागर ढरकाना कुपित होकर गोपिका का कृष्ण की लकुटी छीन लेना, गोपिया का एक साथ मिलकर यशोदा के पास पहुचना कृष्ण का प्रयत्नपूर्वक स्वय का निर्दोष सिद्ध करना आदि के द्वारा नाटकीय शैली मे नैसर्गिक भावविकास हुआ है वैसा नरसी-साहित्य म कही भी उपलब्ध नही होता है।

८—दानलीला

दानलीला की भावभूमि 'पनघटलीला' से पर्याप्त साम्य रखती है। कृष्ण का गोपियो को छेडना गोपियों का कृष्ण के प्रति खीझना, रुष्ट होना और फिर यशोदा के पास कृष्ण की शिकायत करने पहुचना यशोदा का गोपियो को ही दोषी मानकर झिडकना आदि व्यापार दोनो लीलाओ मे समान ही हैं। अतर केवल वर्ण्य विषय म ही है। कृष्ण गोपिकाओ का मार्ग रोक कर उनसे दान मागते हैं। गोपियाँ इस नई पहेली को सुनकर पहले तो आश्चर्य म डूब जाती हैं और फिर कृष्ण के बार बार तग करने पर दान देने से मना कर देती हैं। सर्वप्रथम कृष्ण गोपियो से दान-याचना इस प्रकार करते हैं—

दान दिय बिनु जान न पैहौ।
जब दैहौ दराइ सब गोरस, तबहिं दान तुम दैहौ॥³

कृष्ण के अनावश्यक सत्ता प्रदर्शन का उत्तर गोपिकाए इस भाँति देती हैं—

तुम कबके जु भए हौ दानी।
मटुकी फोरि, हार गहि तोयौ, इन बातनि पहिचानी।
नन्द महर की कानि करति हौं न तु करती मेहमानी।⁴

गोपिया सिर्फ नन्द महर का लिहाज रख रही हैं नहा तो कृष्ण का करनी तो ऐसी है कि उनकी मेहमानी तो कभी की हो गई होती उनको अपने किए का स्वाद कभी का चखा दिया होता।

१ न म का स, पृ ४२६। २ न म का स, पृ ४०८। ३ सू०, प २१२८। ४ सू०, प २०६७।

गोपियो के कृष्ण पर खीझने और कुपित होने का कारण दधिदान माँगना नही अपितु कृष्ण का उनसे यौवन-दान माँगना है। किसी एक गोपिका का आँचल पकड कर कृष्ण उससे यौवन-दान माँगते है तब वह कृष्ण की इस निर्लज्जता पर व्यग्य करती हुई कहती है—'कनैया! अभी तो बालक हो, जरा तरुनाई तो आने दो'—

एसैं जनि बोलहु नँद-लाला।
छाँड़ि देहु अँचरा मेरौ नीकैं, जानत और सी बाला॥

* * *

जोवन, रूप देखि ललचाने, अबहीं तैं ये ख्याला॥
तरुनाई तनु आवन दीजैं, कत जिय होत बिहाला।
सूर स्याम उर तैं कर टारहु, टूटै मोतिन-माला॥[1]

इस प्रकार कृष्ण एव गोपिकाओ के बीच कलह बढ जाता है। गोपिकाएँ कृष्ण पर कुपित होती है, खीझती हैं, कृष्ण को अनेक कठोर उपालभ देती है एव उन्हे बुरी तरह झिड़क देती है। किन्तु इन सभी का उन पर प्रतिकूल प्रभाव ही पडा। उन्होने खीझकर किसीके गले का हार तोड डाला, किसीकी कचुकी फाड डाली और किसीका दधिमाखन का भाजन ही नीचे लुढका दिया। कृष्ण की शरारतो का कोई उपाय न देख कर अन्त मे गोपियाँ झल्लाकर यशोदा के पास पहुँची, किन्तु वहाँ भी परिणाम कुछ विपरीत ही निकला। यशोदा ने उलटा उनको ही झिडक दिया—

मैं तुम्हरी मन की सब जानी।
आपु सबै इतराति फिरति हौं, दूषन देति स्याम कौं आनी।
मेरौ हरि कहँ दसहिं बरस कौ तुम री जोबन-उनमानी।[2]

गोपिकाएँ यशोदा की झिडकियाँ सुनकर क्या कर सकती थी? वे बेचारी अपना-सा मुँह लेकर चुपचाप लौट पडी।

कृष्ण ने अब सखाओ के साथ मार्ग रोक कर गोपियो से दान मागना प्रारभ किया। उन्होने गोपियो से कहा कि छोटी बात को बडी बनाना अच्छा नही। बालक को मुँह लगाने से हानि की ही सभावना है। अत तुमसे हम जो कुछ माँग रहे है उसे देकर इस झझट से मुक्ति पाओ—

मोसौं बात सुनहु ब्रज नारी।
इक उपखान चलत त्रिभुवन मैं, तुमसौं कहौं उघारी॥
कबहूँ बालक मुँह न दीजियै, मुँह न दीजियै नारी।[3]

गोपियाँ यह सुन कर कृष्ण पर और भी खीझ उठती है और वे उनका कच्चा चिट्ठा खोलने लगती है। माखन-चोरी और ऊखल-बधन का स्मरण दिलवा कर वे कहती है कि लला, इन उद्दण्डताओ को छोडो और कुछ सभ्य बनो। यह सुन कर कृष्ण गोपियो के समक्ष अपने अलौकिक कार्यो की चर्चा करते है। यद्यपि रस की दृष्टि से यह उचित नही तथापि भक्तिक्षेत्र मे अद्भुत वातावरण बनाए रखने की दृष्टि से यह सब ग्राह्य है। इसके पश्चात् कृष्ण पुन. अपनी

---

१. सू०, प. २०८६। २. सू०, प २१०८। ३. सू०, प २१३६।

मूल बात पर आकर अभिधा में नहीं किन्तु 'कनक-कलश' 'हंस-केहरि' आदि व्यंजित उपमानों द्वारा 'जोबन दान' की याचना करते हैं —

> लेहौं दान इननि कौ तुम सौं।
> मत्त गयंद, हंस हम सौं है, कहा दुरावति हम सौं ॥
> केहरि कनक कलस अमृत के, कैसें दुरैं दुरावति।
> विद्रुम, हेम, बज्र के कनुका, नाहि न हमहिं सुनावति ॥
> खग कपोत, कोकिला, कीर, खंजन, चंचल मृग जानति।
> मनि कंचन के चक्र जरे हैं, एते पर नहिं मानति ॥
> सायक, चाप, तुरंग, बनि जति हौ लिये सब तुम जाहु।
> चंदन, चँवर, सुगंध, जहँ तहँ, कैसें होत निबाहु ॥[1]

'कनक-कलश', 'हंस-केहरि' आदि की नई पहेलियाँ सुनकर गोपियाँ चकित रह गई। इनके द्वारा कृष्ण क्या कह रहे हैं? उन्हें कुछ भी समझ में नहीं आया। इनमें से कहाँ उनके पास एक भी वस्तु है? तब कृष्ण एक एक कर के गोपियों के अंगों को गिना कर उपर्युक्त उपमानों को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

> चिकुर चमर, घूँघट हय-बर, बर भ्रुव सारंग दिखराऊँ ॥
> बान कटाच्छ, नैन खंजन, मृग, नासा सुक उपमाऊँ।
> तरिवन चक्र अधर बिद्रुम छबि, दसन बज्र-कन ठाऊँ ॥
> ग्रीव कपोत, कोकिला बानी, कुच कनक घट सुभाऊँ।
> जोबन-मद रस-अमृत भरे हैं, रूप रंग झलकाऊँ ॥
> अंग सुगंध बास पाटंबर, गनि गनि तुमहिं सुनाऊँ।
> कटि केहरि, गयंद-गति-सोभा, हंस सहित इकठाऊँ ॥[2]

कृष्ण के इस प्रकार के दुराशय को सुनते ही गोपियाँ पुनः झल्ला उठीं। उन्होंने कृष्ण को व्यंग्य वचन सुनाते हुए कहा कि पर-स्त्री से छेड़छाड़ अच्छी बात नहीं। यह तो मर्यादा का नाश करने वाली बात है। अतः ऐसे कृत्यों से दूर रहने में ही हित है—

> माँगत एसौ दान कन्हाई।
> अब समुझी हम बात तुम्हारी, प्रगट भई कछु धौं तरुनाई ॥
> * * *
> सखा लिये तुम घेरत पुनि-पुनि बन भीतर सब नारि पराई।
> सूर स्याम ऐसी न बूझिय, इन बातनि मरजाद नसाई ॥[3]

उन उपस्थित गोपियों में एक ऐसी भी थी, जो सभी सखाओं के समक्ष प्रकट रूप में कृष्ण के जोबन-दान माँगने तथा स्तन-कटि आदि गुप्तांगों में रस ग्रहण करने की चर्चा को सुनकर मारे लाज से मरी जा रही थी। यों तो अंतर से वह कृष्ण को खूब चाहती थी किन्तु सभा के समक्ष उनकी

---

१ सू०, प २१६७। २ सू०, प २१७१। ३ सू०, प २१७२।

यह आचरण उसे उचित नही प्रतीत हो रहा था। उसने कान्तासम्मित मधुर गिरा मे लोकाचार की ओर सकेत करते हुए कृष्ण को अपने निकट बुलाकर कहा—

स्यामहिं बोलि लियो ढिग प्यारी।
ऐसी बात प्रगट कहुँ कहियत, सखिन मांझ कत लाजनि मारी ।।
इक ऐसेहिं उपहास करत सब, ता पर तुम यह बात पसारी।
जाति-पाँति के लोग हँसिहिंगें, प्रगट जानहिं स्याम-मतारी ।।
लाजनि मारत हौ कत हमकौं, हा हा करति जानि बलि हारी।
सूर स्याम सर्वज्ञ कहावत, मात-पिता सौं द्यावत गारी ।।[1]

सूर ने यहाँ अनुभाव के साथ व्रीड़ा सचारी की भाव-पूर्ण अभिव्यजना की है। नारी के मर्मस्थान का इस सूक्ष्मता से स्पर्श करके उसे सहज रूप मे अभिव्यक्त करना सूर जैसे महाकवि का ही कार्य है।

इसके पश्चात् कृष्ण ने अपना अतिम निश्चय सुनाते हुए कहा कि मै अनग-नृपति से आदिष्ट होकर तुमसे 'जोवन-दान' माँगने आया हूँ। कैसे भी हो, तुम्हे यह देना ही होगा। कृष्ण के समक्ष बेचारी गोपियाँ कहाँ तक ठहर सकती? अनग-नृपति के कशाघात से श्लथ होकर उन्होने अपना सर्वस्व कृष्ण को समर्पित कर दिया। सूर ने गोपियो की इस समय की भावाविष्ट मनोदशा का बड़ा ही मार्मिक एव प्रभावपूर्ण चित्रण किया है—

लागी काम-नृपति की सॉटी, जोबन-रूपहिं आनि अयौं।
त्रासित भईं तरुनी अनंग डर, सकुचि रूप-जोवनहिं दियौ ।।[2]

इसके बाद कृष्ण ने गुप्त रूप मे सभी गोपियो से 'जोवन-दान' प्राप्त किया। फिर सभी सखाओ के साथ कृष्ण ने दही और माखन खाया। सूर ने यहाँ राधा से मक्खन याचना करते समय के कृष्ण के मधुर भावो की बडी उत्तम शैली मे अभिव्यजना की है—

राधा सौं माखन हरि माँगत।
औरनि की मटुकी कौ खायौ, तुम्हारौ कैसौ लागत।
लै आई वृषभानु-सुता हँसि, सद लवनी है मेरौ।
लै दीन्हौं अपने कर हरि-मुख, खात अल्प हँसि हेरौ।
सबहिनि तैं मीठौ दधि है यह, मधुरैं कह्यौ सुनाइ।[3]

इस मधुर-प्रसग से गोपियाँ इतनी भाव-मय हो गई कि कृष्ण के आदेश पर भी घर जाने तक को वे तैयार नही हुई। उन्होने कृष्ण से कहा कि घर हम बिना मन के कैसे जा सकती है। मन तो यहाँ रहे और बेचारा तन अकेला घर जाए, यह उचित नही। तन का राजा मन ही है। अत वह जहाँ रहता है, वही पर तन को भी रहना चाहिए—

घर तनु मन बिना नहिं जात।
* * *
तनहिं पर है मनहि राजा, जोइ करै सोइ होइ।
कहौ घर हम जाहि कैसें मन धर्यो तुम गोइ ।।

---

१. सू०, प. २१७५। २ सू०, प २२०७। ३ सू०, प २२१७।

नन-ग्रयन विचार सुधि-बुधि, रह मनहि मुभाइ।
जाहीं मर्वाहि सनुहि स घर, परत नाहि न पाइ ॥[१]

इसके बाद सूर ने गोपियों के प्रेमोन्माद का बड़ा सूक्ष्म एवं भाव-पूर्ण वर्णन किया है। गोपियाँ कृष्ण मय होकर जड़ चेतन का अन्तर भूल कर कभी कदम्ब का दही लेने का आग्रह करती हैं और कभी 'दही लो' के स्थान पर 'गोपाल लो' 'गोपाल लो' कहती फिरती हैं—

(अ) गोरस लेहु री कोउ आइ।
दुमनि सौं यह कहति डोलति, कोउ न लेइ बुलाइ ॥[२]

(आ) ग्वालिनी प्रगट्यौ पूरन नेहु।
दधि भाजन सिर पर धरे कहति गोपालहिं लेहु ॥[३]

कृष्ण की शरारत एवं गोपियों की खीज से प्रारंभ हुआ सूर का दान प्रसंग प्रेम के अनेक अनुभावों, संचारियों एवं सात्विकों से पुष्ट होकर शृंगार की उस अंतिम भावदशा तक पहुंचता है, जहाँ प्रिय अपने अस्तित्व को खोकर प्रियमय हो जाता है।

नरसी में इस प्रसंग के कुछ स्फुट पद उपलब्ध होते हैं, जिनमें सूर के जैसी न भावुकता है न काव्यात्मक संवादात्मकता है और न भावों की उतनी सूक्ष्म अभिव्यंजना हो पाई है। कवि ने प्रायः वर्णनात्मक शैली में ही इस प्रसंग के भावों का चित्रण किया है। कृष्ण के द्वारा मार्ग अवरुद्ध किए जाने पर सूर की भाँति ही नरसी की गोपियाँ भी कृष्ण को अनेक कटु उपालंभों एवं व्यंग्य-वचनों से विद्ध करती हैं—

मारा महिडाना दाण मागे रे, गोवालीडा, तु कोण माणसा रे
घणी वार आव्या आणी वाटी, कर कोणे न लीधा,
दहीदूधनु दाण नहि आपु नहि आपु टबकु छाश पीवा रे[४]

किन्तु यह आश्चर्य की बात है कि यही गोपिका जो दूध-दही का दान देने को भी प्रस्तुत नहीं है एकान्त में कृष्ण का आलिंगन करने की अपनी अभिलाषा व्यक्त करती है। यह सूर की भाव योजना से एकदम भिन्न है। यहाँ गोपी का प्रगल्भ भाव प्रकट हुआ है—

अमो रे आहिरडा माणसा, मरम न जाणिए काइ,
एकवार एकाते मळशु हसी हसी देशु साद रे
जे जातनो संगत करीए, तेह सरीखडा थइए,[५]

गोपिका का स्वयं को अहीर एवं प्रेम प्रदर्शन में अचतुर घोषित करके एकान्त में कृष्ण का आलिंगन करने की इच्छा प्रकट करना अतीव नैसर्गिक प्रतीत होता है। वह अहीर है अतः वाग् विदग्धता एवं प्रेम विषयक अन्य दाव-पेचों के सम्बन्ध में उसका सीमित ज्ञान होना स्वाभाविक है। गोपिका का मानस कितना सरल है!

कई गोपिकाएँ ऐसी भी हैं, जो कृष्ण को मथुरा ले जाकर कंस से दंडित करवाने का भय प्रदर्शित

---

१ सू०, प १२३३। २ सू०, प २२४३। ३ सू०, प २२८८। ४ न म का स, पृ ५८०।
५ न म का स, पृ ५८०।

करती है। वे कृष्ण से कहती है कि न तुम राजकुमार हो और न गाव के 'गरासिये'[1], ही हो कि जिससे हम तुम्हारा लिहाज रखे। वृन्दावन मे नद अहीर रहते है, उन्हीके तो तुम पुत्र हो—

फाहानजी तु कयानो दाणी, लइ जइश मथुरा ताणी.
तुं नहि गामगरासीयो, तुं नहि राजकुमार;
नंद आहीर वसे वनमांहे, तैनो तुं पिंडार.[2]

सूर की भाँति नरसी की गोपियाँ भी कृष्ण को दान देने से इन्कार कर देती है और कहती है कि परनारी से प्रेम भली बात नही है। हम तुम्हारे पिता का लिहाज रखती है, नही तो अभी ऐसा स्वाद चखा देती कि तुम्हे फिर शरारत करना कभी न सूझता—

गोरस दाण न होए रे, गोवालिया.
कानजी किमे न कीजिये रे परनारी-शु प्रीत्य.
महिनी मटुकी शीर्य धरी रे, त्रीकम, तपे अपार.
जावाद्यो, गोपीनाथजी, मोरा वहि जाए शहियर साथ रे.
अमे तमारा तातनी रे कांइक राखु छुं आण.
नहि तो हवणां सउ समझाविये तो तुं फरी न मागे दाण रे[3].

यहाँ गोपियो ने कृष्ण को प्रथम सामपूर्वक समझाने का प्रयत्न किया है, किन्तु इसका कोई प्रभाव न देखकर अत मे दड देने का भय भी प्रदर्शित किया है।

सूर के कृष्ण गोपियो से कहते हैं, 'जोवन दान लेउँगो तुम सौं', किन्तु नरसी के कृष्ण प्रकट रूप मे इस सम्वन्ध मे कुछ भी नही कहते है, फिर भी गोपिकाएँ हाव-भाव, व्यापार एव चेष्टाओ से उनका मर्म जान जाती है। दधि-दान के मिस कृष्ण का आँखे मटकाना, वाहे मरोडना, कचुकी की 'कसे' तोड देना आदि चेष्टाओ से वे कृष्ण की अभिलाषा ताड गई है। यहाँ 'हाव-हेला' आदि अनुभावो का कवि ने किस प्रकार सुन्दर चित्रण किया है, देखिए—

नहि दीया आणी वाररे, महीडानुं दाण नहि दीयां.
कहान तारे लोचनीये लेलाटेरे, कहान तुने धुतरडो जाणुं आगेरे;
कहान उभो अधुर सुधारस मागे रे.
कहान मारी महीनी मटुकी फोडीरे, कहान तें तो वांहलडी मरोडीरे;
कहान महारी कस काचलडीनी तोडी रे.[4]

अन्य गोपियो की भाँति राधा से भी कृष्ण दान माँगते हे तव उत्तर मे वह कहती है—

मुख आडो पालव ग्रही, ताण्यां भवानां बाण;
नयन कटाक्षे निहाळीने बोलो प्रभु शांना मांगो छो दाण?[5]

यहाँ राधा की कृत्रिम कोप-मुद्रा दर्शनीय है। मुख को आँचल की ओट मे करके राधा का भ्रू-भग एव कटाक्ष-पात करना कितना नैसर्गिक अनुभाव है।

---

१. ऐसे राजपूत गरासिये कहलाते है, जिनका संबंध राजकुटुम्ब से होता है अथवा जिनको गाव की रक्षा का भार सौंपा जाता है और बदले मे उनको गाव की ओर से जागीरी में जमीन दी जाती है। विनीत-कोश, गुजरात विद्यापीठ। २. न. म. का सं., पृ ५३५। ३. न म प, के. का. शास्त्री, पद २१७। ४. न म. का. सं., पृ ३८९। ५ न. म. का. स, पृ १५६।

कृष्ण मार्ग अवरुद्ध कर गोपिका से दान मागते हैं। गोपिका प्रकट में तो कृष्ण के इस व्यवहार के प्रति रोष प्रकट करती है किन्तु भीतर से वह उन पर पूर्णासक्त है। वह कृष्ण को अपने यहा आमंत्रित कर गो रस तो क्या अपना तन मन और सर्वस्व न्यौछावर करने को तत्पर प्रस्तुत है। गोपिका की प्रेम-याचना द्रष्टव्य है —

मेहलो मन मोहन मारी मटुकी, महीडु छलकाय,
भिंज मारी नवरंग चुदडी, कानजी लागु तारे पाय, पालव मूकोनी पातळा
मटुकी से नारी नव मूकाए रे, तु छ फुटडी रे' नार, नहीं मूकु तारी मटका

*   *   *

दु खना दयाळ छो, श्रीनाथजी रे, सुखडु दो श्याम शरीर
कर जोडी यानवु श्यामळा, छाना मंदिर आवो व्रजनावीर

*   *   *

गोरस केरडा शा गजा, सोंप्या तन मन प्राण[१]

प्रत्यक्ष में सखियों के सामने हो कृष्ण ने किसी गोपिका की कंचुकी विदीर्ण कर बलपूर्वक रस ग्रहण कर लिया है। कवि ने कृष्ण के व्यापारों एवं गोपिका की चेष्टाओं का स्पष्ट निर्देश किया है। सूर ने जहाँ कृष्ण द्वारा गुप्त रूप में गोपियों से अंग-दान प्राप्त करने का उल्लेख किया किया है वहाँ नरसी ने प्रत्यक्ष रूप में ही कृष्ण द्वारा बलपूर्वक रस ग्रहण करने का चित्रण किया है। उदाहरणार्थ यहाँ एक पद प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें एक गोपिका के निषेध करने पर भी कृष्ण किस प्रकार उससे अपना प्राप्य प्राप्त कर लेते हैं —

अबर शें ताणो रे शें ताणो, हम तो अबळा बाळी,
मारगडो रोकीने उभा का बळिया वनमाली
पटोळी फाटी रे वहाला, चोळी कस ते तोडी,
कुचफळ ग्रहीने कानजिए, हृदीया साथे भीडी
अधर अमृत रस परे परे पीधा, मा मा मा तें करता,
भण नरसयो नयण नचावे आ सहियर ना देखता[२]

रस ग्रहण के समय गोपिका का 'मा मा मा' के रूप में कृत्रिम निषेध स्वीकार से भी अधिक आकर्षक प्रतीत होता है। काव्यशास्त्र की दृष्टि से यह चेष्टा कुट्टमित अनुभाव के अन्तर्गत आएगी।

सूर ने जिस भांति दधि बेचने निकली एक गोपिका का भावपूर्ण चित्र अंकित किया है, जिसमें वह 'दही लो' के स्थान पर 'गोपाल लो' कहती फिरती है, उसी भांति नरसी ने भी एक गोपिका की मन स्थिति का चित्रण किया है —

(अ) धरणीधर शु लाग्यु महारु ध्यान रे,
महीडु विसरी गयु लो कोई व्हाल रे[३]

किन्तु इसमें सूर के जितना भाव विह्वलता का अनुभूति नहीं होती है। यहाँ कवि ने भावानुकूल

---

१ पुन्डी→पुड (प्राकृत)→स्फुट (संस्कृत) = स्फटना युवती। २ न म म का स, पृ ४६४।
३ न म का म, ४६४। ४ न म का स, पृ २८८।

परिस्थिति की योजना के स्थान पर गोपिका से मात्र स्वदशा का वर्णन करवाया है, जो सूर के जितना विशेष प्रभावपूर्ण नही है। इसी भाव का नरसी का अन्य पद द्रष्टव्य है, जिसमे गोपिका की मटुकी मे से मुरली-नाद सुनाई पडता है एव गोपिका को मटुकी मे भगवान् मुरलीधर के दर्शन होते है —

भोळीरे भरवाडण हरिने वेचवा चाली;
सोळ सहस्र गोपीनो वाहालो, मटुकीमा घाली.
अनाथना नाथने वेंचे, आहीरनी नारी;
शेरीए शेरीए साद पाडे, ल्यो कोई मोरारी.
मटुकी उतारी मांही, मोरलो वागी;
व्रजनारीने सेजे जोतां, मूरछा लागी.
ब्रह्मादिक इन्द्रादिक सरखा, कौतुक ए पेखे;
चौद लोकना नाथने काइ मटुकीमां देखे.
गोवालणीना भाग्ये, प्रगट्या अंतरजामी;
दासलडाने लाड लडावे नरसैंनो स्वामी.[1]

यहाँ 'मटुकी' के 'शब्दरूपी मटकी', 'ब्रह्मरूपी मटकी', 'भक्त-हृदय रूपी मटकी' आदि कई आध्यात्मिक अर्थ भी लगाया जा सकते है, जिनमे एक ही ब्रह्म विविध रूपो मे विलसित हो रहा है।

इस प्रकार नरसी के दान-प्रसग के पदो मे भी विविध व्यापारो, चेष्टाओ, हाव-भावो तथा अनुभावो का चित्रण अवश्य मिलता है किन्तु प्रसग की क्रमिकता के अभाव मे भावो की सूक्ष्म एव विशद व्यजना अपेक्षाकृत कम हो पाई है। नरसी की गोपिकाएँ जहाँ प्राय. प्रगल्भा है वहाँ सूर की वचन-विदग्धा। अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी नरसी जहाँ प्राय वस्तु-प्रधान रहे है वहाँ सूर व्यग्य-प्रधान। किसी भाव विशेष के चित्रण मे सूर जहाँ पहले से उसके अनुरूप वातावरण तैयार करते है वहाँ नरसी प्राय उस भाव का शब्दश कथन करवा दिया करते है, जो उत्तम नही किन्तु अवर काव्य की कोटि मे आता है। इसी प्रकार व्यग्य, उपालभ एव वचन-वक्रता मे भी नरसी की अपेक्षा सूर विशेष पटु है।

६–हिडोला

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमे कृष्ण का गोपियो के साथ झूला झूलने का वर्णन किया गया है। वर्षाऋतु मे सर्वत्र हरियाली छा जाती है, तव सभी गोपागनाएँ ऋतु-अनुकूल सोलह-शृगार करके अपने प्रिय कृष्ण के पास जाती है और बारबार पाव पडकर उनके समक्ष अपनी झूलने की साध प्रकट करती है। सूर एव नरसी दोनो कवियो ने इस लीला का भाव-पूर्ण वर्णन किया है। सूर की गोपियाँ कृष्ण के सामने जा कर इस प्रकार अपनी इच्छा प्रकट करती है —

सूर

बार-बार पुनि विनय करति, मुख निरखति पाँइ परति,
पुनि पुनि कर धरति, हरित पिय के मन काजे॥

१. न. म का. सं., पृ २५६।

बिहँसति प्यारी समीप, घन-दामिनि-सम रूप,
हठ गहनि कहति बत, झूलन की साधा।
जमुन-पुलिन अति पुनीत, पिय इहाँ हिँडोर रचौ,
सूरज प्रभ हँसत कहति ब्रज-तरुनी राधा॥'

यहाँ कृष्ण को अनुकूल बनाने के लिए गोपियो की हाव-हेला रूप प्रमचेष्टाओ का बडा स्वाभाविक चित्रण हुआ है।

नरसी ने प्रिय के साथ 'केलि' करने के उत्साह का वणन और ही रूप म किया है। श्रावण के रम्य वातावरण स उद्दीप्त गोपियाँ कचुकी आदि स सुशोभित होकर अनेक हाव भावो को प्रकट करती हुई कृष्ण के पास जाती हैं और उनका हाथ अपने हाथ म लेकर अपनी झूलने की साध इस प्रकार प्रकट करती हैं—

नरसी

ओ सखी श्रावण आयो रे, ए श्रावण आयो रे, श्रावण आयो रे
चालो सखी झूलियें सुवण हिंडोळे, कीजे श्याम मन भायो,
हाव भाव रजन मनोहर, कचुकी ककन सोहायो रे
* * *
मन भायो देखी मन मोही, जई हाथ हरिनो साह्यो रे
* * *
मध्ये विराजे श्री स्वामिनीजी, जेनु सदा निरतर राज रे²

'रास', पनघट 'दान' आदि लीलाओं मे कृष्ण और गोपियो क परस्पर रीझने खीजने एक दूसरे को व्यग्य विद्ध करने और मधुर सलाप करने का चित्रण मिलता है, किन्तु इस लीला म इस प्रकार के परस्पर विरोधी भावो की अभिव्यजना नही हुई है। इसम एक ओर जहाँ चरित्र एव हाव भावो का स्वाभाविक चित्रण हुआ है वहा दूसरी ओर घटना का पर्याप्त अभाव है। सूर-वर्णित 'हिंडोल' का एक चित्र द्रष्टव्य है, जिसम हाव-हेला आदि विविध अनुभावो रूप सचारी तथा रोमाच सात्विक की बडी भाव पूर्ण अभिव्यजना हुई है। कृष्ण राधा को झुला रहे है। झूला बहुत ऊँचे पहुँच गया है, जिससे राधा डर के मारे मरी जा रही है। वह 'हा हा' करती हुई प्रिय से झूला धीमा करने की अन्यथा झूला रोकने की प्रार्थना कर रही है। राधा के अनुनयपूर्ण वचन कृष्ण के लिए और भी उद्दीपन का काम कर रहे है। वे और भी ऊचे पग बढाते जा रहे हैं। अत म राधा कृष्ण को कस कर पकड लेती है। ललिता चद्रावलि आदि सखिया राधा की इस दशा पर दूर खडी-खडी खूब हँस रही है—

हिँडोरैं झूलत स्यामा स्याम।
ब्रज-जुवती-मडली चहूँधा निरखत बिथकित काम॥
कोउ गावति, कोउ हरषि झुलावति, सब पुरवति मन साध।
कोउ सग मचति कहति कउ मचिहौं उपज्यौ रूप अगाध।

---

१ सू०,प ३४४७। २ न म का स, पृ ४३८।

कोउ डरपति, हा हा करि बिनवति, प्यारी अंकम लाइ।
गाढे गहति पियहिं अपने भुज, पुलकत अंग डराइ।
अब जनि मचौ पाइ लागति हौं, मोकौं देहु उतारि।
यह सुनि हँसत मचत अति गिरिधर, डरत देखि अति नारि।
प्यारी टेरि कहति ललिता सौं, मेरी सौं गहि राखि।
सूर हँसतिं ललिता चंद्रावलि, कहा कहति प्रिय भाखि।[1]

सूर ने झूलते हुए राधा-कृष्ण के सौदर्य का बडा ही भावपूर्ण चित्रण किया है। कवि ने दोनो को साथ झूलते हुए घन एव तडित से उपमित किया है —

तहँ कुँवरि वृषभानु कैं सँग, सौहैं नंदकुमार।
नीलपीत दुकूल स्यामल-गौर-अंग-बिकार।
मनहु नौतन घटा मैं, तडित तरल-अकार।
हँसि हाव भाव कटाच्छ, घूँघट गिरत लेति सम्हारि।

* * *

अध उरध झमकि झकोर इत उत, झलक मोतिनि माल।[2]

सूर ही की भाँति नरसी ने भी राधा-कृष्ण के वडे ही हृदयग्राही चित्र प्रस्तुत किए है। नरसी का हिंडोले का एक सुन्दर चित्र यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जिसमे राधा हा, हा करती हुई कृष्ण से झूला रोकने की विनती कर रही है। उसकी वेणी बिखर गई है, हार टूट गया है, वस्त्र खिसक गये है, अग नग्न हो गये है, सखियाँ नीचे खडी हुई हँस रही है। नरसी का यह चित्र अपेक्षाकृत अधिक भावपूर्ण, स्वाभाविक एव आकर्पक है। इसमे राधा का कृत्रिम कोप कितना मधुर प्रतीत होता है, जिसमे वह प्रिय की ढिठाई पर उनके साथ अपने सभी सवधो को विच्छिन्न करने को प्रस्तुत हो जाती है —

वृन्दावन नी कुंजगलनमां, श्याम हींडोळेरे हींचाय;
मारो वालो जी घाले घुमडली, गोपी हमची लेइ लेइ गाय रे.
मारा वाहलाजीसु वात करता, घुमरी थई दश वीश;
वेण वछूटी ने हार ज तूटचो, अंबर खशियां शीश रे.
हींडोळो राखो मारा वाहाला, अग उघाडां थाय;
मारी सहियेर सर्वे हास्य करे छे, तेमां तमारुं शुं जाय रे.
आवा निर्लज थया ते मे नवि जाण्या, लाडकवाया नाथ;
नहि वोलुं नहि चालु वाहाला, आज पछी तम साथे रे.[3]

एक गोपी की स्थिति तो राधा मे भी विपम हो उठी है। उसका वक्ष उघड गया है, मुद्रिका खो गई है, नूपुर पैरो मे गडने लगे है, हार-वेणी उलझ गए है, मौक्तिक-माला वक्ष मे गडने लगी है, पसीना छूट गया है और 'दुर्जन' उसकी यह स्थिति देख कर मन ही मन हँस रहे है —

१. सू०, प ३४५२। २. सू०, प ३४५६। ३ न म का. सं., पृ ४३८, ४३६।

घुमरडी घणा बोंझयी राखो, राखोजी कहु छउ रीसयी,
उर अबर उतरे शीशथी, मारी मुद्रिका नथी दीसती
मारे नेपुर खूचे चरणसु, राखो राखो छटा इश धरणसु,
नहि बोलु शामळ वरणसु करु विनति अशरणशरणसु
मारी वेणी गुचाई हारसु, उर गुची मुक्ता तारसु,
झुमणडु झाझा भारसु, मा हींडोळ झाझा खारसु
मारे स्वेद वछुटे ऊरथी, पेला दुरीजन देख दूरथी,
शें नहि राखो केनी लाजथी, नहि बालु नरहरि आजथी
एवा वचन सुणी हरजी हसे, हवे नहि बोलो तो शु थश,

* * *

राखी घुमडी अबळा उर धरी, ताहा मनगमता कीधां हरि[1]

नरसी न हिंडाल लीला में मुग्धा, विचित पक्ट पयाधरा प्रगल्भा आदि विविध गोपिया क साथ कृष्ण के विहार का वणन किया है। यहा एक एसी गोपिका का कवि ने चित्रण किया है जो इतनी काम-दुधर्षा एव प्रमत्ता है कि झूला झूलते समय वह कृष्ण का मत बिगाड देती है। वह पग बढ़ाती हुई झूले का ज्यो ज्यो ऊँचे ले जा रही है त्यो-त्यो कृष्ण का पीतपट खिसकता जा रहा है। इस स्थिति म वह मन-ही मन प्रसन्न होती हुई कृष्ण स पूछ रही है कि वनमाली कहो तो धीरे धीरे झुलाऊ। इस प्रस्फुट यौवना जोवनमाती अबला का उन्मत्त भाव अद्भुत है —

हींडोले हींचतां रङ्ग ज, मळया जादवराय रे,
घुमणडी घाले घणरी जम वहालो वश थाय रे
उलटी अबला जोवनमाती, कह्यु न माने कांइ रे,
कोपीत कमला, कंठे विलागी, वहाले दीधु साइ रे
सान करीने सामु जोयु, माहो माह दती ताली रे,
जो कहा तो हळवे हींचोळु, सुदिरवर वनमाळी रे
पातांबर ते पीयूजी करु, अगयो मलगु थाय रे,
तेम तेम तारुणी मनमां हरखे, उलट अग न माय रे[2]

सूर म इस भाव का पद हमे उपलब्ध नही हुआ है।

मेह की झडी म भीगत हुए कृष्ण-गोपियो के सौन्दर्य का नरसी ने अत्यन्त मार्मिक वणन किया है। सूर ने वर्षा का उद्दीपन क रूप म चित्रण किया है पर वर्षा की बौछार म भीगते हुए राधा-कृष्ण के सौन्दर्य का वणन उनके 'सूरसागर' म कहीं उपलब्ध नहीं होता है। वर्षा म भीगते हुए राधा कृष्ण के सौन्दर्य का नरसी ने इस प्रकार वर्णन किया है —

तमारु पितांबर अमारु चोर, भीजण लाग्या भींजायर,
कांचली मधे थथरा त्यां, हींचो हींचो डायां रे,[3]

---

१ न म का म, पृ ४६७। २ न म का म पृ ४८१। ३ न म का म, पृ ४८१।

सूर मे वर्षा का उद्दीपन के रूप मे वर्णन अवश्य मिलता है, किन्तु इस प्रकार राधा-कृष्ण दोनो के भीगते हुए सौंदर्य का चित्रण 'हिंडोला' प्रसग मे नही मिलता है।

'हिंडोले' के अद्भुत सौंदर्य एव लोकोत्तर-निर्माण का दोनो कवियो ने वर्णन किया है। विश्वकर्मा ने प्रभु की आज्ञा से इसका निर्माण किया है —

सूर

(अ) सुनि विनय श्रीपति विहँसि, बोले विसकरमा सुत-धारि।
खचि खंभ कंचन के रुचिर, रचि रजत मरुव मयारि।[1]

(आ) द्वै खंभ विसकर्मा वनाए, काम-कुंद चढ़ाइ॥
हरित चूनी, जटित नग सब, लाल हीरा लाइ।
वहुत विद्रुम, वहुत मुक्ता, ललित लटके कोर॥[2]

नरसी

अद्भूत शोभा रे हरिना हींडोलानी रे, शेवेवरणी न जाय;
विश्वकर्मा रे, रचीने आरोपीयो रे, कुंज भवननी मांय.
भारे अति दांडी रे हेम जडावनी रे, नंग छत्र झगमग ज्योत;
राधा ने माधव रे, हींचे रस भरां रे, रवि शशि कोटि उद्योत.[3]

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, इस प्रकारका लोकोत्तर वर्णन काव्यत्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न होने पर भी भक्ति-काव्य मे प्रभु के माहात्म्य-ज्ञान के लिए यह किसी अश मे अपेक्षित माना गया है, जिससे भजनीय के प्रति एक प्रकार का अतिमानवीय वातावरण बना रहता है। नारद-भक्ति-सूत्र मे कहा गया है —

तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः॥ २२॥

अन्य लीलाओ की भाँति नरसी इस लीला मे भी कृष्ण-गोपियो के मध्य स्वय को उपस्थित बताते हैं। अपने मधुर उपालभो एव उलाहनों से कृष्ण को प्रसन्न हुआ देख कर राधा निकट खडे नरसी को अपना 'एकावल' हार प्रदान करती है —

नहि बोलुं, नहिं चालुं वाहला, आज पछी तम साथ रे.
एवां एवां वचन सुणी हरि हसीया, रसिकवर सुकुमार;
प्रसन्न थया श्री स्वामिनिजी, नरसैयाने आप्यो एकावळ हार रे.[4]

यद्यपि नरसी ने 'हिंडोल-लीला' के वर्णन मे सभोग-शृगार की विविध चेष्टाओ, हाव-भावो अनुभावो एव उद्दीपन का वर्णन किया हे, तथापि सूर की भाँति विभिन्न उपमानो द्वारा उनमे भाव-विस्तार नही हो पाया है। राधा के हाव-भावो एव चेष्टाओ की सूर ने किस कलात्मक शैली मे अभिव्यजना की है, देखिए —

सुंदरी वृषभानु तनया, नैन चपल कुरंग॥
हँसति पिय सँग लेति झूमक, लसति स्यामल गात।

---

१. सू०, प ३४४८। २. सू०, प. ३४४६। ३. न म. का. सं., पृ. ४५४। ४. न. म. का. सं, पृ. ४३६।

मनौ घन मेँ दामिनी छबि, अंग मेँ लपटात ॥
कबहुँ पुलकति, कबहुँ डरपति, कबहुँ निरखति नारि।[1]

कवि का राधा के चपल नयनों को कुरंग के नयनों से तथा राधा-कृष्ण के आलिंगन को घन-दामिनी से उपमित करना अनुपम है। कवि ने यहाँ राधा के भय तथा पुलक का अतीव स्वाभाविक वर्णन किया है।

दोनों कवियों ने रसोद्दीपन के लिए नूपुरों के क्वणन, किंकिनियों के झंकार एवं कंकणों की खन-खनाहट का अतीव भाव-पूर्ण वर्णन किया है—

सूर

कनक नूपुर, कुनित कंकन, किंकिनी झनकार।
तहँ कुँवरि वृषभानु कैँ सँग, सौहैँ नन्दकुमार ॥[2]

नरसी

हींडोळे ने हींचे सुदर शामलो रे, हींडोले हींचोले व्रजनी नार रे,
मस्तके मुगट साहामणो रे काने काने कुंडल सार रे
झळके श्यामना शीर राखडी रे, लटक लटके मुक्ताफळना हार रे,
खलके खलके कंकण कंकणी रे, पाय पाये नेपुरनो झमकार रे
भामणडा लेती रे सर्वे सुदरी रे, हींडोले हींचना थयो छ अति रग रे,[3]

कवि भावों को अधिक अनुभूतिगम्य बनाने के लिए प्रकृति का पर्याप्त सहारा लेते हैं। हिंडोल लीला के समस्त क्रिया-कलाप प्रकृति के सुरम्य वातावरण में घटित होते हैं। सुंदर यमुना-तट झर मर घर मर बरसते मेह बादलों के बीच कभी-कभी चमकती विद्युत् दादुर, मोर पपीहे के स्वर ये सभी इस लीला के उद्दीपक विभाव हैं। सूर एवं नरसी दोनों ने उद्दीपन के रूप में प्रारम्भ से अन्त तक प्राकृतिक सौन्दर्य के रम्य एवं भावानुकूल चित्र अंकित किये हैं। उदाहरणार्थ दोनों की कुछ पंक्तियाँ यहाँ प्रस्तुत की जाती हैं—

सूर

जल भरित सरवर, सघन तरवर, इन्द्र धनुष सुदेस।
तहँ गगन गरजत, बीजु तरपत, मधुर मह मधेस।
झूलत विह्वल स्याम-स्यामा, सीस मुकुलित केस।

नरसी

सखी झरमर झरमर वरसे मेह, तम नामन नारा मन वाध मह,
लपन्हाइ ते मवडा मगे घुमसडी घाटा नाच सग

* * *

चतुरानो ते घोटी घमर, जम विज गगनमां चमके
मत्त मोर मधुरा टोक, कोयलडी मांडा कोर,

---

१ सु०,प ३५५३। २ सू प ३५५६। ३ न म का म,पृ ४८१। ४ सू,प ३५६०।
५ न म का म पृ ४२१।

१०—वसंत-लीला

यह वह लीला है, जिसमे गोपियाँ कृष्ण की आज तक की सभी शरारतो का वदला एक साथ चुका देती है। वसन्त-आगमन के साथ ही व्रज के वातावरण मे अपूर्व मादकता छा जाती है। सभी गोप-गोपियाँ एव अन्य व्रजवासी उन्मत्त हो कर कृष्ण के साथ फाग खेलते हैं। इस लीला की सवसे वडी विशेषता यह है कि इसमे कोई किसीकी मर्यादा अथवा पद का ध्यान नही रखता है। सभी भाव की एक सर्व-सामान्य भूमि पर पहुँचकर वसन्त-क्रीडाएँ करते हैं। सूर ने वसन्त-लीला मे मग्न व्रज को उस समुद्र से उत्प्रेक्षित किया है, जो अपनी समस्त मर्यादाओ को छोड चुका है—

(अ) भरित रंग रति नागरि राजति, मनहुँ उमँगी वेला वल फोरी।[1]

(आ) मानहुँ प्रेम-समुद्र सूर वल, उमँगि तजी मरजाद।[2]

दोनो कवियो ने राधा-कृष्ण एव गोपियो की वसन्त-क्रीडा के विविध व्यापारो एव भावो का वडा ही भावपूर्ण वर्णन किया है। यद्यपि भावाभिव्यक्ति मे दोनो प्राय समान ही रहे हैं, तथापि अमर्यादित शृगार-योजना मे नरसी अपेक्षाकृत आगे है। यहाँ कुछ उद्धरणो द्वारा दोनो की भावाभिव्यक्ति पर प्रकाश डाला जाता है।

प्रकृति के रम्य एव उन्मादक वातावरण से सूर इस लीला को प्रारम्भ करते है। मृदग, वीन, डफ, मुरली आदि विविध वाद्यो की तुमुल ध्वनि मे कृष्ण अपने सखाओं के साथ जहाँ होली खेलने मे मग्न है, वहाँ गोपियाँ भी जा पहुँचती है और गालियाँ देने लगती है। फिर एक ओर कृष्ण एव सखा तथा दूसरी ओर गोपि-वृन्द एक दूसरे पर अवीर, गुलाल आदि की झोलियाँ भर-भर कर फेकते हैं। खूव छीना-झपटी होती है, उसमे कृष्ण के हाथ से राधा की कचुकी की कस टूट जाती हैं। कृष्ण की इस शरारत से खीझकर राधा रूठकर चली जाती है। तव एक सखी उसके पास जाकर समझाती है कि खेलने मे रूठना कैसा ? वसन्त का यह अनुपम चित्र कवि के शव्दो मे द्रष्टव्य है—

ऊँचौ गोकुल नगर, जहाँ हरि खेलत होरी।
चलि सखि देखन जाहिं, पिया अपने की खोरी॥
वाजत ताल, मृदंग और किन्नरि की जोरी।
गावति दै-दै गारि, परस्पर भामिनि भोरी॥
वूका सुरँग अवीर उड़ावत, भरि-भरि झोरी।
इत गोपिन की झुंड, उतहि हरि-हलधर-जोरी॥
नवल छवीले लाल, तनी चोली की तोरी।
राधा चली रिसाइ, ढीठ सौं खेलै कोरी॥
खेलत मैं कस मान, सुनहु वृपभानु-किसोरी।
सूर सखी उर लाइ हँसति, भुज गहि झकझोरी॥[3]

---

१. सू०, प ३४८६। २. सू०, प ३४८७। ३. सू०, प ३४८८।

नरसी की वसन्त क्रीडा का एक चित्र द्रष्टव्य है जो भाव की दृष्टि से देखा जाए तो सूर के उपयुक्त पद से अधिक साम्य रखता है। सभी गोपियाँ वृन्दावन में जहाँ कृष्ण होली खेल के आनन्द में डूबे हुए हैं वहाँ पहुँच जाती हैं और उन पर अबीर गुलाल और केसर छांटती हैं। ताल-नृत्य एवं हास्यध्वनियों के आह्लादपूर्ण वातावरण से सर्वत्र मादकता सी छा गई है। मदमस्त गोपियाँ तालियाँ बजा-बजा कर हँस रही हैं और कृष्ण हर्षित हो कर उनके साथ होली खेल रहे हैं—

> चालो सखी वृंदावन जइए, जहाँ गोविंद खेले होळी,
> नटवर वेष धर्यो नदनदन, मळी माननीनी टोळी
> एक नाच एक ताल बजाड, एक केसर छांट घोळी,
> एक अबील गुलाल उडाड, एक अमममां भमे छे मोळी
> मदमां छकेली छानु छानु बोले, अबळा बनी मतवाळी,
> एक एक मांहे करे मरकडला, हसी हसी ले करताळी
> वसतऋतु वृदावन मांहे, फूल्यो फूल्यो फागण मास,
> हरखे हरजी होळी रमे छ, त्यां जुवे नरसयो दास[1]

पद के अन्तिम चरण के 'त्यां जुवे नरसयो दास' उल्लेख से नरसी स्वयं को इस लीला में भी रास, दान पनघट आदि की भाँति उपस्थित बता रहे हैं।

गोपिकाओं ने कृष्ण पर रंग छाटकर और गालियाँ देकर ही चैन नहीं ली। अपितु आज पहले कृष्ण ने उनको जितना सताया था उसका पूरा बदला ले लिया। उन्होंने कृष्ण को पकडकर गोपिका के वस्त्राभूषण पहना दिये और फिर उनकी खूब गत बिगाडी। दोनों कवियों ने होली के इस महत्त्वपूर्ण अंग का अपनी अपनी कल्पना के आधार पर चित्रण किया है। दोनों के वर्णन में भाव की दृष्टि से साम्य होने पर भी वर्णन की दृष्टि से पर्याप्त वैषम्य भी है। सूर के वर्णन में जहाँ नन्द बाबा यशोदा को भेजते हैं जो वस्त्र मेवा आदि नेग देकर कृष्ण को गोपियों की पकड से छुडवाती है वहाँ नरसी के वर्णन में राधा को कृष्ण एवं कृष्ण को राधा के वेष में सुसज्ज कर गोपियाँ उनको वर-वधू के रूप में आगे कर गाती-बजाती नन्द महर के द्वार पर आती है। यशोदा इस अनुपम जोडी को देख कर मुग्ध हो जाती हैं और दोनों की नमक से आरती उतारती हैं। नरसी का चित्र सूर की अपेक्षा अधिक प्रभावोत्पादक है। कृष्ण के पैरों में नूपुर नाक में नथ तथा कटि मे मेखला धारण करवाने के साथ ही कंचुकी मे दो पुष्प रखना भी गोपियाँ नहीं भूली हैं। यहाँ सूर एवं नरसी दोनों के पद दिये जाते हैं—

सूर

> (ब्रज जुवती मिलि) नागरि, राधा पै मोहन ले आई।
> लोचन आँजि भाल बेंदी दै, पुनि-पुनि पाइ पराई ॥
> बेनी गूँथी, माँग सिर पारी, बधू-बधू कहि गाई।
> प्यारी हँसति देखि मोहन-मुख, जुवती बने बनाई ॥

---

[1] न म का स, पृ २२४।

स्याम-अंग कुसुमी नई सारी, अपनैं कर पहिराई ।
कोउ भुज गहति, कहति कछु कोऊ, कोउ गहि चिबुक उठाई ।
एक अधर गहि सुभग अँगुरियनि, बोलत नहीं कन्हाई ।
नीलांबर गहि खूँट-चूनरी, हँसि हँसि गाँठि जुराई ॥
जुवती हँसति देति कर तारी, भई स्याम मन-भाई ।
कनक कलस अरगजा घोरि कै, हरि कैं सिर ढरकाई ॥
नंद सुनत हँसि महरि पठाई, जसुमति धाई आई ।
पट मेवा दै स्याम छुड़ायौ, सूरदास बलि जाई ॥[१]

नरसी

प्राणजीवनने घेरी करी, वळीओ भीड्यो बाथे;
केशर गोळी ढोळी ने, साही रह्या बे हाथे.
पीतांबर पट लइने, हास्य करे सर्व नार;
गमतो गमतो करशु रे, शामळा सकल शणगार.
नलवट टीली कीधी रे, नेणे काजल सार;
शीष फूल राखडी, झलके रे, मोती माय अपार.
नाके वेसर घालतां, रमतां नाना भाव;
कंकण चूडी खलके रे, हार हेम जडाव.
पटोळी अति ओपती, फुमक फरके माहे;
नेपूर पाये रणजणे, कटी मेखला झणकार.
लटके बाहु लोढावोजी, झांझरने झमकार;
मुखडुं जोतां मानुनी, मोही रही मनमाहे.
एक आवी आगळ धरे, नीरखोजी दर्पण मांहे;
शामळानो वेष शामाने कीधो अति आनंद;
शोभा कही नव जाय रे, जोडे नंदानंद.
वाजां वाजते चाल्यां रे जूवती जीवन संग;
आव्यां नंदजीने आंगणे, माताजी फूल्यां अंग.
जोडु सुंदर शोभतुरे, गोपी मंगल गाय;
मुक्ता थाळ वधावीने, मीठडा कीधा माय.[२]

अपने अनुज की इस स्थिति पर वस्त्र की ओट में मुँह कर बलराम एव अन्य गोप-गोपियाँ सभी हँस रहे है —

मुख अंबर लइ हलधर हसीया, गोपीगोवाळा साथेरे.[३]

---

१ सू०, प. ३४६७। २ न. म का म, पृ. २२८। ३. न. म. का. मं, पृ २३२।

इससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे कृष्ण की माखन चोरी, पनघट, दान आदि के अवसरों की सभी उद्दण्डताओं एवं धृष्टताओं का गोपियों ने एक साथ पूरा बदला ले लिया है। सूर की गोपियाँ तो कृष्ण को उनकी पहले की शरारतों की याद दिलाती हुई कहती हैं कि कृष्ण क्या तुम उन दिनों को भूल गये हो जब तुमने यमुना-तट पर हमारे चीर हरण किये थे और हमारे घरों में घुसकर तुमने माखन चोरी की थी। अब तौर लेने की हमारी बारी आ गई है। राधा गोरी के पीछे पड़ा रहा तो इस समय और भी तेरा बिगड़ जाएगा —

तब तुम चीर हरे जमुना-तट, सुधि बिसरे माखन चोरी की।
अब हम दाउँ आपनी लहौं, पाइ परो राधा गोरी की।[1]

इस घटना के पश्चात् अचानक भूली भटकी कोई गोपिका मार्ग में कृष्ण को अकेला मिल गई। फिर क्या था? कृष्ण ने अवसर देखकर गोपियों के कृत्यों का बदला ब्याज के साथ चुका दिया। कृष्ण ने उसके उरप्रदेश पर ककरा मारा, गले का हार उतार लिया और गाढ़ालिंगन से उसके सारी की कंचुकी विदीर्ण कर दी। नरसी के ही शब्दों में गोपिका की स्थिति द्रष्टव्य है —

हारे हारे कांकरडोरे, कांकरडो रे मुज उरपर नांख्यो रे,
करशुं राय जशोदा आगळ, एवडुं कोण सांपरे,
शा माटे शामळिया वहाला, अधर सुधारस पीधो रे,
शामाटे शामळिया वहाला, हार हैयानो लीधो रे
तोड्यु हेतो शामळियाने, फाटी नवरंग चोळीरे,
नरसैयाचा स्वामी कहुं सखने, अमो नथी कांइ भोळीरे[2]

जैसा कि पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है, नरसी में शृंगार के अमर्यादित भाव अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में उपलब्ध होते हैं। होली क्रीड़ा में पराजित हो जाने पर कृष्ण इतने खीझ उठते हैं कि पास में नृत्य करते एवं गोपिकाओं के वस्त्र ऊपर उछाल देते हैं। कवि ने इस प्रसंग का अभिधात्मक वर्णन इस भाँति किया है —

आवो हरि होळी रमवा वृंदावनमां, जई वायो वयोधा लीज,
कोण हारे काण जीते मारा वहाला, काण सपराणु दीसे
लडथडता नाचे बाय भुज भीडी, हसी हसी दे करताली,
होहाहोहो हरजो हार्या, कहेतो परस्पर वाळी
वरवा विठ्ठल गोवाळ बोलावे, वस्त्र लीधां रे उचाळी,
नगन नारी नाच वन माहे, मे लो मे लो वनमाळी[3]

नरसी ने जार रति के भावों का भी वसन्तलीला में स्पष्ट निर्देश किया है। एक गोपिका इसलिए बेचैन है कि कृष्ण अन्य दिन उससे छेड़ छाड़ करते हैं और भाभी इस बात को लेकर प्रतिदिन तानें मारा करती है। यह सब कुछ उसके लिए असह्य हो पड़ा है —

प्रीतलडी करता शुं कीधी, कठण पडी छे हावु रे
आज अमोने मयरियामां, भाभीए मेणां दीधां रे

---

१ सू० प० ३४८०। २ न० म० का० स०, पृ० २८। ३ न० म० का० स०, पृ० ६०५।
४ न० म० का० स०, पृ० ८।

११–संभोग के अन्य भाव

'सूरसागर' मे राधा-कृष्ण की वय सधि मे उद्भूत अनेक भाव-सन्धियो की व्यजना विस्तृत रूप मे मिलती है। सूर ने राधा-कृष्ण के प्रेम की प्रारम्भ से चरम दशा तक की स्थिति का वडा सूक्ष्म एव भावपूर्ण वर्णन किया है। इसके साथ ही उन्होने राधा-कृष्ण की मधुर-चेष्टाओ एव क्रिया-कलापो को लेकर यशोदा, वृषभानु-पत्नी, गोपिकाओ आदि के मानस-पटल पर प्रतिक्रिया रूप जो विविध भाव उत्पन्न होते है, उनका भी सूक्ष्म चित्रण किया है। इस प्रकार सूर अपनी भाव-योजना मे अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है।

नरसी प्रमुख रूप से शृगार के कवि होने पर भी उनमे सूर की भाँति राधा-कृष्ण की वय-सधि मे उत्पन्न भाव-सन्धियो तथा उनको लेकर यशोदा आदि मे उत्पन्न विविध भावो का प्राय अभाव-सा है। उसमे वय सन्धि के स्थान पर प्राय प्राप्तवयस्का राधा एव गोपियो की प्रेम-चेष्टाओ, हाव-भावो, अनुभावो एव क्रिया-कलापो का ही वर्णन मिलता है। दूसरी वात यह है कि नरसी मे जो शृगार से सम्बद्ध पद उपलब्ध होते है वे 'चातुरीओ' के अतिरिक्त प्राय सभी स्फुट रूप मे ही उपलब्ध होते है। सूर ने 'भागवत' के आधार पर प्रसगो की क्रमबद्ध मुक्तक-गेय शैली मे पद-योजना की है। अत एक ओर उनके पद मुक्तकवत् है तो दूसरी ओर प्रसग की दृष्टि से भी एक-दूसरे से सम्बद्ध है।

कृष्ण का राधा के साथ परिचय व्रज की गली मे अचानक खेलते समय हो गया था।[१] प्रथम मिलन के समय ही कृष्ण की मधुर वातो मे राधा[२] एव राधा की भोली चितवन मे कृष्ण[३] इस प्रकार उलझ जाते है कि एक-दूसरे से मिले विना किसीको चैन नही। इस घटना के पश्चात् वे किसी न किसी मिस आगे एक दूसरे से मिलते ही रहते है। कृष्ण ने एक वार राधा को खरिक मे गाय दुहने वुलाया। राधा के मुग्ध हृदय मे इस समय एक ओर जहाँ कृष्ण से मिलने की तीव्र उत्कण्ठा विद्यमान थी, वहाँ दूसरी ओर माता-पिता के भय से भी वह त्रस्त थी। राधा की उत्कण्ठा एव भय की इस द्वन्द्वात्मक मन स्थिति का चित्रण सूर ने इस भाँति किया है —

> नागरि मनहि गई अरुझाइ।
> श्याम सुंदर मदन मोहन, मोहिनी सी लाइ।
> चित्त चचल कुँवरि राधा, खान पान भुलाइ।
> कवहुँ विलपति, कवहुँ विहँसति, सकुचि वहुरि लजाइ।
> मातु पितु को त्रास मानति, मन विना भई वाइ।
> जननि सौं दोहनी माँगति वेगि दै री माइ।
> सूर प्रभु कौं खरिक मिलि हौं गये मोहिं वुलाइ।[४]

प्रेम की आरम्भिक दशा मे चित्त का प्रिय से मिलने को चचल होना, भोजनादि पर से उसकी रुचि का हठ जाना, कभी हँसना, कभी विलाप करना और फिर अपनी यह विचित्र दशा देखकर अपने आप ही लज्जित होना, तथा इष्टप्राप्ति मे माता-पिता को वाधक देखकर भयभीत होना

---

१. सू०, प १२९०। २ सू०, प. १२९१। ३ सू०, प १२९०। ४ सू०, प १२९६।

आदि राधा की जिन चेष्टाओं का उपर्युक्त पद में वर्णन किया गया है वे सभी प्रेम की प्रारम्भिक दशाएँ हैं। इसके पश्चात् राधा जब खरिक पहुँचती है तब वहाँ अपने प्रिय को न पाकर एकदम विह्वल एवं चचल हो उठती है और अन्त में जब नन्द के साथ कृष्ण को आते हुए देखती है तभी उसे चैन पड़ता है—

कब देखौं वह मोहन-मूरति, जिन मन लियौ चुराइ।
देखे जाइ तहा हरि नाहीं, चकृत भई सुकुमारी।
कबहूँ इत, कबहूँ उत डोलति, लागी प्रीति खँभारि।
नंद लिए आवत हरि देखे, तब पायौ बिस्राम।[1]

राधा की मुग्ध-दशा के हाव भावों एवं अनुभावों का सूर ने यहाँ बड़ा ही स्वाभाविक वर्णन किया है। राधा के साथ ही सूर ने कृष्ण प्रेम का भी समानान्तर विकास बताया है।[2] खरिक में गो-दोहन करते समय एक धार दोहनी में और दूसरा राधा के मुख पर छाटना, दूध दुहन के बाद भी राधा को बहुत समय तक खूब खिझा कर दोहनी देना[3], आदि कृष्ण की प्रेम चेष्टाओं का सूरसागर में बड़ा ही सजीव वर्णन मिलता है।

दुग्ध-दोहन के पश्चात राधा जब श्याम से विदा होती है तब उसकी मन स्थिति कुछ इस प्रकार की विचित्र-सी हो जाती है कि उसके पैर हो घर की ओर नहीं उठ पाते हैं।[4] वह किसी भी भाँति वहाँ से चलने लगती है तो बारबार कृष्ण को देखती है[5] और अन्त में कृष्ण के दिखाई न देने पर मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है।[6] सखियों द्वारा मूर्च्छा का कारण पूछे जाने पर वह इस प्रकार कारण स्पष्ट करती है—

यह बानी कही सखियनि आगे, मो कौं कारे खाई।
* * *
वह कारौ सुत नंद-महर कौ, सब हम फूँक लगाई।

नरसी के भी एक पद का भाव कुछ इसी प्रकार का है। एक गोपिका अपनी पीड़ा का कारण स्पष्ट करती हुई कहती है कि उसे कृष्णरूपी सर्प ने डस लिया है—

विठ्ठल रह्यो रे वसी, मारे मन विठ्ठल रह्यो रे वसी।
* * *
कालुडो कळीएर नाग छ रे, मारा हदीय रे रह्यो डसी।[8]

इस प्रकार सूर ने राधा-कृष्ण के वय सधि-जन्य विविध भावों का सूक्ष्म अंकन किया है। ये ही भाव उनकी रास 'पनघट लीला', 'हिंडोला एवं वसंत लीलाओं में क्रमशः किस भाँति पुष्ट होते हैं इसका विवेचन इसी अध्याय में पहले विस्तारपूर्वक किया गया है। राधा का मौग्ध्य प्रेम 'वसंत-लीला' तक इतना गम्भीर सपुष्ट एवं प्रगल्भ बन जाता है कि अपने साथ होली खेलने के लिए आह्वान करते समय वह कृष्ण को गालियाँ देने में भी किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नहीं करती है—

१ सू०, प १२६७। २ सू०, प १३२४। ३ सू०, प १३८८। ४ सू०, प १३४६।
५ सू०, प १३४७। ६ सू०, प १३४८। ७ सू०, प १३४८। ८ न म का म, पृ ५२२।

(आली री) नंद-नँदन वृषभानु-कुँवरि सौं बाढ्यौ अधिक सनेह।
दोउ दिसि पै आनँद वरषत ज्यौं भादौं को मेह ॥
सब सखियाँ मिलि गईं महरि पै, मोहन माँगै देहु।
दिना चारि होरी कैं अवसर, बहुरि आपनौ लेहु ॥
झुकि झुकि परति हैं कुँवरि राधिका, देंति परस्पर गारि।
अब कह दुरे साँवरे ढोटा, फगुआ देहु हमारि ॥
हँसि हँसि कहति जसोदा रानी, गारी मति कोउ देहु।[1]

तात्पर्य यह कि सूर ने राधा को हर्ष, आनन्द, रस, विनोद, कौतुक तथा गूढ और गम्भीर प्रेम की दिव्य साकार मूर्ति के रूप मे चित्रित किया है। डा हजारीप्रसाद द्विवेदी सूर की राधा के चरित्र के सम्बन्ध मे लिखते है—"राधिका के चित्र मे 'प्रेम' का 'अथ' से 'इति' तक सर्वस्व निहित है।"[2]

नरसी का भाव-गुफन सूर के जितना सूक्ष्म, क्रमिक एव विशद न होने पर भी उसमे सभोग के विविध भावो, मन स्थितियो, आदि का अनेक रूपो मे चित्रण मिलता है। यहाँ कुछ उदाहरणो द्वारा इस विषय पर विचार किया जाता है।

प्रेम की पराकाष्ठा प्रेमी का अपने प्रिय मे तल्लीन हो जाना है। नरसी ने इस स्थिति के कई उत्तम चित्र प्रस्तुत किये है। यहाँ एक चित्र द्रष्टव्य है, जिसमे एक गोपिका मधुर मुरली सुनकर कृष्ण मे इस भाँति खो गई है कि वह विना दोहनी के ही गाय दूहने वैठ गई है और वछडे के स्थान पर उसने अपने वालक ही वाँध लिये है—

तारी मोरलीए मन मोह्यां रे, घेली थइ गिरधरिया.
दोणी विना हुं दोवा रे बैठी ने साडी भींजी नव जाणी;
वाछडां ने वरासे बेठां, में तो वाळक वांध्यां ताणी रे.[3]

नरसी ने कृष्ण के रसिक रूप के कई चित्र अकित किये है। वे इतने नटखट है कि चाहे कही किसी भी गोपिका के पास पहुँच जाते है और उससे अपना प्राप्य प्राप्त कर लेते है। कृष्ण एक गोपिका को अटारी पर अकेली खडी देखकर चुपके से उसके पास पहुँच जाते है और उसके निषेध करने पर भी उससे वरवस रस-ग्रहण कर लेते है—

आज हुं एकलडी, अगाशीए वेठी;
अरीसे आभ्रण जोती, कहानजीए दीठी.
नयनां नचावो मोरे मंदीरिये चढीओ;
निर्लज लंपट एवो नंदनो नाधडीओ.
रहोजी रहोजी करतां राढ ज कीधी;
नरसैयाचे स्वामीए उरपें धरी लीधी.[4]

कृष्ण का नयन नचाना एव गोपिका का निषेध करना सभोगावस्था के अनुभाव है।

---

१ सू., प ३४८३। २ सूरसाहित्य, पृ. १२१। ३. न म का. स., पृ. ५२०।
४ न म का सं, पृ. ५८४, ५८५।

नरसी ने सभोग के विविध भावो के आधार पर कई स्फुट पदो की योजना की है। इनमे से कई पदो के भाव ऐसे भी है, जिनका अन्य कृष्ण-कवियो म मिलना बडा कठिन है। उदाहरणार्थ यहाँ एक गोपिका की भाव-दशा द्रष्टव्य है जो पहली बार कृष्ण को देखकर इतनी मुग्ध हो जाती है कि वह स्वय को रोक नही पा रही है और बरबस उनके पास खिची हुई चली जा रही है। वह और कुछ नही, नाम पूछकर उनका सान्निध्य प्राप्त करने की अपनी उत्कट लालसा प्रकट करती है —

> वाहला ताहरु नाम शु, केहेने अमशु रे,
> सुदर रूप जोई जाई वाहला, ताहरे पायलीए नमशु रे
> कोण उपाय करी माहरा वाहला, ताहरे मनमे गमशु रे,
> नरसयाचा स्वामी व दावनम, तुज केडे अम भमशु रे[1]

गोपिका कृष्ण से अपना प्रेम बढाने का उपाय स्वय कृष्ण से ही पूछ रही है और व दावन म सदा उनके साथ विहार करने की अभिलाषा व्यक्त करती है। नरसी के इस प्रकार के भाव पूर्ण पद स्वाभाविकता एव माधुर्य मे सूर से किसी भी प्रकार न्यून नही हैं।

इसी प्रकार का एक अन्य प्रसग लीजिए जिसम कृष्ण मुस्कुराकर किसी गोपिका की ओर ठिठककर देख भर लेते हैं और फिर बासुरी बजाते हुए वहा से आगे बढ जाते है। गोपिका पर इसका इतना प्रभाव पडता है कि वह मुग्ध होकर उनके पीछे पीछे हो लेती है —

> मरकलडे मोहन ने मोहिली, मायलु चित ते चलोउ रे,
> आगणडे आवी ने वहालो, मीट भरी भरी जोउ रे
> वासलडी वहातो परवरीयो, हु तो केडे चाली रे,
> कृष्ण, कृष्ण भणती, घुघट मेहेलो टाळी रे
> मुखडु जोती जाती जीवन, केमे तृप्त न थावा रे,[2]

नरसी ने ऐसी कई गोपिकाओ के मनोभावो की अभिव्यजना की है जो सोलह शृगार करके अनेक चेष्टाओ से प्रिय को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करती हैं। एक गोपिका अपने नूपुरो के मधुर झकार के साथ थनगनती प्रिय के पास जाती है और ज्यो-ज्यो प्रिय उसके सामने अधिक से अधिक आकृष्ट होकर देखने लगते है त्यो-त्यो वह अधिकाधिक आगिक चेष्टाएँ करने लगती है। गोपिका को अपने सौन्दर्य पर बडा गर्व है। उसे अपने पर इतना विश्वास है कि वह 'अग मरोड' मात्र से मुनियो को भी मोहित कर सकती है —

> थनगन थनगन करती हीडु, झाझरीआ झमकावु रे
> जम जम पियुजी सामु जोय, तम तम अग नचावु रे
> पियु कारण मे शणगार कीधुला, माग सिदुरे साही रे
> अलवे उभी, आटम मोडु मुनी जनना मन मोही रे
> सुदरीयाधा स्वभाव एसा, तज त्रिभोवन मावे रे[3]

---

१ न म का स, पृ ४६०। २ न म का स, पृ ३८६। ३ न म का स, पृ २ ४।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से यहाँ रूपगर्विता गोपिका द्वारा 'मद' अनुभाव की सुन्दर अभिव्यजना हुई है। प्रिय को आकृष्ट करने के लिए गोपिका का अग नचाना, 'थनगन-थनगन' करके चलना आदि भी अनुभाव के अन्तर्गत ही आएँगे। नरसी मुख्यत प्रेम-तत्त्व के ही कवि (Poet of Love) है। उन्होने सभोग-शृगार के वर्णन मे अमर्यादित स्थूल-भावो का भी खुल कर चित्रण किया है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ पद प्रस्तुत किये जाते है जिनमे स्थूल-शृगार की प्राय सभी अमर्यादित चेष्टाओ तथा हाव-भावो की अभिव्यजना हुई है—

(अ) चोलिया, चा कशण म छोडिश-कुचफल नहि तम जोग्य रे;
नवज्योवन कांइ अनग न जागे, रति विना, रंग न लागे रे.
एवां एवां वचन शुणी श्यामानां, रदया भीतर लीधी रे;
नारसियाचो स्वामी प्रथम समागम विविधपरें क्रीडा कीधी रे.[1]

(आ) हळवे हळवे धंधोट रे, भांजिश रे, कटि क्षीणी रे.
अधुर डशी राता किउला, जाणे कुंकुम चेवा नें.
घोली नाख्या दुरिजन कांइये विचारे, शम खाता नव्य माने रे,
च्यार पोहोर निशा, नयण उजागरा, मान मागी कर जोड्.
नारसियाचा स्वामी, तमारी शेज्यें ज्ये भीडो ते थोड्.[2]

प्रथम पद मे राधा एव द्वितीय मे किसी गोपिका के निषेध मे भी मिलन की तीव्र इच्छा का रूप और भी निखर उठा है। निषेध-वचनो ने उद्दीपन का ही काम किया है। द्वितीय पद की अन्तिम पक्ति मे ऊपर से निषेध करने पर भी गोपिका आलिंगन को ही तृप्ति का कारण बताती है। प्रथम पद मे राधा-कृष्ण के प्रथम समागम का चित्रण किया गया है।

अपने प्रिय के साथ रमण करते हुए एक गोपिका को रात्रि भी छोटी प्रतीत होती है। गोपिका की खीझ मे भी कितना माधुर्य है—

रातलडी नहि पोहेंचे रे, रसिया आनंद आव्यो रे;
पियुनो प्रेम घणो रे सजनी, मन्मथ मोह उपजाव्यो रे.
माझम राते ने हुं पियु साथे, कंठे विलाइ ने सूती रे;
पियुनो कर कुच उपर मेली, एणीपेरे नीशा निरगमतीरे.
कह्यु न माने जादवरायो, नीशदिन देहडी पीडे रे.[3]

इस पद की प्रथम पक्ति पढते हुए भवभूति की वह पक्ति याद आती है, जिसमे राम सीता के साथ अपने वनवास-काल के सुखद क्षणो का स्मरण करते हुए बोल उठते है, 'अविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरसीत्'[4]। सूर में इस कोटि के एकदम प्रगल्भ स्वच्छन्द सभोग के भावो का प्राय. अभाव ही दृष्टिगत होता है। इसी भाँति एक अन्य पद और लीजिए, जिसमे एक प्रगल्भा गोपिका कृष्ण से आलिंगित होने का बहाना ढूँढती है। झरमर-झरमर मेह बरस रहा है। गोपिका

---

१. न म. प, के का शास्त्री, प. ३४६। २ न. म प, के का शा., प. ३५४।
३. न. म. का सं, पृ ५८६। ४ उत्तररामचरित, १-२७।

की 'चुदडी' भीग रही है। शीत के मारे वह थर थर काँप रही है। ऐसे समय वह कृष्ण से विनती कर रही है कि शीत निवारण के लिए या तो व उसे कम्बली ओढ़ावें या फिर उसे आलिगन प्रदान करे —

कामळो ओढाडो रे काहान, मारी चुदडी भाजे,
नहीं का मुने हृदया भीडो, अग उधाडु धूजे रे,
स्नेह धरी ने शामलीया वाहला, रग भर साइडा लीज,
कठ धरीने बाहोलडी रे, अधुर अमतरस पीजे रे,
झरमरीओ आ मेहुलो वरसे, दादुर जोरे टहुके,
नरसयाचा स्वामीना सगममा, मेघ ने वीज झबुके रे,[1]

नरसी ने एक ऐसी गोपिका की मन स्थिति का मधुर एव स्वाभाविक चित्रण प्रस्तुत किया है, जो कृष्ण मे इतनी आसक्त है कि जिस दिन कृष्ण स उसकी बातचीत नही हो पाती है वह सारा दिन बेचैनी मे ही व्यतीत होता है। उस दिन उस न घर म चन है और न बाहर। कृष्ण स साक्षात्कार होन पर गोपिका अपन मम को उनके सम्मुख किस प्रकार प्रकट करती है देखिए —

एकवार आखा दीन माहे वाहला, तमशु वात न थाय,
कामकाज मारे चित ना आवे, मदोरमा न सोहाय रे
जाहेर तमशु प्रीत बधाणी, ते कहे ते सोहाये,
छानो स्नेह ते मीठो लागे, प्रगट थये पत जाये रे
एकवार एकाते रमता बाहेलडी कठ सोहाये,
वाळी वाळीने आलिगन लीजे, तव हर्दीया टाढु थाये रे
सुदरीयाचा स्वभाव एवा, पीयुजी विना न सोहाये,
नरसयाचा स्वामीनो स्नेह म जाशो, लागु तमारे पाये रे।[2]

नरसी ने सभोग शृगार की अभिव्यजना मे कृष्ण क अलौकिक माहात्म्य का उल्लेख किया है वह एक भक्त के अनुरूप ही है। एक गोपिका कहती है कि सात समुद्र, नवखण्ड पृथ्वी एव सुमेरु जिनके मुख म अवस्थित हैं, उन कृष्ण का भार कुसुम जितना भी नहा है। मैंने अनायास ही उन्ह उस कमल भ्रमर को अपने हृदेश म धारण करता है वस ही हृदय पर धारण कर लिया है —

मारा वालाजो मा कुसुमचो भार नहीं रे, ते कहो कवण विचार रे सजनी
सात शाह्गर ने नवखड प्रपची, मेरु शिखर मुख माहे
एटला शेहत वालाजो ने उर पर लीधो भमर कमल जिम रह्यो रे[3]

जसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है नरसी मधुर रति म जार प्रम का ही सर्वोत्कृष्ट मानते हैं। उन्होंने स्वकीय की अपेक्षा परकीय भाव व प्रेम को ही अधिक श्रेष्ठ माना है। इसी लिए उनके सभोग क पदो म जार प्रेम के भाव अपेक्षाकृत अधिक मिलते हैं। एक उदाहरण

१ न० म० का० स०, पृ २६७। २ न० म० का० स०, पृ ३०२। ३ न० म० प०, के० का० शा० पृ १६६।

यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जिसमे गोपिका प्रात काल होने पर कृष्ण से अपना आँचल छोडने की विनती कर रही है, क्योकि फिर अधिक विलम्ब होने पर घर सास, ननदी और पति उस पर रुष्ट हो जाएँगे —

मेहेल्य, पीतांवर, अंबर माहरुं
सूर उगे क्यम शूंई रहिए ?
अम घेर शाशुडी नणद रीशालवां
कंथ पूछ तेनों शुं रे कहिये ?[1]

नरसी मे कही-कही शृगार के साथ वात्सल्य के भावो का भी समन्वय हो गया है। यहाँ एक पद की कुछ पक्तियाँ दी जाती है, जिनमे गोपिका के प्रति कृष्ण की आसक्ति का वर्णन किया गया है। एक गोपिका के प्रति कृष्ण इतने आकृष्ट है कि क्या पनघट, क्या मार्ग, क्या घर, सभी जगह वह उसके पीछे ही पीछे लगे रहते है। कभी कृष्ण उसकी गोद मे सो जाते है तो कभी उसके आँचल मे अपना सिर छिपा लेते है। गोपिका कृष्ण के रूप मे इस छोटे से खिलौने को प्राप्त कर मुग्ध है —

आवडो शो आसंको रे, वाइ तारे शामळिया साथे;

* * *

एक समे मारा खोळा उपर, मस्तक देइने पोढे रे;
पहेर्यानो पितावर मारो, तेनो पालव साहीने ओढे रे.
नानु सरखुं रमकडुं, कीधुं, नाहना नाच नचावे रे;
नरसैंयानो स्वामी नानकडो, वण तेड्यो घेर आवे रे.[2]

'सूरसागर' मे नरसी की ही भाँति गोपियो का कृष्ण के प्रति आत्म-समर्पण, गोपियो की निषेधात्मक स्वीकृति, मिलन की तीव्र उत्कण्ठा, कृष्ण के प्रति अनन्यता, कृष्ण के लिए अपनी समस्त मर्यादाओ का त्याग आदि से सम्बद्ध अनेक पद उपलब्ध होते है। नरसी की भाँति सूर के पदो मे भी सभोग-शृगार के स्थूल भावो का सन्निवेश प्रचुर रूप मे मिलता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है —

वसन तनु दूरि करि, सबल भुज अंक भरि, काम-रिस बस वाम निदरि धार्यौ।
अधर दसननि भरे, कठिन कुच उर लरे, परे सुख सेज मनु मुरछि दोऊ॥
मनौ कुम्हिलाए रहे मैन सौं मल्ल दोउ, कोक परवीन घटि नहीं कोउ।
अंग विह्वल भए, नैन नैननि नए, लजित रति अंत, तिय कंत भारी॥[3]

दोनो कवियो ने सुरत-समय तथा सुरतान्त के बाद की व्रीडा, सकोच आदि मन स्थितियो का भी भावपूर्ण एव स्वाभाविक चित्रण किया है। सूर ने 'सूरसागर' के 'मान', 'खडिता' आदि प्रसगो मे सुरत का सविस्तृत वर्णन किया है, जिसमे सुरत-समय की प्राय सभी मनोदशाओ का सूक्ष्म अकन मिलता है।

---

१. न. म प., के का. शा, पृ. ८१। २. न. म. का. सं., पृ. २७७। ३. सू०, प. ३११५।

नरसी ने 'चातुरीओ' में राधा की सुरत क्रीडा का सविस्तार वर्णन किया है। यह प्रसंग सूरसागर की मानलीला तथा दंपति विहार'[1] से पर्याप्त साम्य रखता है। यह एक रूप में संभोग क्रीडा का एक लघु कथानक ही है, जिसमें संभोग के सभी हाव भाव, चेष्टाएँ अनुभाव आदि पूर्ण रूप से विद्यमान है। सबसे पहले ललिता रूठी राधा का मान छुडाती है और उसे सब वस्त्रालंकारों से विभूषित कर कृष्ण के निकट पहुँचाती है। रति-संग्राम में कृष्ण राधा से पराजित हो जाते हैं और दीन शरणागत की भाँति राधा से विनति करते हैं कि वह अब उन्हें अधिक और न सताये। अन्त में वह अपने प्रिय की दशा पर तरस खा कर उन्हें अपना अमृतोपम रस प्रदान करती है—

सास भराणो श्रीहरि, अने स्वेद कण अगे झरे,
मुझने ते जीत्यो जुवती, कायर थई पियु करगरे
अबळा ते माहरू अग दूखे, मोड मा रे भामनी,
कठण पयोहर ताहरा, मुझने ते खूचे कामनी
अमृत पें मीठू हतू अने मुझ कने फळ तेह,
पछे प्रीते पिउना मुख माहे मूक्यू तेह
प्रसन्न थाओ, पिउ पान करता, रसियाने मन रस गम्यो,[2]

इस प्रसंग के पश्चात राधा की विचित्र रस मय-दशा देख कर एक सखी उससे सुरत-सुख के विषय में पूछती है। राधा भी उस समय कुछ भी न छिपाकर अपना गोप्य सखी के सम्मुख इस प्रकार प्रकट कर देती है—

कर ग्रह्यो माहरो कामाइ, तू भले आवी रे भामनी,
आव अबळा प्राणदस्यू कीजे ते क्रीडा कामनी
अमृत एना नयणमा ते सीचिऊ घनस्याम,
हु अग फूलीने थई गेहली, कामीइ जगविउ काम
कमण ते चोली तणा, उरथळे त्रूटी तेह,
म नीलाबर नव जाणियो कट थकी खसियो तेह
प्रेमसागर उमग्यो, वाध्यो ते नेह अपार,
हु कामीने जइ कठ लागी, माहरु वित्त चळ्यु तेणी वार
उछगे लीधी वाल्हमे अने विविध विलस्यो श्री हरि
जीणे गोवरधन कर धर्यो, तेहने मे राख्यो उर धरी
आलिगण लीधू वाल्हमे, कर मोड्या ते तन,

* * *

साम सकोमळ अग पिउनू, कठण कुचथळ माहरा,
आलिगण भुजबाथ भीडता ते उर विच लूता खरा
चुबन थाय कपोल चरचियो अधर इमी करे पान,[3]

---
१ सू०, प० १०६६। २ चा०, पृ ८७। ३ चा०, पृ ४१, ४२, ४३।

सूर का सुरतान्त वर्णन अनिर्वचनीय है। वे व्यजना के कवि हैं। अत. नरसी की भाँति नकी राधा तथा गोपिकाएँ इतनी प्रगल्भा नही कि जो कुछ बना हो, उसे अभिधा मे ही प्रकट र देवे। रमणोपरात राधा अपने घर पहुँचती है। पुत्री की विचित्र-स्थिति देखकर माता सके सबध मे प्रश्न करती है। तब राधा सत्य को इस प्रकार छिपाती है—

> जननी कहति कहा भयौ प्यारी।
> अबहीं खरिक गई तू नीक, आवत हीं भई कौन बिथा री॥
> एक बिटिनियाँ सँग मेरे ही, कारैं खाई ताहि तहाँ री।
> मो देखत वह परी धरनि गिरि, मैं डरपी अपनैं जिय भारी॥
> स्याम बरन इक ढोटा आयौ, यह नहिं जानति रहत कहाँ री।
> कहत सुन्यौ नँद कौ यह बारौ, कछु पढ़ि कैं तुरतहिं उहिं झारौ॥
> मेरौ मन भरि गयौ त्रास तैं, अब नीकौ मोहि लागत ना री।
> सूरदास अति चतुर राधिका, यह कहि समुझाई महतारी॥[1]

यहाँ इतना अवश्य विचारणीय है कि सूर की राधा के सामने उसकी माता है, अत. राधा का हाँ अपना भाव-सगोपन करना एक स्वाभाविक बात है। किन्तु नरसी की राधा के समक्ष उसकी समसहिष्णु एव समवयस्का सखी है। अत उसके समक्ष राधा का अपना सब कुछ प्रकट कर देना विशेष असगत नही है, और दूसरी बात यह कि सूर की राधा अभी मुग्धा है जब कि नरसी की ज्ञात-यौवना एव काम-प्रगल्भा। इस सबध मे नरसी स्वय कहते है—

> सुख दुःख होइ जे मनमां, ते स्वजनने कहेवाइ.[2]

अपने मन का सुख-दुःख समसहिष्णु स्वजन के ही समक्ष प्रकट किया जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि कहने से सुख दुगुना और दुःख आधा हो जाता है। इसीलिए तो मानव अपने मन के आवेगो को किसी न किसी रूप मे प्रकट किये बिना नही रहता है। वास्तव मे कवि अपनी कविता मे और चित्रकार अपने चित्र मे इन्ही आवेगो को प्रकट किया करते है।

एक अन्य स्थान पर सूर का सुरत-वर्णन मिलता है, जो अपेक्षाकृत प्रभावपूर्ण एव स्वाभाविक है। किसी सखी के पूछने पर चन्द्रावली पहले कुछ सकेतो एव अनुभावो तथा अत मे कुछ मित शब्दो द्वारा ही अपनी सुरत सुखानुभूति इस भाँति अभिव्यक्त करती है—

> (अ) चन्द्रावली करति चतुराई, सुनत बचन मुख मूंदि रही।
> ज्वाब नहीं कछु देति कौं, हाँ नाहीं कछुवै न कही॥
> गूँगे-गुर की दसा गई ह्वै, पूरन स्याम-सुहाग भरी।
>
> * * *
>
> तब बोली मोसौं कछु बूझति, कहा कहौं मुख बैन नहीं।[3]

---

१ सू०, प. १३१५। २. चा०, पृ० ६। ३. सू०, प ३१४७।

(आ) जो देखो तो सेज सुमूरति कांप्यो रिसिन हियौ री।

* * *

कहा कहौं कछु कहत न आव, तहँ गोविन्द बियौ री।
बिसरि गई सब रोष, हरष मन, पुनि फिरि मदन जियौ री।
सूरदास प्रभु अतिरति नागर, छलि मुख अमृत पियौ री ॥[1]

नरसी ने रति चिह्नित राधा के अंग-सौन्दर्य का भी सहज एव भाव-पूर्ण वर्णन किया है। उनका यह वर्णन प्राचीन परम्परानुमोदित होने पर भी पर्याप्त स्वाभाविक प्रतीत होता है —

सेजेथी उठती श्यामा, शीश अबोडो वाळे रे,
मदन सुधाकर आही गयो, उदीयो दीनकर उजवाळ रे
आळस मोडे अधउजागरो, अधपडीयाली आख रे
अधुर डस अति अदभुत दीसे, खडीत तीलकवी रेख रे,
लडसडती अबर शीर ओढे, कचुकी कस न समाळे रे
बाहुलता करवाळी ने उभी, रतीसुख रहि रहि विचारे रे,
जावा न देउ माय एम वलवले, अमृत वचन मुख बोले रे[2]

राधा की तरह नरसी न कृष्ण के सुरतान्त रतिचिह्नो का भी स्वाभाविक वर्णन किया है। उनके इस वर्णन की एक मौलिक विशेषता यह है कि कृष्ण को रतिचिह्नित देख कर गोपिका म ईर्ष्या के स्थान पर हर्ष का भाव उत्पन्न होता है —

जो जो रे, जो जो रे, माये महावर लाग्यो,
नेण निद्राळुवा सोहे, अग सुगन्धी वागो
पकजनी रेखा सहु गइ छे टळी,
अधर अमृत लेता पहोची मननी रळी
रसबस वसन लाग्यो, दीपक ज्योत,
कज पर क्रीडा करे, मधूप प्रात
उलट जाया जाहा, वस्या हुता रात,
नरसयाचो स्वामी चुक्या, जो न लाव्या साथ[3]

तात्पर्य यह कि नरसी न सभोग के विविध भावो तक की अनेक रूपो म अभिव्यक्ति की है। यद्यपि सूर की ही भाति नरसी ने भी अमर्यादित भावो की अभिव्यजना की है किन्तु उनमें कई ऐसे भी स्थान मिलते हैं जहा भावाभिव्यक्ति स्थूलता की अपनी विशेष मर्यादा तक अतिक्रम कर गई है।

---

१ सू०, प ३१५०। २ न म का स, पृ ४८५। ३ न म का स, पृ ४६१।

१२—मानलीला

यद्यपि अलकार-शास्त्रानुसार 'मान' विप्रलभ की ही एक अवस्था है, तथापि इसके प्रारंभ एव अन्त मे सभोग-दशा का चित्रण होने से इसका निरूपण सभोग-शृगार के अन्तर्गत कर लेना ही उचित है।

मान प्रेम का एक स्वाभाविक अग है। प्रिय कभी अपने प्रेमी से रूठ जाता है और कभी प्रेमी प्रिय से। प्रेमी अपने प्रिय पर एकाधिकार चाहता है, पर उसमे जव वाधा उपस्थित होती है तव उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप रोष, क्रोध अथवा मान उत्पन्न होता है। भारतीय-साहित्य परम्परा मे प्राय नायिकाओ के ही मान का विधान अधिक ग्राह्य माना गया है। अत भक्ति-काव्यो मे भी राधा एव गोपियो के मान का ही वर्णन किया गया है। मान-प्रसग मे मनावन के लिए दूती के रूप मे गोपियो मे से कोई एक अथवा स्वय कृष्ण का चित्रण किया गया है। दूती मानिनी के रूप-लावण्यादि की प्रशसा, कृष्ण की निर्दोषता, यौवन की क्षणिकता तथा ऋतुओ के उद्दीपक वातावरण का वर्णन करके मानिनी के मान का विगलन करती है।

मान की अवस्था के दो भेद है—ईर्ष्याजन्य-मान और प्रणयजन्य-मान। प्रिय और प्रिया अकारण ही एक-दूसरे पर कुपित हो जाते है, उसे प्रणय-मान कहते है। मान की यह दशा दोनो के पारस्परिक अनुराग की पुष्टि मे ही साधक होती है। इसमे प्रिय के अनुनय से ही प्रेमी का मान सभोग की दशा मे परिणत हो जाता है। प्रिया अपने प्रिय को अन्यासक्त देखती है, अथवा उसके अन्यासक्त होने की वात किसीसे सुनती है, अथवा उसको रतिचिह्नित देखकर अन्यासक्त होने का अनुमान करती है, तव प्रिय के प्रति अपना कोप और असहयोग प्रकट करती है। यह ईर्ष्या-मान है। निवृत्ति के अनुसार इसके भी तीन भेद है—लघुमान, मध्यममान और गुरुमान। मान मे सवसे महत्त्वपूर्ण वात यह है कि जिसके प्रति मान किया गया है, उसके प्रति उपेक्षा का भाव कदापि उत्पन्न नही होना चाहिए। अन्यथा मान मे प्रेम की उत्कर्षता के स्थान पर शत्रुभाव जाग पडता है।

सूर एव नरसी दोनो कवियो ने मान को प्रेम की वृद्धि मे महत्त्वपूर्ण उपकरण माना है। सूर कहते है, 'मान बिना नहि प्रीति रहै री'।[1] सूर ने राधा के मान का चार वार वर्णन किया है। प्रथम मान मे ललिता के मुख से राधा कृष्ण के प्रति अपने प्रगाढ प्रेम की प्रशसा सुनकर हर्ष-गद्‌गद हो उठती है और गर्व मे आकर मान करती है। कृष्ण के आने पर वह मुख फेर कर वैठ जाती है। राधा की मानदशा का कवि ने इस प्रकार चित्रण किया है —

> **वरज्यौ नहिँ मानत श्रम नैकहुँ, उझकत फिरत कान्ह घर ही घर।**
> **मिस हौ मिस देखत जु फिरत हौ, जुवतिनि वदन, कहौ काकैं वर॥**[2]

कृष्ण राधा के द्वार से ही लौट पडते है। राधा कृष्ण के विरह मे तडपने लगती है। अत में ललिता कृष्ण को मनाकर दोनो का सयोग करवाती है।

---

१ सू०, प २६६१। २. सू०, प २६६१।

राधा के दूसरी बार के मान का कारण भ्रम-जनित सन्देह है। कृष्ण के वक्षस्थित हार के मणि में अपना प्रतिबिंब देख कर राधा अपने प्रिय के अन्य स्त्री को हृदयस्थ करने की कल्पना करके मान करती है। नरसी ने भी अपने लघु प्रेम-काव्य 'चातुरीओ' में राधा के मान का कारण यही बताया है। दोनों कवियों का मान चित्रण तुलनीय है —

सूर

(अ) भली करी यह बात जनाई, प्रगट दिखाई मोहिं।
सूर स्याम यह प्रान पियारी, उर में राखी पोहि ॥[1]

(आ) अधर कंप रिस भौंह मरोरी, मन ही मन गहरानी।
इकटक चित रही प्रतिबिंबहिं ।[2]

(इ) मोहिं छुवौ जनि दूर रहौ जू ।[3]

नरसी

अगनाने उर सही भुज मोडी तिणी वार
रस रीते आ प्रेम प्रीति करता ते सुधा रस पान
ते माटे सू जाणीइ, माननी ने वाध्यू मान
अरे लपट म्हेल मुझने, नीलज स्यू स्यो नेह ?
मुझ थकी वाहली माहावजी उर विखे राखी तेह
कर मुकायो पाण थी, रामा भराणी रोस[4]

सूर ने जिस प्रकार अधर-कंपन, भ्रूभंग, कठोर उपालंभ आदि अनुभावों द्वारा राधा की मान दशा का चित्रण किया है उसी प्रकार नरसी ने निलज्ज, लपट जैसे रोष-पूर्ण वचनों से राधा के मान की अभिव्यंजना की है।

राधा के रूठ जाने पर कृष्ण अतीव विह्वल एवं व्यग्र हो उठते हैं। उनका मुखकमल एकदम म्लान हो जाता है। आँखों से अश्रुधाराएँ प्रवाहित होने लगती हैं। वाणी अवरुद्ध हो जाती है और व्यथा के भार से अंत में वे अपने शरीर की सुध भी खो बैठते हैं। सूर ने कृष्ण की इस मन स्थिति का बड़ा ही भाव-पूर्ण वर्णन किया है —

(अ) काम स्याम-तनु चपट कियौ।
मान धर्यौ नागरि जिय गाढ़ौ, सूख्यौ कमल हियौ ॥
व्याकुल भए चले वृंदावन, मिली दूतिका आनि।[5]

(आ) व्याकुल वचन कहत हैं स्याम।
कहा नागरी मान बढ़ायौ, जोर कियौ तनु काम ॥
यह कहत लोचन भरि आए, पायौ विरह सहाइ।
चाहत कह्यौ भेद ता आगें, बानी थकी कही न जाइ॥

* * *

सूर स्याम मुख देखि चकित भई, क्यौं तनु रहे बिसारी।[6]

१ सू०, प ३०३१। २ सू०, प ३०३२। ३ सू०, प ३०३४। ४ चा०, पृ० ७, ८।
५ सू०, प ३०४१। ६ सू०, प ३०४२।

नरसी ने भी कृष्ण की विह्वल स्थिति का चित्रण प्राय इसी प्रकार किया है। राधा से त्यक्त कृष्ण एकात मे हाथ पर कपोल धर कर दीर्घ निश्वास छोडते हुए आँसू बहा रहे है। राधा के अभाव मे उनको सपूर्ण त्रिलोक सूना-सूना सा लग रहा है। नरसी ने कृष्ण की इस दशा का अकन इस प्रकार किया है —

सुणोजी सलुणडा रे, रेण रास रम्या ने भरो छो तम्हे नेण.

* * *

सियाने ते काजे स्यामजी मूको छो मुख निसास ?
वदन तमारुं वाल्हमा करमाणूं कहेने स्ये माटे ?
कपोले कर कां देई रह्यो, उपनो स्यो रे उचाट ?

* * *

चतुरा ते चीत चोरी गई, प्रेमदा ते लइ गई प्राण.

* * *

किहां जाउ ललिता ? किम करूं ? किम धीरज धरुं मन्न ?
ताहरा सम, तारुणी विना त्रिलोक लागे सुन ?[1]

कृष्ण का विरह-कातर होकर रुदन करना कितना भावपूर्ण है। नरसी का यह चित्रण स्वाभाविकता मे सूर से किसी भी प्रकार न्यून नही हे।

सूर की राधा का गुरुमान सब से कठोर है। एक बार कृष्ण को अचानक किसी अन्य गोपी के साथ विचरण करते हुए राधा देख लेती है। दोनो की परस्पर दृष्टि मिलते ही उनकी कैसी गति होती है, देखिए —

औचक भेंट भई तहाँ, चक्रित भए दोउ।
ये इत तैं वै उतहि तैं, नहिं जानत कोउ॥
फिरी सदन कौं नागरी, सखि निरखति ठाढ़ी।
स्नान दान की सुधि गई, अति रिस तनु बाढ़ी॥
स्याम रहे मुरझाइ कै, ठग मूरी खाई।
ठाढ़े जहँ के तहँ रहे, सखियन समुझाई॥[2]

राधा कृष्ण को अन्यासक्त देखकर इतनी कुपित हुई कि वह क्रोध के मारे थर-थर काँपने लगी। राधा को इस स्थिति मे देख कर कृष्ण कुछ बोल न सके।सूर ने दोनो की मनोदशा का वास्तविक चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है —

राधे हि स्याम देखी आइ।
महा मान दृढ़ाइ बैठी, चितै कापैं जाइ॥
रिसहिं रिस भई मगन सुंदरि, स्याम अति अकुलात।
चकित ह्वै जकि रहे ठाढ़े, कहि न आवै बात॥[3]

---

१. चा०, पृ० २, ३, ८, ६। २. सू०, प ३३५३। ३. सू०, प. ३३५४।

राधा की प्रतीक्षा म कृष्ण की उत्कठापूर्ण व्याकुल मन स्थिति का अकन दानो कवियो न अपने अपने ढग से किया है। कृष्ण की आकुल दशा का निरूपण करत हुए सूर न प्रतीक्षा का प्रत्येक क्षण घडी से भी दीर्घ, एव घडी प्रहर म भी भारी एव प्रहर दिन स भी दीर्घ प्रतीत होते बताया है। कृष्ण कभी सेज सँवारते हैं कभी सो जाते हैं कभी फिर उठ बठते हैं और चकोर की भाँति राधा के मुखचन्द्र के दर्शना के लिए रह रह कर आतुर हो उठत हैं। सूर ने कृष्ण की मनोव्यथा के चित्रण म अनुभावा की स्वाभाविक याजना किस प्रकार की है देखिए —

> स्याम घन धाम मग-धाम जोय ।
> कबहुँ रचि सेज अनुमान जिय जिय करत, लता सकेत तर कबहु सो व ।।
> एक छिनु इक घरी, घरी इक जाम सम, जाम बासरहुँ तें होत भारी।
> मनहिं मन साध पुरवत अग भाव करि, धाय भुज, धनि हृद मिल प्यारी।।
> कबहिं आव सांस, सोचि अति जिय माँस, नन-खग इहु ह्वै रहे दोऊ।
> सूर प्रभु भामिनी बदन पूरन चद रस-परस मनहिं अकुलात बोऊ ।।[1]

नरसी ने राधानाम का महामत्र जपते हुए कृष्ण का उस महायोगी स उपमित किया है, जो समाधि-दशा म अपनी सासारिक सत्ता को पूर्णत भूलकर ब्रह्म म अपनी सववृत्तियो का केन्द्रित कर देता है —

> महामत्रे जम जपे जोगी, धरीने मनमा धीर,
> तान ताळी ध्यान माड्यो, सुध नहि, स्याम शरीर
> राधा राधा करे माधव, जपे सारगपाण,[2]

१३—खडिताओ के भाव

जिसका प्रिय पर-स्त्री ससग से चिह्नित होकर आवे वह खडिता नायिका कहलाती है। सूर एव नरसी दोनो कवियो ने कृष्ण म बहुनायकत्व का आरोप करके खडिता गोपियो के ईर्ष्या कलुषित सपत्नी भावो का अकन किया है। दोनो ने समान रूप से कृष्ण मे बहुनायकत्व का आरोप किया है। कृष्ण किसीको वचन देकर किसी अन्य के यहाँ रात बिताने पहुच जाते हैं। उनकी इस बेवफाई से कोई गोपिका उन पर खीझ उठती है तो कोई रुष्ट हो जाती है। कृष्ण इस प्रकार अनेक रूपो म विलास करते हैं। सूर ने कृष्ण के बहुनायकत्व का चित्रण इस प्रकार किया है —

> नाना रग उपजावत स्याम । कोउ रीझति, कोउ खीझति बाम ।
> काहू क निसि बसत बनाइ । काहू मुख छूव आवत जाइ ।
> बहु नायक ह्वै बिलसत आपु ।
> काहू सों कहि आवन सास । रहत और नागरि घर माझ ।[3]

---

१ सू०, प २२२३। २ न०, पृ० २३। ३ सू० प ३०६३।

नरसी की गोपिका कृष्ण के घर-घर भटकने के स्वभाव से काफी ऊब गई है। वह उनकी 'कुटेव' को दूर करने की कोई युक्ति खोज निकालना चाहती है, किन्तु उसे कुछ भी समझ मे नही आ रहा है कि वह अब क्या करे ?

आवो रे अलबेला वाहाला, मोहन मारा रसीया रे,
आवडी वारो तमे क्यांहांरे लगाडी, कोने ते मंदिर वसीया रे.
तमने टेव पडी पर घरनी, हवे ते शी पेर करीए रे.[1]

कृष्ण किसी गोपिका को वचन देकर किसी अन्य के यहाँ रात विताते है और सवेरे रतिचिह्नो के साथ जिसको पहले वचन दिया था उसके यहाँ पहुँच जाते है। कृष्ण का प्रत्येक रतिचिह्न उसकी ईर्ष्याग्नि को प्रज्वलित करने के लिए घी का काम करता है। जिसके लिए फूलो की सेज विछा कर सारी रात प्रतीक्षा मे काटी है वह इस रूप मे उसके सामने आएगा, इसकी तो कल्पना ही उसके लिए सौ-सौ विच्छुओ के डक से अधिक कष्ट-प्रद है। इस स्थिति मे कोई गोपिका कृष्ण को झिडककर पुन उसीके यहाँ लौट जाने को कहती है, जिसने रातभर उनको उलझाये रखा है, कोई उन्हे तीक्ष्ण व्यग से विद्ध करती है और कोई मृदु उपालंभों द्वारा अपने प्रति किये गये अन्याय का प्रतिकार करती है।

एक समय कृष्ण ललिता को वचन देकर किसी अन्य गोपी के यहाँ पहुँच जाते है और दूसरे दिन प्रात रतिचिह्नो के साथ उसके यहाँ उपस्थित होते है। कृष्ण को देखते ही ललिता सव कुछ ताड जाती है। अपराधी कृष्ण ललिता के सामने नत मुख किए नख से धरती कुरेदते हुए खडे है। ललिता उस समय और कुछ न करके केवल कृष्ण के सम्मुख दर्पण धर देती है। कृष्ण जव दर्पण की ओर भी नही देखते है तव ललिता स्वय को रोक नही पाती है और बोल उठती है—

क्यौं मोहन दर्पन नहिं देखत।
क्यौं धरनी पग-नखनि करोवत, क्यौं हम तन नहिं पेखत॥
क्यौं ठाढ़े वैठत क्यौं नाहीं, कहा परी हम चूक।
पीतांवर गहि कह्यौ वैठिये, रहे कहाँ ह्वै मूक॥
उघरि गयौ उर तैं उपरैना, नख-छत विनु गुन माल।
सूर देखि लटपटी पाग पर, जावक की छवि लाल॥[2]

ललिता के इस चीखने चिल्लाने का भी कृष्ण पर कोई प्रभाव नही पडता है, वे पूर्ववत् उसी भाँति यन्त्रवत् खडे ही रहते है। तव ललिता पहले से भी अधिक कठोर होकर वरस पड़ती है—

ज्वाब नहीं पिय आवई, क्यौं कहा ठगाने।
मैं तवही की वकति हौं कछु आजु भुलाने।
हाँ नाहीं नहिं कहत हौं, मेरी सौं काहे।

* * *

कहाँ रहे कासौं वन्यौ, तहँई पग धारौ।
सूर स्याम गुन रावरे, हिरदय न विसारौं॥[3]

---

१. न. म का. सं., पृ. २६४। २ सू०, प. ३१०२। ३. सू०, प ३१०५।

अत म कृष्ण कातर दृष्टि स अपनी प्रिया की ओर देखत हैं। उस दृष्टि म अपने समस्त आचरणा के प्रति कृष्ण के पश्चात्ताप तथा क्षमा-याचना क भाव विद्यमान थ। अपने प्रिय की इस स्थिति को देखकर, ललिता का हृदय पसीज उठा। उसने दौडकर प्रिय को गले म लगा लिया —

नन कोर हरि हरि क, प्यारो बस कीहो।

* * *

सुरत गयो रिस दूरि ह्वै, हसि कठ लगाए।[1]

सूर का यह पूरा प्रसग अनक अनुभावा एव भावा से पूण है। कृष्ण का नतमुख होकर धरती कुरेदना कितना स्वाभाविक अनुभाव है।

सूर ने जहाँ पूरे प्रसगा की योजना करके रीझ-खीज क अनक भावा, अनुभावा एव चेष्टाआ द्वारा खडिता के भाव अभिव्यक्त किये है वहाँ नरसी न कुछ स्फुट पदो म ही इस विषय के भावा का सन्निवेश कर दिया है। सूर की ही भाँति नरसी ने भी एक एसी गोपिका का अपने प्रिय पर खीझते हुए बताया है जो किसी अन्य के साथ रात रह कर आये हैं। गोपिका कृष्ण को वापस वहीं लौट जान को कहती है जहाँ से वे चले आ रहे हैं—

जाओ जी तम शु नहिं बोलू, मारे घेर आवो छो चाली रे
ज्याहायी आव्या तिहा पधारो, जिहा तमारी वालो रे[2]

नरसी की एक गोपिका ऐसी उदार है कि वह रति चिह्नित कृष्ण को अपन सम्मुख उपस्थित देखकर भी ईर्ष्याविष्ट न होकर अतीव मदु हो उठी है। वह कृष्ण स कहती है कि चलो कृष्ण तुम उस दुधष रमणी को मुझे बताओ जिसने लाड लडाकर रति-सग्राम मे तुम्हारे कोमल कलेवर पर इतने कठोर प्रहार किये हैं। तुम मुझे शीघ्र उसीक पास ल चलो। मैं अपन सामने तुम्ह लाड लडाते देख कर उस धन्या को अपने गले का हार भेट करना चाहती हूँ —

सुणोजी अबोलडा आधार, निसा किहा कीधलो विहार ?
विहार अति सुकुमाळ अगे, कहोने रजनी किहा रम्या ?
युवती ते अतिबळवत सेने, कोमळ अगे किम खम्या
कहेस्यो ते रळियात थास्यु नहि करु रीस लगारि
जो करसो सकोच तो वढवाढनो विस्तार
सुणाजी सलुणारे कथ, केम्ह निस आविया आणे पथ?
पथ सी पर आविया ? उजागरा आणी वेळ ?
मर विलासमे हसे तिहा केम पाड्यो मळ ?
फेरी चालो, हु साथे आवू मन जोऊ जुगत अपार,
तमने ते देखू लडावती तेन आपू हियानो हार[3]

---

१ सू०, प ३१०७। २ नरसै" महेतानां पद, प १५७। ३ चा०, पृ ५७।

सूर मे इस भाव का पद शायद ही कही उपलब्ध हो। सूर के कृष्ण जिस प्रकार ललिता के समक्ष मौन होकर खडे रहते है वैसे ही यहाँ भी गोपिका के सामने कृष्ण विना कुछ बोले खडे है। ललिता कृष्ण पर रुष्ट हो उठी है। वहाँ यह गोपिका प्रारभ से ही मृदु है। वह इतनी उदार है कि अपने प्रिय को कही भी आनद प्राप्त करते देखकर पूर्ण रूप से तुष्ट है। अपराधी प्रिय को अपने सामने उपस्थित देखकर भी 'अबोलडा आधार' के रूप मे किया गया सबोधन ही उसका इतना कोमल है कि अपने प्रिय के प्रति उसके हृदय मे कितना मार्दव विद्यमान है वह प्रकट हुए विना नही रहता। प्रेम के क्षेत्र मे इस कोटि की उदार भावना विरल है।

दोनो कवियो ने प्राचीन साहित्यिक परम्परा के अनुसार ही कृष्ण के रति-चिह्नो का वर्णन किया है —

सूर

अंजन अधर, ललाट महाउर, नैन तमोर खवाए।
विनु गुन माल बिराजति उर पर, बंदन भाल लगाए।
मगन देह, सिर पाग लटपटी, भृकुटी चंदन लाए।
हृदय सुभग नखरेख बिराजति, कंकन पीठि बनाए।
सूरदास प्रभु यहै अचंभौ, तीनि तिलक कहँ पाए ॥[1]

नरसी

रंग रमी आविश्रो किहां वेण ? अरुण उजागरा ताहरां नेण,
अधरे ढळ्यो रंग तंबोल, काजल-रेखा ताहरे कपोल.
काजल रेखा कपोल दीसे, तिलक खंडित ताहरूं.

* * *

कंकण कोमळ अंग खूतां, रेखा ते दीसे नख तणी,
जेसूं ते सजनी रंग रम्या, वेघे पधारो तेह भणी,
नीलांबर कही नारनूं ? साचू कहो, सम तेहना.

* * *

कौस्तुभमणि किहां वीसर्यूं नवसर फेर्यूं नारनूं.[2]

(इ) विप्रलम्भ

आचार्य विश्वनाथ ने विप्रलभ शृगार की यह परिभाषा दी है 'यत्र तु रति प्रकृष्टा नाभीष्ट-मुपैति विप्रलम्भोऽसौ'[3]—प्रेम की प्रकर्षता मे जहाँ नायक-नायिका एक दूसरे से मिल न पाएँ वहाँ विप्रलम्भ शृगार होता है। प्रेमानुभूति की तीव्रता मिलन की अपेक्षा विरह मे कही अधिक होती है। इसीलिए विप्रलम्भ को साहित्यिको ने अपेक्षाकृत अधिक उच्च स्थान दिया है, क्योकि

१. सू०, प. ३१३८। २ चा०, पृ० ५१। ३ साहित्यदर्पण, ३-१८७।

संयोगावस्था में जहाँ प्रिय-सान्निध्य-सुखानुभूति हृदय की अनेक सात्विक वृत्तियों को तिरोहित किए रहती है वहाँ वियोगावस्था में सभी सात्त्विक वृत्तियाँ उद्बुद्ध होकर वियुक्त के हृदय को अपेक्षाकृत विशाल एवं उदार बना देती हैं।

कृष्ण भक्त-कवियों ने संयोग की भाँति विप्रलंभ का भी विशद, सूक्ष्म एवं गंभीर चित्रण किया है। सूर का संयोग-पक्ष जितना पुष्ट है उतना ही विप्रलंभ भी। संयोग के सदृश उन्होंने विप्रलंभ के भावों का भी व्यापक वर्णन किया है। वास्तव में सूर के विस्तृत शृंगार-पट पर एक व्यापक दृष्टि डाली जाये तो पूर्वराग में उत्पन्न राधा-कृष्ण और गोपी-कृष्ण का मधुर प्रेम संयोग की 'चीर हरण', 'रास', 'पनघट', 'दान', 'मान', 'हिंडोला', 'वसंत' आदि विविध लीलाओं में क्रमशः पुष्ट होता हुआ अंत में वियोग दशा में ही अपने चरम भाव को प्राप्त करता है। तात्पर्य यह कि सूर का वियोग उनके मधुर भाव के विकास पथ में पड़नेवाली अंतिम और महत्त्वपूर्ण मंजिल है।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है नरसी मुख्यतः संयोग शृंगार के ही कवि हैं। विप्रलंभ के भावों का चित्रण नरसी-साहित्य में अतीव स्वल्प प्रमाण में उपलब्ध होता है। 'सूरसागर' में जहाँ गोपी विरह के सैकड़ों पद मिलते हैं, जिनमें विप्रलंभ की सभी दशाओं, भावों, अनुभावों एवं व्यापारों का सूक्ष्म एवं विस्तृत वर्णन किया गया है वहाँ नरसी में गोपी विरह के कठिनाई से दस-बारह पद मिलते हैं जिनमें कृष्ण के मथुरा-गमन के पश्चात् गोपिकाओं की वियुक्त स्थिति के कुछ भाव निरूपित हैं। इस प्रकार विप्रलंभ में सूर अद्वितीय हैं। विप्रलंभ की समस्त दशाओं एवं व्यापारों को लेकर उनके साथ नरसी की तुलना संभव नहीं। तथापि नरसी में इस प्रसंग के जो यत्किंचित् भाव मिलते हैं उन्हीं को लेकर यहाँ हम उनकी सूर के साथ तुलना प्रस्तुत करते हैं।

१४—अक्रूर आगमन और कृष्ण का मथुरा-गमन

अक्रूर के व्रज आगमन से ही वियोग प्रारंभ होता है। अक्रूर कृष्ण-बलराम को कंस के यहाँ ले जाने को आए हैं। यह बात विद्युत वेग से संपूर्ण व्रज में फैल जाती है। सूर ने कृष्ण के मथुरा गमन से पूर्व व्रज-वासियों के अन्तर्द्वन्द्व, उनकी कृष्ण वियोग-जन्य-व्यथा आदि का विविध रूपों में चित्रण किया है। यहाँ सर्वप्रथम यशोदा के अपने प्रिय पुत्र से वियुक्त होने से पूर्व के परवशता के भाव द्रष्टव्य हैं, जो वियोग के वातावरण को और भी सघन बना देते हैं। बिलख बिलख कर रोती हुई यशोदा प्रत्येक व्रजवासी से यह विनती कर रही है कि कोई उसके गोपाल को मथुरा जाने से रोके —

> जसोदा बार बार यों भाखै।
> है कोउ ब्रज में हितू हमारो, चलत गुपालहिं राखै।[1]

---

१ सू०, प० ३५६१।

कृष्ण के मथुरा-गमन के समाचार सुनकर गोपिकाओ की मनोदशा बडी विचित्र एव दयनीय हो उठती है। वे यशोदा की भाँति प्रत्यक्ष मे अपना दु ख किसीके समक्ष न प्रकट ही कर सकती है और न कृष्ण के पास जाकर उन्हे रोक ही मकती है। वे अपना मर्म किसके समक्ष प्रकट करे ? क्योकि उनका कृष्ण से जो प्रेम हे वह तो गुप्त है। सूर ने गोपिकाओ की द्वद्वात्मक मानसिक स्थिति का इस भाँति अकन किया है --

सुने है स्याम मधुपुरी जात।
सकुचनि कहि न सकति काहू सौं, गुप्त हृदय की बात ।।
सकित वचन अनागत कोऊ कहि जु गयौ अधरात।
नींद न परै, घटै नहिं रजनी, कब उठी देखौं, प्रात।
नदनदन तौ ऐसे लागे, ज्यौं जल पुरइनि पात।[1]

इसके पश्चात् कृष्ण जब रथारूढ होकर चलने को प्रस्तुत हुए तब गोपियाँ चित्रवत् खडी ही रह गई। जिनके साथ उन्होने जीवन के प्रारभ से लेकर आज तक विविध राग-रग-मयी मधुर क्रीडाएँ की थी वे ही जीवनाधार कृष्ण आज उनसे वियुक्त होने जा रहे है और वे लाचार है कि कुछ नही कर पा रही है। सूर ने इस समय की गोपियो की जड-दशा को दव-दग्ध-द्रुम-वल्लियो से उत्प्रेक्षित किया है --

रहीं जहाँ सो तहाँ सब ठाढीं।
हरि के चलत देखियत ऐसी, मनहु चित्र लिखि काढ़ी ।।
सूखे वदन, स्रवति नैननि तैं जलधारा उर बाढ़ी ।।
कंधनि बाँह धरे चितवति मनु, द्रुमनि बेलि दव दाढ़ी ।।[2]

कृष्ण के वियुक्त होने के प्रसग का नरसी मे एक पद मिलता है, जिसमे अक्रूर-आगमन को लेकर गोपिकाएँ परस्पर वार्तालाप कर रही है। इसके पश्चात् गोपिकाएँ रथ के आगे जा कर खडी हो जाती है। इस पद मे सूर की तरह भाव-गाभीर्य का सर्वथा अभाव है --

बे' नी व्रजमां वालु एवी थाय छे रे;
मारो वाहलो मथुरामां जाय छे रे.
व्रजनी सुंदरीओ भेगी थइ छे रे,
रथ हांकी आगळ उभी रही छे रे.
रथ जोड़ीने अक्रूर आव्या रे;
ते ते शा शा समाचार लाव्या रे.
नरसिंह महेताना स्वामी संगाथमां रे,
हमे छीए स्वामी तमारा हाथमां रे[3].

सूर के गभीर विप्रलभ के सूक्ष्म भाव-चित्रण के समक्ष यह पद सर्वथा नीरस, भाव-विहीन एव वर्णनात्मक प्रतीत होता है।

---

१ सू०, प ३५९९। २ सू०, प ३६१२। ३. न. म. का स., पृ. ४३०।

१५ भ्रमरगीत प्रसग

सूर न कृष्ण के मथुरा-गमन के पश्चात व्रजवासियो की विरह-सतप्त दशा का चित्रण लगभग साढे सात सौ पदो म किया है, जिसम शृगार एव वात्सल्य दोनो रसो के विप्रलभ दशा के भावो के सूक्ष्म एव व्यापक भावपूण चित्र मिलते हैं। नरसी के एतद्विषयक जो स्वल्प पद मिलते हैं उनका विवेच्य विषय गोपियो की अपनी सतप्त स्थिति एव कुबजा के प्रति ईर्ष्यामूलक भावो की अभिव्यजना है।

सूर ने उद्धव के सदेश लकर आन स पूव की आशामयी उत्सुकता का बडा सूक्ष्म वणन किया है। गोपिकाएँ उद्धव को जब व्रज की ओर आते हुए दखती हैं उस समय की उनकी हप विह्वल मन स्थिति का सूर ने बडा ही स्वाभाविक वणन किया है। उन्होने वेश-साम्य के कारण उद्धव को थोडे क्षणो के लिए कृष्ण ही मान लिया था किन्तु उद्धव के निकट आने पर जब वे उन्हें भलीभाँति पहचान जाती है तब व दु खभार से आघात होकर मूछित हो कर गिर पडती हैं। इसक पश्चात उद्धव गोपिकाओ को कृष्ण का पत्र देते है। गोपियाँ अपन प्रिय क हस्ताक्षरो को देखकर कितनी भावप्रवण हो उठती है, देखिए ---

> निरखत अक श्याम सुदर को बार बार लावत ल छाती।
> लोचन जल कागद मसि मिलिक ह्व गई श्याम श्याम की पाती[1]

नरसी-साहित्य म इसके विपरीत राधा कृष्ण को मथुरा एक पत्र लिखती है जिसम राधा कुबजा स अनुचित प्रेम-ससग आदि के कृष्ण पर कई अभियोग लगाकर उनक गुण एव माहात्म्य का वणन करती है। यह पद नितात भावहीन एव वणनात्मक है ---

> लाव लाव सखी एक कागळ लखीए हरिने रे,
> नाथ शो रे हमारो वाक, के न आव्या फरीने रे
>
> *   *   *
>
> नाथ कुबजाने करी प्यार, राधे क्हो चाले रे
>
> *   *   *
>
> छो तरसयाना सरोवर, क विवेकी सागर र
>
> *   *   *
>
> नाथ ते दा'डानो स्नेह, लगाडी अमने रे,
> हवे वळनी दो छो छह, घट नहि तमने रे
>
> *   *   *
>
> फरी फरी लखजो पत्र, क कुबजा क'तो रे[2]

---

[1] सू०, प ४१०५। [2] न म का म, पृ ४१५।

इसके पश्चात् उद्धव गोपियो को ज्ञान, योग, तप एव निर्गुण ब्रह्म की उपासना का सदेश देते है। इससे गोपियो का विरह और भी धधक उठता है। इस सन्देश से उनके मन पर जिस प्रकार की प्रतिक्रिया होती है 'भ्रमरगीत' प्रसग मे सूर ने इसका बडा ही विशद एव मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। भ्रमर को लक्ष्य करके गोपियो ने कृष्ण की बेवफाई की खूब खबर ली है। कृष्ण को उन्होने लपट, चंचल, स्वार्थी, रस-लुब्ध आदि कई रूपो मे उपालभित किया है। कृष्ण ने मथुरा मे कस की दासी कुब्जा से नाता जोडा है, यह गोपिकाओ के लिए असह्य है। वे उद्धव से कहती हैं कि कृष्ण किसी तरह कुब्जा के ससर्ग से दूर हो जाएँ इसीमे उनके समस्त परिवार के साथ उनका हित सन्निहित है। सारा गोकुल कृष्ण के इस नीच ससर्ग को लेकर हँस रहा है। कहाँ नीच जाति की कस की दासी कुब्जा और कहाँ कमलनयन कृष्ण —

उधौजू जाइ कहौ दूरि करैं दासी।
गोकुल की नागरी सब नारि करैं हाँसी॥
हेम-काँच, हंस काग, खरि कपूर जैसौ।
कुविजा अरु कमल-नैन संग बन्यौ ऐसौ॥
जाति हीन, कुल विहीन, कुविजा वै दोऊ॥
ऐसेनि कैं संग लागैं, सूर तैसौ सोऊ॥[1]

यहाँ कुब्जा के प्रति गोपियो का ईर्ष्या-जन्य हीन भाव प्रकट हुआ है। नरसी मे भी लगभग इसी आशय का एक पद मिलता है, जिसमे कृष्ण के व्रज से मथुरा-पलायन और फिर मथुरा के विविध आकर्षणो मे उनके लुब्ध होने का अतीव नैसर्गिक वर्णन किया गया है। मथुरा के अनेक आकर्षणो मे कुब्जा भी एक आकर्षण का प्रधान विन्दु है, जो कृष्ण जैसे रसिक वृत्तिवाले व्यक्ति के लिए सर्वथा योग्य है —

ना आवे, ना आवे रे, नाथजी ना आवे,
एने मथुरामा मळी मोहीनी नाररे, गोकुळ केम भावे,
मथुरामां छे साल दुशाळा, ने नाना विधना वागा रे,
गोकुळ मेली नासी गया, काळी कामळ ओढता भागा;
आगळ हुता गोवाळीया, ने थया मथुराना राय रे;
कहो वाई गोकुळ केम गमे, एने नित्त उठी दोहवी पडे गाय;
कंसरायनी दासी कुवजा, खुंधी ने वळी खोडी रे;
काळो काहनो, काळी कुवजा, हमने रमाड्या रास रे;
नरसंयाना स्वामी हमने करी गया छे निराश रे;[2]

सूर की गोपियो ने कुब्जा के प्रति कई प्रकार के कटु से कटुतम भावो की अभिव्यजना की है, किन्तु नरसी मे इनसे अधिक तीव्र कटु भाव कही उपलब्ध नही होगे। एक स्थान पर तो गोपिकाएँ ईर्ष्या के स्थान पर कुब्जा के भाग्य की सराहना करती हुई उद्धव के साथ उसके पास यह सदेश

---

१. सू०, प ३२७१। २. न. म का स, पृ २८२।

पहुँचाती है कि वह इस दुर्लभ हरि-हीरे का जतन से रख अन्धकारवश होकर कहीं इस अनुपम रत्न से वह हाथ न धो बैठे। यहाँ शृंगार एव वात्सल्य नाना भावों का कवि ने अपूर्व समन्वय किया है —

> कुबजान कहजोरे, ओधव एटलुरे, हरी हीरो आयो ताहारे हाथ,,
> मान करानेरे, एहने तु लजावेरे, कहु छु शीखामणनी वात
> प्रात उठानेरे, प्रथम पूछजेरे, जे मागे ते आपजे ततखेव
> बीजु काइरे, मुधरले भावे नहीरे, माहावाने छ महि माखणनी टव
>
> * * *
>
> एहने ते आयोरे, घडी नव कीजिए रे, घनी नव करीए रे अहकार
>
> * * *
>
> कस घेर दासीरे, पेलो कूबजारे, सुदर शामळीयो भरथार,[1]

नरसी के उद्धव-गोपी-सवाद के पदो मे योग ज्ञान एव निर्गुण का सामान्य उल्लेख भी कहा उपलब्ध नहीं होता है जिसके आधार पर सूर ने एक ओर जहाँ ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है दूसरी ओर वहाँ गोपिकाओं के विरह को और भी अधिक तीव्र गभीर एव सवेदनशील बना दिया है।

सूर की विरह-व्यजना इतनी गभीर एव व्यापक है कि उसमे गोपिकाए जड चेतन तक का विवेक भूल कर हरे भरे मधुवन तक को कोसने लगती हैं। कृष्ण से वियुक्त हो कर जब कि समस्त व्रज व्याकुल हो रहा है उस समय मधुवन का हरे भरे रह कर रमना गोपियो के लिए कैसे सह्य हो सकता है क्योंकि यह वही मधुवन है जिसने कृष्ण-गोपिकाओं की अगणित लीलाओं का साक्षात्कार किया है। कृष्ण ने यहीं तो रासक्रीडा की थी फिर यह उनके वियोग मे क्यों नहीं खडा ही खडा भस्म हो जाता है? सूर ने बडे ही मनोवैज्ञानिक ढग से गोपियो के मनोभाव प्रकट किये हैं —

> मधुबन तुम क्यौं रहत हरे।
> बिरह बियोग स्याम सुदर के ठाढ़े क्यौं न जरे॥
> मोहन बनु बजावत तुम तर, साखा टकि धरे।
> मोहे थावर अरु जड जगम, मुनि जन ध्यान टरे॥
> वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि फिरि पुहुप धरे।
> सूरदास प्रभु बिरह दावानल, नख सिख लौं न जरे॥[2]

गोपाल के बिना गोपिकाओं को मधुवन के कुज शत्रुवत लताए विषम ज्वाल मालाओं के सदृश तथा चन्द्रमा सूर्य के समान सतप्तकारी प्रतीत हो रहा है।[3] गोपिकाओं को काली रात नागिन की तरह भयकर लग रही है।[4] उनके नेत्रों मे पावस ऋतु आकर बस गई है[5] और तभी तो उनके नयनो से बादल तक हार चुके है।[6] सूर ने इसी भाँति कई रूपो मे गोपियो के

---

१ न म का स, पृ ३१२। २ सू०, प ३८२८। ३ भ्रमरगीतसार, आ शुक्ल, पृ ८५।
४ सू०, प ३८६०। ५ सू०, प ४१०३। ६ सू०, प ३८५४।

विरह की अभिव्यजना की है। यद्यपि नरसी मे गोपियो के इस प्रकार के व्यापक भाव-निरूपण का अभाव है, तथापि गोपिकाओ के हताश जीवन के कुछ चित्र नरमी के पदो मे भी मिलते अवश्य है। यहाँ एक गोपिका का चित्र प्रस्तुत किया जाता है, जिसमे उसकी मन स्थिति इतनी करुण हो गई है कि कृष्ण के चले जाते ही उसका समस्त जीवन एकदम सूना हो गया है, उसकी आँखो से अजस्र धाराएँ बह रही है, सुख की नदी तो वह गई हे किन्तु अव उत्ताल तरगो से आदोलित दु ख पूर्ण असीम जीवन-पारावार सामने पडा है, कर्णधार के विना इसके पार कैसे पहुँचा जा सकता है। जाते समय उसने कृष्ण को पकड न रखा इसका पश्चात्ताप उसे अव हो रहा है। सब से कष्ट-प्रद वात तो यह कि प्रिय के विना विरह की इस प्रथम रात को भी रोते-विलखते वह कैसे विता पाएगी—

सुखडाना सिंधुरे, सजनी वही गयारे, दु.खना दरिया आव्या पूर;
मोहन मूर्ति जातां रे, कंई नवि रह्यु रे, नयणे वहे छे सागर पूर
वाहालाजीने जाला रे कांइ नवि उगर्यु रे, हवे ते हाथ घसे शु थाय;
वाहालानो पालवरे, ग्रही अमो नव रह्यारे, कहे हवे मारी रोतां रजनी किम जाय.[1]

सूर ने राधा की विरहावस्था का भी वडा कुशलतापूर्वक वर्णन किया है। राधा इतनी भावना-शील है कि कृष्ण के प्रस्वेद से सिक्त साडी को अति मलिन होने पर भी प्रक्षालित नही करती है, क्योकि वही एकमात्र उसके प्रियतम की मधुरतम स्मृति उसके पास विद्यमान हे। वह मदा अधो-मुख रहती है और कृष्ण के विना सूर्य के अभाव मे कमलिनी की भाँति सर्वथा म्लान हो गई है। कवि के शब्दो मे राधा का करुण चित्र देखिए —

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि स्रमजल भीँज्यौ उर-अँचल, तिहिँ लालच न धुवावति सारी॥
अधमुख रहति अनत नहिँ चितवत, ज्यौँ गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर वदन कुम्हिलाने, ज्यौँ नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भई, इक विरहिनि, दूजे अलि जारी।
सूरदास कैसैँ करि जीवैँ, व्रज बनिता विन स्याम दुखारी॥[2]

विरह की इतनी सूक्ष्म अभिव्यजना सूर के अतिरिक्त अन्यत्र दुर्लभ है। नरसी मे राधा के विरह का एक पद मिलता है जिसमे प्राचीन काव्यशास्त्र के अनुसार राधिका के विरह की 'वारह-मासे' के रूप मे अभिव्यजना की गई हे। कार्तिक से लेकर भाद्रपद तक राधिका के विरह का वर्णन किया गया है और अत मे आश्विन मास मे उसका कृष्ण के साथ मिलन करवाया गया है। भाव की दृष्टि से देखा जाए तो यह पद नितान्त भाव-हीन एव वर्णनात्मक है —

कार्तक महिने कृष्णजी, मेली गया रे महाराज.
रुदन करे राणी राधिका, नयणे आंसुनी धार शुं रे जीवुं संसारमा;
पापी प्राण न जाय, लोभी जीवडो न जाय;

१. न० म० का० सं०, पृ २१२। २. सू०, प ४६६१।

मागशार महिने माधु नहि, मारा मोहनलाल,
सेजलडी रे सूनी पडी, जडया शोषयना साल

* * *

वशाख वन-फळ फलीयां, फुलीया दाडम द्राख,
कोयलडीरे टउका करे, पाकी आबानी शाख

०० ०० ००

मासा मास हरि आवीया, आव्या अबलानी पास[1]

(ई) ब्रजवासियों का कृष्ण-मिलन

चिरकाल के पश्चात् ब्रजवासियों को कृष्ण का सदेश मिलता है कि वे कुरुक्षेत्र में आकर उनसे मिलें। सूरसागर में इस प्रसग का बडा भावपूर्ण वर्णन किया गया है जिसमें मुख्यत कवि ने राधा पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया है। नरसी में इस प्रसग का कहा भी उल्लेख नहा मिलता है।

चिरवियुक्त राधा और कृष्ण दोनो एक-दूसरे से मिलने को अतीव उत्कठित है। रुक्मिणी भी अपने प्रिय की बाल-सहचरी को शीघ्र देखना चाह रही है, पर ब्रजवासियों की इस अपार भीड में वह उस अपरिचिता को कैसे पा सकती है? रुक्मिणी अपने प्रिय से पूछती है —

बूझति है रुकुमिनि पिय इनमें को वृषभानु किसोरी।
नैकु हमें दिखरावहु अपनी बालापन की जोरी॥
परम चतुर जिन कीन्हें मोहन, अल्प बैस ही थोरी।
बारे तें जिहिं यह पढ़ायौ, बुधि बल कल बिधि चोरी॥
जाके गुन गनि ग्रथित माला, कबहुँ न उर तें छोरी।
मनसा सुमिरन, रूप ध्यान उर, दृष्टि न इत उत मोरी॥[2]

कृष्ण दूर युवतियों के मध्य खडी राधा की ओर इगित करते है —

वह लखि जुवति वृन्द में ठाढ़ी, नील बसन तन गोरी।
सूरदास मेरौ मन वाकौ, चितवनि बक हर्यौ री॥[3]

इसके पश्चात सूर ने राधा एव रुक्मिणी की इस प्रकार भेट करवाई है जैसे वे एक ही पिता की सतान हों[4] और दो तन एक प्राण हों। तदनन्तर कवि ने कीट भृंग की भाति राधा माधव का मिलन करवाया —

राधा माधव, माधव राधा, कीट भृंग-गति ह्वै जु गई।
माधव राधा के रंग राचे, राधा माधव रंग रई॥
माधव राधा प्रीति निरंतर, रसना करि सो कहि न गई।
बिहँसि कह्यौ हम-तुम नहिं अंतर, यह कहिकै उन ब्रज पठई॥[5]

---

१ न म का स, २२४, पृ ३२७। २ सू०, प ४८०४। ३ सू०, प ४८०४।
४ सू०, प ४८०६। ५ सू०, प ४८१०।

सूर ने मिलन-समय के राधा के लज्जा, जडता, हर्ष आदि भावो का बड़ा ही भावपूर्ण चित्रण किया है —

> करत कछु नाहीं आजु बनी ।
> हरि आए हौं रही उठी सी, जैसें चित्र धनी ॥
> आसन हरषि हृदय नहिं दीन्हौ, कमल कुटी अपनी ।
> न्यौछावर उर, अरध न नैननि, जलधारा जु बनी ॥
> कंचुकि तैं कुच कलस प्रगट ह्वै, टूटि न तरकि तनी ।
> अब उपजी अति लाज मनहिं मन, समुझत निज करनी ॥
> मुख देखत न्यारी सी रह गई, बिनु बुधि मति सजनी ।
> तदपि सूर मेरी यह जड़ता, मंगल माहिं गनी ॥[१]

नरसी के एक पद मे राधा एव रुक्मिणी के साथ होने का उल्लेख मिलता है, पर वह अपेक्षाकृत अन्य सदर्भ मे ही । कृष्ण ने एक समय सुपुप्ता राधिका की ग्रीवा से हार चुराकर रुक्मिणी को दे दिया । दूसरे दिन राधा ने रुक्मिणी के गले मे अपने हार के मोती पहचान लिये । वह कृष्ण के इस पक्षपात पूर्ण व्यवहार से खूब खीझ उठी । उसने अपना हार वापस न मिलने पर कृष्ण के सम्मुख प्राणोत्सर्ग करने तक का निश्चय कर लिया —

> आज रे कानुडे व्हाले, अमसु अंतर कीधो रे;
> राधीकानो हार हरिए, रुकमणिने दीधो रे.
> शेरीए शेरीए साद पडावुं, घेर घेर हीडुं जोती रे;
> राणी रुकमिणीनी कोटे म्हेंतो, ओळख्यां मारां मोती रे.
> जागती तो लेवा ना देती, कर्म संजोगे सुती रे;
> वेरण निद्रा मुने आवी, हरि हरि करीने उठी रे.
> आगळ जोउं तो गंगा भरेली, थर थर जीवडो कांपे रे;
> प्राण तजुं मारा प्रभुजीनी आगळ मोती मारां आपे रे.
> पेरण आछी लोंबडीनां, ओढण कमखो काळो रे,
> भले मळ्यो नरसैंयानो स्वामी, कानुडो धूतारो चाळो रे.[२]

(उ) अन्य रसों के भाव

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, भगवान् की शील, शक्ति और सौंदर्य विभूतियों में से सूर एव नरसी ने केवल सौदर्य का ही चित्रण किया है । कृष्ण की बाल्य एव यौवन-लीलाओ का गुणगान ही उनके काव्य का प्रमुख विपय रहा है, फिर भी उनकी रचनाओ मे वात्सल्य एवं शृगार के भावो के मध्य कही-कही प्रसंग के अनुसार हास्य, करुण, वीर आदि रसो के भावो की भी अभिव्यंजना मिलती है । यहाँ दोनो कवियों के हास्य, करुणादि रसो पर सक्षेप मे विचार किया जाता है ।

---

१. सू०, प. ४६११ । २. न० म० का० सं०, पृ. ४७६ ।

हास्य

सूर की शैली ही विनोद प्रिय रही है। उनके लीला-पदो में स्थान-स्थान पर कृष्ण की हास्य जनक चेष्टाओं एवं क्रिया-कलापों के द्वारा हास्य रस के भावों की सुंदर अभिव्यंजना हुई है। कृष्ण प्रारंभ से ही बड़े नटखट, वाक्‌पटु, चतुर एवं हाज़िरजवाब थे। एक समय वे किसी गोपिका के यहाँ चोरी करते हुए पकड़ में आ गये। उनका हाथ दधि भाजन में ही था कि किसी गोपिका ने उन्हें उसी स्थिति में पकड़ लिया। किन्तु कृष्ण किस प्रकार बात बनाकर स्वयं को निर्दोष सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं देखिये —

> मैं जान्यौ यह मेरौ घर है, ता धोखैं मैं आयौ।
> देखत हौं गोरस में चींटी, काढ़न कौं कर नायौ।[1]

इसी प्रकार सूर का एक प्रसिद्ध पद है, जिसमें कृष्ण चोरी के माल सहित पकड़ लिए जाते हैं। गोपिका उन्हें यशोदा के पास लाती है, किन्तु यहाँ भी कृष्ण अपनी चतुराई से छूट जाते हैं —

> मैया मैं नहिं माखन खायौ।
> ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
> देखि तुही सींके पर भाजन, ऊँचै धरि लटकायौ।
> हौं जु कहत नान्हे कर अपनैं मैं कैसैं करि पायौ।
> मुख दधि पोंछि, बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ।
> डारि साँटि, मुसकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ॥[2]

इस पद में हास्य रस के विभाव, अनुभाव आदि सभी अंगों का सन्निवेश हुआ है। कृष्ण एवं यशोदा क्रमशः आलंबन तथा आश्रय हैं। कृष्ण की वाक्पटुता तथा द्रोण को पीछे छिपाने की चेष्टा उद्दीपन विभाव एवं यशोदा का मुस्कराना अनुभाव है। इस प्रकार 'सूरसागर' में हास्य रस के कई उदाहरण मिलते हैं। हास्य रस दो प्रकार का होता है आत्मस्थ और परस्थ। हास्य के विषय को देखने मात्र से जो हास्य उत्पन्न होता है, वह आत्मस्थ है। जो दूसरे को हँसता हुआ देखकर उद्‌भूत होता है, वह परस्थ है। ऊपर के दोनों पदों में आत्मस्थ प्रकार का हास्यरस ही निष्पन्न हुआ है।

नरसी के बाललीला के पदों में हास्यरस के भावों का अपेक्षाकृत अभाव रहा है। सूर के बाल कृष्ण की भाँति नरसी के बाल कृष्ण न वाक्पटु हैं और न विशेष चतुर ही। किन्तु अन्य कई प्रसंगों में नरसी ने हास्य रस के भावों का स्वाभाविक चित्रण किया है। हिंडोला, वसंत आदि लीलाओं में कृष्ण-गोपियों की हास्यजनक चेष्टाओं एवं व्यापारों द्वारा कवि ने हास्य रस के उत्तम भावों की अभिव्यंजना की है। यहाँ एक पद प्रस्तुत किया जाता है, जिसमें भगवान् शंकर का बड़ा उपहास किया गया है। शंकर विश्व में योगीन्द्र के रूप में प्रसिद्ध हैं किन्तु दुनिया की आँखों में धूल झोंक कर गंगा जैसी अनिन्द्य सुन्दरी को उन्होंने अपने जटा-जूट में छिपा रखा है। किसी

१ सू०, प ८९७। २ सू०, प ९५२।

स्त्री को पाणि-ग्रहण करके तो कोई उठाकर लाता है, पर शकर का तो कुछ हिसाब ही निराला है। वे उसे जटा-कलाप मे बाँध-कर लाये है। यहाँ उनसे पूछा जा रहा है कि भोले शकर, शीघ्र बताओ, यह पीतवस्त्रा गौरागी तुम्हे कहाँ से मिली है —

भोळा भोळा शंभु तमने, विश्व वखाणे रे;
मूळनी वातो तमारी, कोई नव जाणे रे.
जोगींद्रपणुं शिवजी, तमारुं मे जाण्युं रे;
जटामां घालीने शिवजी, आ क्यायी आण्युं रे ?
कोइ लावे केडे घाली, कोई लावे हाये झाली रे;
मायामां घाली ने शिवजी, क्यांयी तमे आणी रे ?
पीळी पटोळी ने, अंगे छे गोरी रे;
सीदने छूपावो शिवजी, छती थइ छे चोरी रे.
ना रे मानो तो शिवजी, जटाओ छोडावुं रे;
जटामांयी नीकळे तो फरी ना वोलावुं रे.[1]

करुण

'सूरसागर' के 'दावानल' के प्रसग मे करुण-रस के भावो की अभिव्यजना हुई है। सभी ग्वाल-वाल करुण स्वर मे कृष्ण से विनती करते है कि उन्हें अविलव इस आपत्ति से मुक्त करें —

अब कैं राखि लेहु गोपाल।
दसहूँ दिसा दुसह दावागिनि, उपजी है इहिं काल।
पटकत बाँस, काँस कुस चटकत, लटकत ताल तमाल।
उचटत अति अंगार, फुटत कर, झपटत लपट कराल।
धूम धूँधि बाढी घर अंबर, चमक बिच-बिच ज्वाल।
हरिन बराह, मोर, चातक, पिक, जरत जीव बेहाल।[2]

यहाँ शोक ही प्रमुख रूप मे स्थायी भाव है।

यद्यपि नरसी के लीला-परक पदो मे विशुद्ध करुण-रस के उदाहरण प्रायः विरल है, तथापि उनके आत्म-परक काव्य 'हारसमैना पदो अने हारमाळा' मे करुण-वात्सल्य के साथ इस रस के भाव-शोक-की अभिव्यजना मिलती है। गोविंद से 'हार' प्राप्त करने में असफल होने पर राजा रा'माडलिक ने नरसी को मृत्युदड देने की घोषणा की। अपने पिता की मृत्यु निकट देखकर कुवरबाई रुदन करती हुई पिता के पास आती है। उस समय नरसी अपनी पुत्री को किस प्रकार के करुण स्वर मे सात्वना देते है, यह कवि के शब्दो मे ही द्रष्टव्य है —

सासरे पधारो रे, मारी कुंवरी रे, विपत वेदना विसार.
पियर तमारुं रे, पुत्री ढूकडुं रे, छे श्री गोकुल पति परिवार.
तात तमारो त्रिकमरायजी रे, मात तमारी लक्ष्मी जेह.

१. न० म० का० सं०, पृ ५००। २. सू०, प. १२३३।

रुदन मा करशो रे, हरिजो हसशे रे, नथी कोइ आयुनु लोहनार,
मुज निरधनने रे, तु पेटे पडी रे कइ नव पामी पियरमा सुख दीधु
नात कठोर रे, कठोर नागर तणी रे, ठाम ठाम दीधु बहु दुःख,
मात तारो रे, हरिने जइ मळो रे, आत श्रीकृष्ण पाम्यो शरण
घरण घलुध्यो, र, कुवरी हु रह्यो रे, आम अकाळे मूडु मरण
प्रेमनी पीडा रे, कुवरी पीडे घणू रे, पण शिर पे हरिनो हाथ[1]

अपनी मृत्यु को अतीव सन्निकट देखकर नरसी के हृदय म पुत्री के लिए उद्भूत वात्सल्य तथा साथ ही अपने युवा पुत्र एव पत्नी क अकाल निधन क स्मरण स निष्पन्न शोक से वातावरण पूर्णत करुणार्द्र हो उठा है।

रौद्र

'गिरि धारण-लीला' के प्रसग म सूर ने इस रस के भाव की अभिव्यजना की है। कृष्ण क कथनानुसार ब्रजवासियो ने इन्द्र की पूजा त्याग कर गोवर्द्धन की पूजा की। इन्द्र न ब्रज वासियो की धृष्टता का बदला लेन का निश्चय किया। उसने क्रोधाविष्ट होकर अपना निश्चय इस प्रकार प्रकट किया —

प्रथमहिं देउँ गिरिहिं बहाइ।
बज्र घातनि करौं चुरकुट, देउँ धरनि मिलाइ ॥
मेरी इन महिमा न जानी, प्रगट देउँ दिखाइ।
बरसि जल ब्रज धोइ डारौं लोग देउँ बहाइ ॥

* * *

रिस सहित सुरराज लीन्ह, प्रलय मेघ बुलाइ।
सूर सुरपति कहत पुनि पुनि, परौ ब्रज पर धाइ ॥[2]

नरसी म इस रस से सबद्ध भाव 'हार प्रसग' मे उपलब्ध होते हैं। राजा रा माडलिक के नरसी पर किये गए अनाचार से रामानद नामक साधु कुपित होकर राजा को शाप देते हैं —

त्यारे रामानद केहे मडळिकने, होणमति तु रायजी
धिक धिक जीवतर तारु राजा, धिक धिक तुज पितायजी
असुर तणे हाथे मरण पामजे, जार जातना तनजी
रामानंदे राजा शाप्यो, कहा बहु, क्रोध वचनजी
राज्य तारु जशे अपराधी तें दूभ्यो हरिना दासजी
रिद्ध सिद्ध सपत तारो जाशे, नहि रह कोइ तृण वासजी[1]

१ हा० स० हा० के पद ७९, परि० ८। २ सू०, प १४७०।
३ हा० स० हा० के०, प १५४।

वीर

सूर मे वीर रस के भाव 'भीष्म-प्रतिज्ञा' से सबद्ध पद मे उपलब्ध होते है, जिसमे पितामह भीष्म रणभूमि मे कृष्ण की शस्त्र ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा भग करवाने का निश्चय प्रकट करते है —

आजु जौ हरिहिं न सस्त्र गहाऊँ ।
तौ लाजौं गंगा जननी कौं सांतनु सुत न कहाऊँ ।
स्यंदन खंडि महारथि खंडौं, कपिध्वज सहित गिराऊँ ।
पांडव-दल-सन्मुख ह्वै धाऊँ, सरिता रुधिर बहाऊँ ।
इति न करौं सपथ तौ हरि की, छत्रिय गतिहिं न पाऊँ ।
सूरदास रनभूमि बिजय बिनु, जियत न पीठि दिखाऊँ ॥[1]

नरसी-साहित्य मे विशुद्ध वीर रस के उदाहरण प्राय उपलब्ध नही होते है ।

भयानक

सूर ने दावानल की प्रचण्डता का बडा ही भावपूर्ण वर्णन किया है —

भहरात झहरात दवा (नल) आयौ ।
घेरि चहुँ ओर, करि सोर अंदोर वन, धरनि आकास चहुँ पास छायौ ॥
वरत वन-वॉस, थरहरत कुस कॉस, जरि उड़त है मॉस, अति प्रवल धायौ ।
झपटि झपटत लपट, फूल-फल चट-चटकि फटत, लट लटकि द्रुम द्रुमनवायौ ॥
अति अगिनि-झार, भंभार धुंधार करि, उचटि अंगार झंझार छायौ ।
वरत वन पात भहरात झहरात अररात तरु महा, धरनी गिरायौ ॥[2]

'हार-प्रसंग' में भगवान् नरसी को हार प्रदान करते हैं। उस समय राजा रा'माडलिक और उसकी सारी सभा भय से कॉप उठती है —

कमाड कडकडियां गडगडियां रे, मंडळिकनां मंदिर,
सांकळ त्रुटी ने द्वार उघडिया रे, समरथ श्याम शरीर.
खडखडियां घर ने कोशीसां रे, पडियो पोळे पोकार,
ध्रूजे भूप सभामां सहुको रे, थइ रह्यो हाहाकार.

*　　　*　　　*

राजा हतो ते थर थर कांप्यो, कहे महा अपराध मे कीधो रे.[3]

बीभत्स

सूर एवं नरसी दोनो कोमल भावो के ही कवि रहे है । अत. वीभत्स रस के भाव उनकी रचनाओं मे ढूढ निकालना दुस्तर कार्य है ।

---

१. सू०, प. २७० । २. सू०, प १२१४ । ३. हा० स० हा० के०, पृ १५१, १५२ ।

अद्भुत

माटी भक्षण प्रसग मे सूर न इस रस क भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। कृष्ण के मुख म अखिल ब्रह्माण्ड के दशन प्राप्त कर नदरानी स्तब्ध हो जाती है—

> नदहिं कहति जसोदा रानी।
> माटी के मिस मुख दिखरायौ, तिहू लोक रजधानी।
> स्वग, पताल, धरनि, बन, पवत बदन माँझ रह आनी।
> नदी सुमेर देखि चकित भई, याकी अकथ कहानी।
> चित रहे तब नद जुवति मुख मन-मन करत बिनानी।[१]

नरसी ने हार प्रसग म अदभुत रस की अभिव्यजना की है। नरसी को हार अर्पित करने के लिए जब भगवान प्रकट हुए तब आश्चय के साथ सभा म उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति न अपन अपने भावानुसार भगवान् के दशन प्राप्त किये —

> मुनिजन नो तेडयो ना आव,
> ब्रह्माने वश ना थाये रे,
> ते प्रभुए प्रत्यक्ष आवी,
> नरस भक्तनी कीधी साहे
> श्रीपात सन्यासी विस्म पाम्या,
> जोइ रह्या गोपाळ रे,
> रघुनाथाश्रमे रघुनाथ दीठा,
> नरसिंहाश्रमे नृसिंह रूप रे[२]

शात

सूर के विनय के पदो मे तथा नरसी के भक्तिज्ञानना पदा म ससार की क्षणिकता आत्मदैन्य ईशभक्ति आदि शातरस के भाव प्रमुख रूप म मिलते हैं। उदाहरणाथ यहाँ दोना का एक एक पद दिया जाता है—

सूर

> थोरे जीवन भयौ तन भारौ।
> कियौ न सत-समागम कबहूँ, लियौ न नाम तुम्हारौ।
> अति उनमत्त मोह माया-बस, नहिं कछु बात विचारौ।
> करत उपाव न पूछत काहूँ, गनत न खाटौ-खारौ।
> इद्री-स्वाद बिबस निसि बासर, आप अपुनपौ हारौ।[३]

---

१ सू०, प ८७४। २ हा स श के, पृ १५२। ३ सू० प १५२।

नरसी

समर ने श्रीहरी, मेल्य ममता परी, जोने विचारीने मूळ तारुं;
तुं अल्या कोण ने कोने वळगी रह्यो, वगर समजे कहे म्हारुं म्हारुं.
देह तारो नथी, जो तुं जुगते करी, राखतां नव रहे निश्च जाये;

० ० ०

भरनिद्रा भर्या, रोधि घेर्यो घणो, संतना शब्द सुणी कां न जागे ?[1]

(ऊ) प्रकृति-चित्रण

अनादिकाल से ही मानव और प्रकृति एक-दूसरे से सवद्ध है। जीवन के प्रारभ से अत तक प्रकृति मानव के भाव-विकास और आनन्द-प्रसार मे योग देती रही है। भाव ही कविता की आत्मा हैं और इनका परिष्कार प्रकृति के विविध व्यापारो एव रूपो के साथ सामजस्य होने पर ही सभव है। इसीलिए काव्य मे प्रकृति का चित्रण स्वत. हो गया है। कवियो ने अपने काव्य मे प्रकृति-चित्रण दो रूपो मे किया है—आलबन के रूप मे तथा उद्दीपन के रूप मे।

कृष्ण का प्रारभिक जीवन वृन्दावन के रम्य कछारो, सुरम्य वनो, पक्षियो के कलरव से मुखरित सघन कुजो, वसन्त और वर्षा की वहारो के मधुमय वातावरण मे व्यतीत हुआ। प्रकृति के रमणीय स्थलो मे ही कृष्ण ने गोपांगनाओ के साथ रास, हिंडोला, वसत आदि लीलाएँ की थी। सूर एव नरसी ने कृष्ण की विविध लीलाओं का अकन करते हुए भाव-विकास मे प्रकृति के विविध रूपो का भावानुकूल चित्रण किया है। यद्यपि प्रमुख रूप से दोनो ने प्रकृति का उद्दीपन रूप मे ही अकन किया है, तथापि कही कही उनमे आलवन के रूप मे भी प्रकृति-चित्रण मिलता है। प्रकृति सभोगावस्था मे जिस प्रकार मधुर भावो को उद्दीप्त करती है उसी प्रकार वियोगावस्था मे भी वह विरह के भावो को अधिक तीव्र एव गभीर वनाती है। दोनो ने सभोग एव वियोग दोनो समयो मे प्रकृति के अतीव भावपूर्ण तथा भावोद्दीपक चित्र प्रस्तुत किये है। यहाँ हम दोनो कवियो के प्रकृति वर्णन पर तुलनात्मक विचार करेंगे।

प्रभात

दोनो कवियो मे प्रभात-वर्णन मिलता है, जिसमे उन्होने विविध प्राकृतिक दृश्यो का भावानुकूल चित्रण किया है।

सूर की राधा प्रभात होते ही कृष्ण को उनके घर जाने के लिए उठा रही है। उसे भय है कि कही कृष्ण का वहाँ रहने का किसी को पता न लग जाए। राधा प्रात.कालीन सौदर्य का वर्णन करते हुए अपने प्राणप्रिय कृष्ण को इस भाँति जगा रही है—

बोले तमचुर, चार्यो जाम कौ गजर मार्यौ, पौन भयौ सीतल, तिमि तैं तमता गई।
प्राची अरुनानी भानु किरनि उज्यारी नभ छाई, उडुगन चंद्रमा मलीनता लई॥
मुकुले कमल, बच्छ बन्धन बिछोह्यौ ग्वाल चरैं चलीं गाइ, द्विज पैं ती कर कौ दई।
सूरदास राधिका सरस बानी बोलि कहै, जागौ प्रान-प्यारे जू सवारै की समै भई।[2]

---

१. न. म. का. सं., पृ. ४८२। २. सू०, प. २६५६।

यहाँ आलबन के रूप म प्रकृति-वणन किया गया है।

सूर की भाँति नरसी ने भी आलबन क रूप म प्रात काल के अनुपम दश्य का रसपूण वणन किया है। एक गापिका प्रभात होते ही अपन घर जान का उत्सुक है पर कृष्ण न उसे इस भाँति भुजाआ म कस रखा है कि उससे मुक्त हाना उसके लिए कठिन हा रहा है। गापिका कृष्ण क पाँव पडकर विनति कर रही है कि चन्द्र अस्त हा गया है पूव म अरुणादय हा चुका है, नक्षत्र निस्तेज हो गये हैं ताल-तलयाआ म कमल विकसित हा गये हैं और उनम सारी रात कद रहे भँवरे भी उड चुके हैं तथा कुक्कुट बोलने लगे हैं। अब ता किसी तरह उसे अपने घर जाने दिया जाए। सूर के ऊपर के प्रभात-वणन से नरसी का यह वणन अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक एव भावपूण है —

प्रात हवो प्राणपति, इदु गयो आयमी, का रहा वाहुडी कठ घाली,
नाय मुको बाय मायी, मुजने बळगो नहीं, शु करशो हजु हाय झाली
आ जुवो अरुण, पुरव दसा उगियो, तेज तारातणा क्षीण दीसे,
शब्द सोहामणा सावजा ओचरे, वच्छ धेन घणु घेर हीसे
ललित स्वर सुदरी, ललित आलापती, घेर घेर दधि घोष मयन थाये,
उठ आलस तजी, कानजी माहरा, सासु जसोदा सादे साहे
कमल विकासीया, मधुप मध्य उडी गया, कुरकुटा बोले पीयु पाय लागु,
सूय उग्या समे, लाजीए घर जता, नरसयाचा स्वामी मान मागु[1]

नरसी ने प्रभात के कई और भी उत्तम चित्र अकित किये हैं। उनकी निम्नलिखित पक्तिया मे प्रात कालीन सौंदय क साथ जार रति के मधुर भावा का सामजस्य कितना स्वाभाविक एव रसपूण है —

निद्रा तो आवे रे, सुदर तारे बारणे रे, वेरण जाता न जाणी रात,

० ० ०

अवर छोडोरे विठठल माहरु रे, परण्यो आलशो नीत नीत मोटु आल
पचम आलाप्यो रे *पखोडा सोर करे रे,* वाहला मारा प्रक्ट थयो प्रभात[2]

दोना कविया ने प्रात काल का शुद्ध रूप म भी वणन किया है। प्रात काल हाने पर सूर की यशोदा अपने कुवर को इस प्रकार जगाती है —

जागिए, ब्रजराज कुवर कमल कुसुम फूले।
कुमुद-वृद सकुचित भए, भृग लता भूले।
तमचुर खग रोर सुनहु, बोलत बनराई।
राँभति गो खरिकनि मैं, बछरा हित धाई।
बिधु मलीन, रबि प्रकास, गावत नर नारी।
सूर स्याम प्रात उठौ अम्बुज-कर धारी॥[3]

---

१ न० म० का० स०, पृ० ३१०। २ न० म० का० स०, पृ० २४८। ३ सू०, प० ८२०।

सूर का यह पद 'मगला' के समय गाने के लक्ष्य से बनाया गया है, इसीलिए इसमे कृष्ण को व्रजराज कुँवर जैसे सबोधन से अभिहित किया गया है। नरसी ने भी इसी प्रसग का एक चित्र अकित किया है जिसमे माता यशोदा 'जादवा', 'विठ्ठला', 'गोविद', 'कहान' जैसे मधुर सबोधनो द्वारा पुत्र को जगा रही हैं। कवि ने इस पद मे प्रात काल के समय का नद-महर के आँगन का एक लघु शब्द-चित्र प्रस्तुत किया है —

उठ उतावळो, चाल्य ने विठ्ठला, गोविद गाय ने वच्छ धावे;
जागने जादवा, जननी जशोदा वदे, कहान कां घणी तने निद्रा आवे.
दंतधावन करो, आळस परहरो, रजनी तिमिर गयुं पोहो फाट्यु,
करमळो कूरने, शेन शीरावतो, दहिरे दामोदरा थाय खाटुं.
बारणा बाहार वळिभद्र उभा रह्या, जो रे वाहाला तारी वाट जोये;
नरसैंना स्वामिनुं, मूखडु दीठडे, मातानुं मनडु अतिरे मोहे.[१]

वृन्दावन

वृन्दावन के अप्रतिम सौदर्य का दोनो कवियो ने विविध रूपो मे वर्णन किया है, जिसमे उसके क्षण-क्षण मे अभिनव रूप मे परिवर्तित होनेवाले प्राकृतिक सौदर्य के साथ-साथ शाश्वत सौदर्य का भी आभास मिलता है —

सूर

नित्यधाम वृन्दावन स्यामा। नित्य रूप राधा व्रज-वाम ॥
सदा वसंत रहत जहँ वास। सदा हर्ष जहँ नहीं उदास ॥
कोकिल कीर सदा तहँ रोर। सदा रूप मन्मथ चितचोर ॥
विविध सुमन वन फूले डार। उन्मत मधुकर भ्रमत अपार ॥[२]

नरसी

स्नेह कारण महाशशी शीतळ श्रीरंग अंगना संगमे,
तरणि तनमां तारुणी ताहां रूपशुं रंगे रमे.
तरणि कोटिक तेज रम्य मयंक महामति परसियो,
सहज कर्तव काम भाळ्ये कार्य कारण नव लह्यो.
एहवुं नौतम पद शोभन वृन्दावन,
तेहनी शोभा श्रवण न सांभळे.[३]

१. न म. का स., पृ ४७५, ४७६। २. सू०, प० ३४६१। ३ चा०, परि० १, पद १।

वर्षा

सूर ने संभोग एवं विप्रलंभ दोनों अवस्थाओं में वर्षा के कई भावोद्दीपक चित्र अंकित किए हैं। सूर का संभोग दशा का एक रम्य चित्र देखिए, जिसमें वर्षा का वर्णन उद्दीपन के रूप में किया गया है। चारों ओर घन घटाएँ छा रही हैं, बादल गरज रहे हैं, बिजली चमक रही है, और मधुर मेह बरस रहा है। ऐसे मादक समय में कृष्ण राधा उन्मत होकर झूला झूल रहे हैं —

बलभद्र सहित गुपाल झूलत, राधिका अरधंग ॥
जल भरित सरवर, सघन तरुवर, इन्द्र धनुष सुदेस।
घनस्याम मध्य सुपेद बगजुरि, हरित महि चहूँ देस ॥
तहँ गगन गरजत, बीजु तरपत, मधुर मेह प्रसेस।
झूलत स्याम स्यामा, सीस मुकुलित केस ॥[1]

संभोग के समय वर्षा की बौछार, घन गर्जना और विद्युत प्रकाश अनुकूल भावों के उद्दीपक होने से सुखद प्रतीत होते हैं, वे ही विप्रलंभ के समय प्रतिकूल भावों का उद्दीपन करने से दुःखद प्रतीत होते हैं। संभोग के समय जो वर्षा आँखों को रससिक्त कर देती है, वही कृष्ण से वियुक्त होने पर गोपिकाओं के नयनों से अश्रुओं की झड़ी लगवा देती है। चारों ओर उमड़ घुमड़कर बरसते बादल उन्हें अपने ऊपर धँसे आते मदस्रावी हस्तियों की भाँति भयानक प्रतीत होते हैं। इसी भाव का सूर का निम्नलिखित पद लीजिए, जिसमें वर्षा के द्वारा गोपिकाओं के वियोग के भावों को उद्दीप्त होते बताया है —

देखियत चहूँ दिसि तें घन घोरे।
मानौ मत्त मदन के हथियनि बल करि बंधन तोरे।
स्याम सुभग तन चुवत गंडमद, बरसत थोरे थोरे ॥
रुकत न पवन महावत हू पै, मुरत न अंकुस मोरे।
मनो निकसि बग-पंक्ति दंत, उर अवधि-सरोवर फोरे।
मनो निकसि बग-पंक्ति दंत, उर अवधि-सरोवर फोरे ॥

बिनु बेला बल निकसि नयनजल, कुच कंचुकी बँद बोरे ॥
तब तिहिं बेला आनि ऐरावति, ब्रजपति सौं करि जोरे।
अब सुनि सूर कान्ह केहरि बिनु, गरत गात जसे ओरे।[2]

इन प्रमत्त मदन-हस्तियों को दमित करने का सामर्थ्य कृष्ण-केसरी के अतिरिक्त और किसमें विद्यमान है? भ्रमरगीत में वर्षा के ऐसे अनेक भावोद्दीपक चित्र मिलते हैं।

नरसी के काव्य में वर्षा का वर्णन प्रायः संभोग शृंगार में ही उपलब्ध होता है। 'हिंडोळ लीला' में संभोग के उद्दीपक के रूप में नरसी ने वर्षा के कई सुन्दर चित्र अंकित किए हैं। यहाँ उदाहरणार्थ एक पद दिया जाता है, जिसमें कवि ने 'झरमर-झरमर' बरसते मेह में गोपिकाओं के साथ कृष्ण को बड़े उछाह से झूलते हुए चित्रित किया है। बिजली के प्रकाश में गोपिका की

१ सू०, प० ३४६०। २ सू०, प० ३९२१।

कचुकी के चमकने, मयूर के 'टहूकने' और कोकिला की कल काकली के साथ वमरी के मादक स्वर के सम्मिलित होने से वातावरण कितना ग्राह्लादक एव भावोद्दीपक हो गया है—

सखी झरमर झरमर वरसे मेह, तंम नाथने नारी संग वाधे नेह;
लपटाइ ते अवळा अंगे, घुमलडी घाली नाचे संगे.
अवळाए अवंडो वाळचो, उर अंवर अंतर टाळचो,
चतुरानी ते चोळी चमके, जंम विज गगनमां दमके.
मध्ये मोर मधुरा टौके, कोयलडी माही कौके
वांसलडी वहालो वाये, तंम तम गोपी नाचे ने गाये.[१]

वर्षा के मादक वातावरण एव कृष्ण के सान्निध्य का गोपिका पर इतना मधुर प्रभाव पडा है कि उसने जान-बूझकर ही अपने और कृष्ण के वीच 'उर अवर' के अन्तर को दूर कर दिया है।

रिमझिम-रिमझिम वरसता मेह जिस प्रकार गोपी-कृष्ण के मधुर भावो को उद्दीप्त करता है, उसी प्रकार मेह की मान्द्र-गम्भीर-गर्जना भी उनको उन्मत्त वना देने के लिए पर्याप्त है। यहाँ मेघ-गर्जना को सुनकर कृष्ण का नृत्य करना तथा गोपिकाओ का 'ताल-पखावज' वजाना कितना सहज एव मनोहारी प्रतीत होता है—

मेउलो गाजे ने माधव नाचे, रुमझुम वाजे घुघरडी,
आछां चीर चरणां ने चोळी, माथे लीली लोवरडी.
ताळ पखाज वजाडे गोपी, श्याम वजाडे वांसलडी;
दादुर मोर वपैया वोले, मीठे स्वरे बोली कोयलडी.[२]

वर्षा की झडी ने व्रजवालाओ को इतना परवश वना दिया है कि वे अपने हर्षवेग को रोक नही सकी हैं और पुष्पमालाएँ लेकर कृष्ण से मिलने दौड पडी है—

झोणी झड लागी उपरथी, वीच वीच वीज झवूके रे,
उलटचो अंवर गाजी रहेतां, मोर मधुरा टहूंके रे.
सन्मुख आवी श्यामा सर्वे, करी कुसुमना हार रे,
जीवनने कंठे आरोपी, करे नैणना मार रे.[३]

यहाँ कवि ने अन्तिम दो पक्तियो मे गोपिकाओ के हाव-भावो एव चेप्टाओ का कितना आह्लादक चित्र अकित किया है। अपने प्राणप्रिय कृष्ण के लिए गोपिकाओ द्वारा प्रयुक्त 'जीवन' शब्द कोरा लाक्षणिक ही नही अपितु भाव-पूर्ण भी है।

वसंत

वर्षा के उपरान्त दोनो कवियो ने वसत-शोभा के अतीव मोहक चित्र अकित किये है। सूर्य के उत्तरायण के साथ ही प्रकृति का सारा वातावरण ही वदल जाता है। स्वच्छ सलिला नदियाँ मद गति से, प्रवाहित होने लगती है, कोयल कूकने लगती है, आम्रमंजरियो एव अन्य

१ न. म का सं, पृ ४३६। २. न. म का. सं, पृ. ४३९, ४४०। ३. न म. का. सं., पृ. ४४८।

पुष्पों की मादक सुगन्ध से समग्र वायुमंडल सुरभित हो उठता है। इस प्रकार के उद्दीपक एवं मादक वातावरण में कौन ऐसी गोपिका होगी, जो कृष्ण के साथ वसन्त क्रीडा के लिए तत्पर न हो? सूर ने मधुमास के मादक सौन्दर्य का चित्रण इस भांति किया है—

> सुंदर वर संग ललना विहरति, बसंत सरस ऋतु आई।
> लै लै छरी कुमारी राधिका, कमलनैन पर धाई॥
> सरिता सीतल बहति मंद गति, रवि उत्तर दिसि आयौ।
> अति रसभरी कोकिला बोली, बिरहिनि बिरह जगायौ।
> द्वारत का रतनारे देखियत, चहुँ दिसि टेसू फूले।
> मौरे अंबुआ अरु द्रुम बेली, मधुकर परिमल भूले॥[1]

सूर की ही तरह नरसी ने भी विविध रूपों में वसन्त-श्री के सौन्दर्य का वर्णन किया है। सूर की कोकिला ने जहाँ अपनी मत्त वाणी द्वारा मात्र विरही जनों के विरह भाव को जागृत किया है वहाँ नरसी की 'मन्माती' कोकिला ने तो इससे भी आगे बढ़कर समस्त युवक-युवतियों को 'कल्लोल करो कल्लोल करो' के अधिकारपूर्ण स्वर में मधुर आदेश सुनाना प्रारम्भ कर दिया है। नरसी का यह वसन्त-वर्णन स्वाभाविकता में सूर से किसी भी मात्रा में न्यून नहीं है—

> वसंत ऋतु अति रूडो आयो, रूप रूयु वननु,
> आज सखी मन गमतु जोने, मुखडु मोहननु
> आंबामोर घटा घई घरो, कुपळ अति राती,
> 'करो करो कल्लोल' कहे छे, कोयलडी मदमाती
> केसुडां थयां कुमकुम वरणां, मधुकर सुख साधे
> नरसैयांचा स्वामी संग रमतां, रंग घणेरो वाधे[2]

शरद

वर्षा एवं वसंत की ही भांति कृष्ण की रास आदि लीलाओं में शरद् ऋतु का भी दोनों कवियों ने अतीव सरस वर्णन किया है। शरद राका के ही मादक वातावरण में कृष्ण ने मुरली वादन कर 'रास' के लिए गोपांगनाओं का आह्वान करके उनके साथ अपनी मधुरतम रास क्रीडा की थी।

सूर ने संभोग एवं विप्रलंभ दोनों के भाव विकास में शरद के वातावरण का उद्दीपक के रूप में वर्णन किया है। 'भ्रमरगीत' प्रसंग के निम्नलिखित पद से सूर ने शरद के सहज सौन्दर्य का चित्रण किस भांति किया है, देखिये—

> अब यह बरषौ बीत गई।
> जनि सोचहि, सुख मानि सयानी, भली रितु सरद भई।
> फुल्ल सरोज सरोवर सुंदर, नव बिधि नलिनि नई।
> उदित चारु चंद्रिका किरन, उर अंतर अमृतमई।

---
१ सू० सा० ३४७३। २ न० म० का० स०, पृ ६०१।

घटी घटा अभिमान मोह मद, तमिता तेज हई।
सरिता संजम स्वच्छ सलिल सब, फाटी काम कई॥
यहै सरद संदेश सूर सुनि, करुना कहि पठई।
यह सुनि सखी सयानी आईं, हरि रति अवधि हई॥[1]

विरहिणी के लिए शरद्-रात्रि भी अनल के समान तथा चन्द्र सूर्य के समान प्रखर लगने लगे है—

गोविंद विनु कौन हरै नैननि की जरनि।
सरद निसा अनल भई, चंद भयौ तरनि।
तन मैं संताप भयौ, दुर्यौ अनंद घरनि।
प्रेम पुलक वार वार, अँसुवन की ढरनि॥[2]

नरसी ने 'रास-प्रसग' मे शरद्-शोभा के अतीव आह्लादक रम्य चित्र अकित किये है। शरद्-पूर्णिमा की ज्योत्स्ना मे प्रमत्त गोपिकाएँ नूपुरो की मधुर झकार के साथ किस भाँति नृत्य कर रही हैं, देखिये—

सुन्दर शशी, रजनि रलियामणि,
भामिनी रमे रे संग संगे.
ताल ताली तान नेपुर रणझणे,
झमकते झांझरे नार्य नाचे.[3]

कवि ने अपनी निम्नलिखित पंक्तियो मे सुहावने शरच्चन्द्र और कृष्ण के साथ केलि करती गोपिका के अल्हड सौन्दर्य का कितना मादक एव रसपूर्ण सामजस्य स्थापित कर दिया है—

सरद सोहामण चांदलो, अति सोहमण्य नार्य,
केल्य करन्ती कृष्णश्यूं, करती थै थै कार.[4]

---

१. सू०, प० ३६६०। २. सू०, प० ३६६२। ३ नरसैं महेताना पद, के का. शास्त्री, पद ६१।
४ राससहस्रपदी, के. का शास्त्री, पृ. ८।

सप्तम अध्याय

सूर एवं नरसी के काव्य का कला-पक्ष

सप्तम अध्याय

सूर एवं नरसी के काव्य का कला-पक्ष

गत अध्याय मे दोनो कवियो के काव्य के भाव-पक्ष पर विचार किया गया है, जिसमे कृष्ण के लीलाक्रम को लक्ष्य मे रखकर दोनो के वात्सल्य, शृगार आदि रसो के भावो, अनुभावो, चेष्टाओ आदि का निरूपण हुआ है। यहाँ अब उनके काव्य के कला-पक्ष पर विचार किया जा रहा है।

जैसा कि पहले निर्दिष्ट किया जा चुका है, दोनो कवियो का मुख्य साध्य भक्ति ही था। अत काव्य के बाह्य पक्ष की ओर उनका विशेष लक्ष्य न होना स्वाभाविक है। फिर भी उनके भक्ति-काव्य के अनुशीलन से यह विदित होता है कि उनमे उच्च कोटि के भक्तिभाव के साथ जहाँ नवोन्मेषशालिनी अपूर्व सहज काव्य-प्रतिभा थी वहाँ अभिव्यक्ति की सहज एव उत्तम कलात्मक प्रक्रिया भी उनमे विद्यमान थी। अत इस दृष्टि से भाव-पक्ष की ही भाँति उनका कला-पक्ष भी पूर्णत समृद्ध है। कला-पक्ष के अलकार, छन्द एव भाषा प्रमुख अग माने जाते हैं। यहाँ इन्ही अगो पर अब क्रमश विचार किया जाएगा।

अलंकार-विधान

अलकार शब्द की व्युत्पत्ति 'अलकरोतीति अलकार.' होती है, जिसका अर्थ है, अलकृत करनेवाला अथवा शोभाकारक। जिस प्रकार लौकिक व्यवहार मे सुवर्णरत्नादि निर्मित आभूपण शरीर को अलकृत करने के कारण अलकार कहे जाते हैं, उसी प्रकार शब्द और अर्थ की चमत्कारक रचना द्वारा जो काव्य को अलकृत करते है, वे काव्यशास्त्र मे 'अलकार' कहे जाते है।

काव्य मे अलकारो के महत्त्व का विवेचन करते हुए चन्द्रालोककार जयदेव कहते हे कि जो काव्य को अलकार-रहित मानता है, वह अग्नि को अनुष्ण क्यो नही मानता—

अंगीकरोति यः काव्य शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती॥ चन्द्रालोक, जयदेव।

दोनो कवियो ने अलकारो का प्रयोग विशेपकर सौंदर्य-बोध के लिए ही किया हे। उनके काव्य मे जो अलकारो का सन्निवेश मिलता है, वह प्रयत्न-साध्य न होकर स्वत एव सहज रूप मे ही हो गया है। यहाँ दोनो के काव्य मे से आवश्यक उद्धरणो को प्रस्तुत करते हुए उनके अलकार विधान पर विचार करेगे।

सूर की वृत्ति मुख्यत भाव-निरूपण मे ही सन्निष्ट रही थी। उन्होने अपने उमडते हुए अथाह भाव-सागर को सहज अलकृत शैली मे ही अभिव्यक्ति दी है। उनकी रचनाओ मे जैसी भाव-प्रवणता है, वैसी ही आलकारिक चमत्कृति भी। सूर के अनुभूति एव अभिव्यक्ति-पक्ष को

दृष्टिगत रखते हुए आचार्य शुक्ल जी कहते हैं, 'सूर में जितनी सहृदयता और भावुकता है, प्रायः उतनी ही चतुरता और वाग्विदग्धता भी है।'[1]

सूर ने वर्ण-सौन्दर्य की अभिवृद्धि करनेवाले शब्दालंकारों का प्रयोग अधिक न करके अर्थ-सौन्दर्य की सृष्टि करनेवाले अर्थालंकारों का ही प्रचुर मात्रा में प्रयोग किया है। शब्दालंकारों में उन्होंने केवल अनुप्रास, यमक, वक्रोक्ति और वीप्सा का ही प्रयोग विशेषतः किया है। उनके प्रसिद्ध दृष्टिकूट पदों में यमक एवं श्लेष अधिक मिलते हैं। वीप्सा का प्रयोग उन्होंने भक्तिभाव पूर्ण पदों में तथा वक्रोक्ति का व्यंग्योक्तियों में किया है। वक्रोक्ति का अर्थ है वाणी का विलक्षण व्यापार। इस दृष्टि से देखा जाए तो सूर के काव्य में व्यंग्य को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

नरसी में सूर की अपेक्षा शब्दालंकारों और उनमें भी अनुप्रासों का प्रयोग सर्वाधिक मिलता है। संभव है यही स्वीकार कर कवि नर्मद ने नरसी के अलंकार विधान के सम्बन्ध में कहा है, 'नरसी की कविता स्त्री की तरह सामान्य, सादी, सरल, अलंकार रहित एवं स्थिर है।'[2] नरसी के वर्णाश्रित मूलक अनुप्रास के बाहुल्य को देखकर यह अवश्य कहा जा सकता है कि कवि के भावों को इनके द्वारा संगीतमय बनाने में पर्याप्त सहायता मिली है। नरसी-साहित्य में जहाँ कहीं अनुप्रास, वीप्सा आदि शब्दालंकारों का प्रयोग मिलता है वहाँ वह पद की गेयता को अधिक स्वाभाविक बनाने में ही योग प्रदान करता है। नरसी प्रयुक्त अनुप्रासों द्वारा जहाँ एक ओर ध्वन्यात्मक सौन्दर्य का विधान हुआ है वहाँ दूसरी ओर उनसे भावानुकूल वातावरण की भी सृष्टि हुई है। उनकी अनुप्रास-योजना का वैशिष्ट्य देखिए —

वृत्यनुप्रास (उपनागरिकावृत्ति)

(अ) मेउलो गाजे ने माधव नाचे, रुमझुम वाजे घुघरडी,
आछां चीर चरणां ने चोळी, माथे सोली लोबरडी[3]

(आ) वींछीडाने ठमके चाले, झांझरना झमकार रे[4]

(इ) जम जम नाचे शामळीयो रे, शामा संगे गाए रे
वाजा वाजे वादे घुघरी घमके, थइथइ शब्द शोहाएरे[5]

(ई) नाचता नाचतां नयणि न्यल्यां, मद भयो नाथ ने बाथ भरतां
झमकते झांझरे ताल्य दिइ तारुणी, कामनी कृष्णशू केल्य करता[6]

(उ) गरजे गज-गामिनी रास-मंडल मधि,
एक इक अंगना अधिक रंगे[7]

नरसी की कृष्ण लीला-परक समस्त कृतियों में इस प्रकार की आनुप्रासिकता प्रायः सर्वत्र उपलब्ध होती है। वास्तव में नरसी जैसे कीर्तन भक्त के गेय पदों में इस प्रकार के वर्णावृत्ति मूलक अनुप्रासों का मिलना स्वाभाविक है।

---

१ भ्रमरगीतसार, पृ २३। २ नर्मगद्य, पृ ४२। ३ न म का स, पृ ४३६।
४ रा स प, के का शास्त्री, पृ १०। ५ न म का स, पृ ५१५।
६ रा स प, के का शास्त्री, पृ १६। ७ रा स प, के का पृ शास्त्री १८।

वीप्सा का प्रयोग नरसी ने अपेक्षाकृत अच्छा किया है। इसके प्रयोग मे उन्होंने क
के प्रमुख भाव को दुहरा कर न केवल भाव की तीव्रता ही प्रकट की है, अपितु पद की गेय
मे भी विलक्षण माधुर्य उत्पन्न कर दिया है—

(अ) चालो हरजीने जोवा वेर वेर, पट वस्त्रमां सर्वे तेल तेल;
अबील गुलालनी रंग रेलरेल, मानुनी तुं मानज मेलमेल.
चालंती गजनी चाल-चाल, लट छूटीने आवे भाल-भाल;[1]

(आ) पीताम्बर पालव छोड छोड, अबळा बांयलडी मोड मोड.
लक्ष्मीवर लागे खोळ खोळ, तारे मुज सरखी छे क्रोड-क्रोड.

० ० ० ०

मुने मारग लागे वार वार, पेलां दुर्जन देखे ठार-ठार.
मारुं महीनुं माट मा ढोळ ढोळ, एवा अटपटा बोल मा बोल बोल;
नरहरजी नयणां मा धोळ धोळ, मारा उर बशिया मा चोळ चोळ.[2]

सूर ने भी यत्र-तत्र नरसी की ही भाँति वीप्सा का प्रयोग किया है,[3] किन्तु प्रमाण की दृ
से वह अपेक्षाकृत स्वल्प है।

दृष्टिकूट पद

यद्यपि कूटत्व का समावेश अलकारो के अन्तर्गत नही किया जाता है, तथापि इसका आध
मुख्यत शाब्दिक चमत्कार पर ही आधारित है। सूर के 'सूरसागर' तथा 'साहित्यलहरी' ग्र
मे इस प्रकार की शैली के अनेक पद उपलब्ध होते है, पर नरसी-साहित्य मे इस शैली के प्रय
का नितान्त अभाव रहा है। इस तरह की कूटत्व शैली मे निबद्ध रचनाएँ कवि के भाषा-पाणि
को प्रकट करती है। इनमे सूर ने 'सारग', 'हरि' आदि कई अनेकार्थी शब्दो का एक ही पद
एकाधिक बार प्रयोग करके अर्थ-गोपन का प्रयत्न किया है। यमक अलकार का दृष्टिकूट पदो
सर्वोपरि स्थान है। कूट-पद मे प्रयुक्त यमक मे सार्थक शब्दो तथा वर्णो की ही महत्ता है। निरर्
शब्दो की आवृत्ति कूटो की सहायिका नही हो सकती। दृष्टिकूट पदो मे जिन अनेकार्थी श
का सूर ने प्रयोग किया है उनमे 'सारग' शब्द उनको सर्वाधिक प्रिय था, जिसका उन्होंने
विभिन्न अर्थो मे प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ यहाँ एक पद उद्धृत किया जाता है, जिसमे सा
शब्द का अनेक अर्थो मे प्रयोग किया गया है —

सारँग सारँगधरहिँ मिलावहु।
सारँग विनय करति, सारँग सौँ, सारँग दुख बिसरावहु॥
सारँग-समय दहत अति सारँग, सारँग तिनहिँ दिखावहु।
सारँग गति सारँगधर जे है, सारँग जाइ मनावहु॥
सारँग-चरन सुभग-कर-सारँग, सारँग-नाम बुलावहु।
सूरदास सारँग उपकारिनि, सारँग मरत जियावहु॥[4]

---

१. न. म का स., पृ २६०। २ न म का सं, पृ २६०, २६१।
३. सू०, प ३४८। ४ सू०, प २७१७।

यहाँ सारंग शब्द के क्रमश सखी, कृष्ण, आकाश, विष्णु कामदेव, रात्रि, चन्द्र प्रेम पूर्वक, कमल, भ्रमर, हरिण, कुरग, बिगडी हुई अलि अर्थ है।[1]

कूटत्व शली के इस प्रकार के पदा म सूर ने यमक, श्लेष, रूपकातिशयोक्ति आदि अलकारा का आधार लिया है। अलकारा की इस दुरूह शली म उहाने राधा-कृष्ण की गुप्त मधुर रति क्रीडाओ विविध भगिमाओ, मुद्राओ आदि का वणन किया है।

यमक

कूटत्व शली के अतिरिक्त सूर ने जहा अय स्थाना पर यमक के सफल प्रयाग किये हैं वहाँ नरसी म नितान्त अभाव न हाने पर भी इसका प्रयाग अतीव स्वल्प मात्रा म उपलब्ध होता है। नीचे दोना के उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

सूर

चली भवन मन हरि हरि लीन्हौं।[2]

नरसी

(अ) कर नख राता कामनिया रे, राता अधुर सुदत,
रातो अबीर गुलाल उछाले, रातो कपोल हसत
राती चोली कशण-कशो रे, राती कुकम रोल,
राती पीयल, माग शमारी, राता मुख तबोल
कृष्णजी राता कामनिया रे, कामिनी राती, कृष्ण गुण,
शरखा शरखा बेहुए राता, नारसियो रातो हरिचरणे[3]

(आ) पथनु जम पशु, पुठळ बळग्यु फरे, नरसना नायजी नाथ तोडी[4]

सूर की पक्ति म प्रयुक्त प्रथम हरि शब्द का अथ कृष्ण एव द्वितीय का हरण कर लेना अर्थात् चुरा लेना' हाता है। नरसी ने राता शब्द का प्रयाग रक्तवण तथा अनुरक्त दो अर्थों म किया है। नरसी के यमक क दूसरे आ वाले उदाहरण म नाथ शब्द के दो बार के प्रयोग म प्रथम का अथ कृष्ण और दूसरे का बल की नासिका म डाली हुई रस्सी होता है।

अर्थालकार

सूर म शब्दालकारा की अपेक्षा अर्थालकारा का प्रयाग अधिक मिलता है और उनम भी उपमा रूपक और उत्प्रेक्षा जसे सादृश्य-मूलक अलकार तो प्रमाण म सर्वाधिक रूप म प्रयुक्त हुए है। सूर की भाति नरसी म भी उपमा रूपक एव उत्प्रेक्षा अलकारा का ही आधिक्य है। दोना कवियो ने उपयुक्त सादृश्य-मूलक अलकारा म जिन उपमाना की योजना की है, व एक ओर कमल विधु मराल मीन गज केहरि-लक, खजन मग भृग धनु कीर दामिनी, कपोत कनु भुजग, गिरि, सरवर शिखी नाग, मधुप दाडिम जसे परपरा प्राप्त हैं तो दूसरी ओर उनमे

१ सूर की साहित्य साधना, पृ २४३। २ सू०, प २०६८। ३ न म प, के का शास्त्री, पृ ५२। ४ न म का स, पृ ४७८।

से कई मौलिक भी है। दोनो कवियो ने समान रूप से शृगार तथा वैराग्य दोनो प्रकार के भावो के अनुकूल उपमानो की सुन्दर योजना की है। यहाँ दोनो के उपमा, रूपक एव उत्प्रेक्षा आदि अलकारो पर क्रमश विचार किया जाता है।

उपमा

सूर एव नरसी दोनो की उपमाएँ प्राय सादृश्य पर ही आधारित है। दोनो के काव्य से यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते है—

नरसी

१. नेत्राम्बुज नाशा कीर जेवी, छे दशनपंक्ति दाडिम बीज तेवी.
आम्रकातळीशा अधर सोहंता, लाल गाल स्त्रीना मन मोहंता;[१]

२. सरोज सरखां नयण दाखी निसवास मूके नारि.[२]

३. हंस-गमनी गजगति, कटि केसरीनो लंक.[३]

४. अम शामु शे जुओ मारा वाला ? हुं नहीं ते वाली.
हुं तो नानकडी नखजेवडी, हाव भाव नव्य जाणू;[४]

५. पियुचा संगम पामी, मारी वाइ रे, मे वाळ्यो अंबोडो रे.
पियुजिनें कंठ वलाइनें शूती, ज्यम शाखें वलगो शूडो रे,[५]

६. वासना तारी घटघटमां, जेम वालमां पड्युं तेल;
तारी वासनानो मने पास लाग्यो, जेम बेहके फूलेल.
तारे मारे प्रीत बंधाणी, जेम सुतरनी फेल;[६]

७. ज्यम शशी घंनमां वींटियों चांद्रणी,
तीम हरि वींटियो मलि रे गोपी.[७]

८. लज्जा लोपी जीवन सोपी प्रेमेसुं पिउने मिळी,
रमता ने रसवस एक थइ जेम दूध माहे साकर भळी.[८]

९. हुं सुखे लागो गान करवा, प्रसन्न थया गोपाळ,
भामनी माहे मळी गयो, जेम सागर मांहे रतन्न.[९]

१०. कुळने तजीये कुंटुंबने तजीये, तजीये माने बाप रे;
भगिनि सुत दाराने तजीये, जेम तजे कंचुकी साप रे.[१०]

११. केसरी घूरे ज्यम मृगज त्रासे, रवि उगे ज्यम तिमिर टळे.
पूरणब्रह्म अकळ अविनाशी, कुबुद्धिना ताप तरत हरे.[११]

---

१ न म का स, पृ ४५३। २ चातुरीओ, चै ज दिवेटिया, ७१ पंक्ति।
३. चातुरीओ, चै ज दिवेटिया, ११४ पंक्ति। ४ न म प., के का शास्त्री, पृ. ५३।
५ न म. प, के का. शास्त्री, पृ. ७५। ६ न म का सं, पृ ३१५।
७ न म प, के. का. शास्त्री, पृ. ३७। ८ चातुरीओ, चै ज. दिवेटिया, २०० पंक्ति।
९. चातुरीओ, चै ज. दिवेटिया, १९५ पंक्ति। १० न म का सं, पृ ४९२।
११ न म का सं, पृ ४७४।

उपर्युक्त उदाहरणों में जो प्रथम है, वह मालोपमा का उदाहरण नहीं किन्तु विभिन्न उपमाओं की माला है। दूसरे से छठे वर्णन में नरसी ने यहाँ सादृश्य मूलक उपमानों का ही आधार लिया है। पाँचवें उदाहरण में मुग्धा नायिका स्वयं को नख से जितनी छोटी बनाती है। नरसी की यह सहज एवं मौलिक उद्भावना है। उपमा का छठवाँ उदाहरण अनुपम है, जिसमें प्रिय से आलिंगित नायिका को शाखा-संलग्न शुक की उपमा दी गई है। अन्तिम दो उपमाओं के उदाहरणों का विषय वैराग्य तथा ब्रह्मज्ञान है। सूर की उपमाएँ भी प्राय सादृश्य पर ही आधारित हैं—

१ पिय तेरें बस यौं री माई।
ज्यौं संगहिं सँग छाँह देह-बस कह्यौ नहिं जाई।[1]

२ मे इतहिं सुग्ध, य उतहिं उद्दार चित, दुहुनि बल मत नहिं परत चीन्हौ।
जुरे रन बीर ज्यौं, एक तें इक सरस, सुरत कोउ नहीं दोउ रूप भारी।[2]

३ चिकुर कोमल कुटिल राजत, रुचिर बिमल कपोल।
नील नलिन सुगंध ज्यौं, रस थकित मधुकर लोल॥[3]

४ बारहौं बार कहि हटकि राखत कितक, गए हरि-सग नहिं रहे घेरे।
ज्यौं ब्याध फंद तें छुटत खग उड़ि चलत, तहाँ फिरि तक्त नहिं त्रास माने॥[4]

५ सूरदास प्रभु तुम्हरौ गवन सुनि, जल ज्यौं जात बही।[5]

६ तू है नवल, नवल गिरिधारी। यह जोबन है रि दिन चारी॥
छिनु छिनु ज्यौं कर कौं जल छीज। सुनि री याकौ गव न कीज।[6]

७ तुम तें प्रिया न कुँ नहिं न्यारी। एक प्रान द्व देह तुम्हारी॥
प्यारा में तुम, तुम में प्यारी। जस दरपन छाँह बिहारी।[7]

८ सुनत लोग लागत हमें ऐसौ ज्यौं करुई ककरी।[8]

९ बिनु गोविंद सकल सुख सुंदरि, भुस पर की सो भीति[9]

१० अधोमुख रहति उरध नहि चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी।[10]

११ पुरइनि पात रहत जल भीतर ता रस देह न दागी।
ज्यौं जल माँह तेल की गगरि बूँद न ताके लागी॥[11]

१२ जोग हमहिं एसो लागत है, ज्यौं तोहि चपक फूल।[12]

१३ थक्ति सिंधु-नौका क खग ज्यौं फिरि फिरि वहै गुन गावत।[13]

१४ मेरो मन अनत कहाँ सुख पाव।
जसे उड़ि जहाज को पछी, फिरि जहाज पर आवै॥[14]

१५ भटकि फिर्यौ बोहित को खग ज्यौं, पुनि पुनि हरि गुन गावत॥[15]

---

१ सू० प २६८७। २ सू०, प २७४६। ३ सू०, प २८३८। ४ सू०, प २८६७।
५ सू०, प ३५८३। ६ सू०, प ३४४६। ७ सू०, प ३४४६। ८ सू०, प ४६०६।
९ सू०, प० २६८७। १० सू०, प० ४६६१। ११ सू०, प ४५७६। १२ सू०, प ४३४६।

तौलनिक दृष्टि से विचार किया जाए तो सूर का अप्रस्तुत विधान अधिक व्यापक है। जहाँ नरसी के उपमा के उदाहरण उनके काव्य मे पर्याप्त प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध हो सके है वहाँ सूर के अनायास ही। सूर के उदाहरणो मे अन्तिम तीन उपमाओ का अप्रस्तुत विधान समान होते हुए भी प्रथम तथा तृतीय वियोग शृगार एव द्वितीय शातरस से सवद्ध है। इतना होने पर भी नरसी के जैसी 'हु नानकडी नख जेवडी' जैसी घरेलू उपमा सभव है, अन्यत्र कठिनाई से ही उपलब्ध हो।

सादृश्य-मूलक अलकारो मे सूर ने उत्प्रेक्षाओ का प्रयोग सवसे अधिक किया है। उन्होने वस्तु, हेतु एव फल की कल्पना करके उत्प्रेक्षा के सभी रूपो का व्यवहार किया है। नरसी मे उत्प्रेक्षाओ का व्यवहार स्वल्प मिलता है। दोनो कवियो के काव्य मे से उत्प्रेक्षा के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किये जाते है—

सूर

(१) प्रथमहिं सुभग स्याम वेनी की सोभा कहौं विचारि।
मनौ रह्यौ पन्नग पीवन कैं ससि मुख सुधा निहारि॥
सुभग सुदेस सीस सेंदुर कौं देखि रही पचिहारि।
मानौ अरुन किरन दिनकर की पसरी तिमिर विदारि।

० ० ० ०

सुरँग गुलाव माल कुच-मंडल, निरखत तन मन वारि।
मनु दिसि दिसि निर्धूम अग्नि कै तप वैठे त्रिपुरारि॥[१]

(२) हरि-कर राजत माखन रोटी।
मनु वारिज ससि वैर जानि जिय, गह्यौ सुधा ससुधौटी।
मेलो सजि मुख अंवुज भीतर, उपजी उपमा मोटी।
मनु वराह भूधरसह-पुहुमी धरी दसन की कोटी।[२]

(३) भाल विशाल ललित लटकन मनि,
वाल दशा के चिकुर सुहाए।
मानो गुरु शनि कुज आगे करि,
शशिहि मिलन तम के गण भाए।[३]

(४) तुम सौं प्रेमकथा को कहिवो, मनहुँ काटिवो घास।[४]

(५) तुम कारे, सुफलक सुत कारे, कारे मधुप भँवारे।

० ० ०

मानहु नील माट तै काढ़े, लै जमुना ज्यों पखारे।[५]

(६) रत्नजटित कुंडल श्रवननि वर, गंड कपोलनि झाँई।
मनु दिनकर-प्रतिविंव मुकुर महँ, ढूँढत यह छवि पाई।[६]

---

१ सू०, प २७३२। २ सू०, प ७८२। ३ सू०, प ४३८०। ४. भ्रमरगीतसार, आ० शुक्ल, पृ. ७७।
५. सू०, प. ४३८०। ६. भ्रमरगीतसार, आ. शुक्ल, पृ ७२।

नरसी

(१) प्रजापना वदन पर श्रमजल-कण झरे, जाण भमरे अमियश पीधो'
(२) उर अबुज पल उपतां, मुख जाणीइ मयक ।'
(३) भुजादंड भीडी करीने करो सोहां कामनी,
घनश्याम तमाल लपटी जाणीइ घनदामनी ।'
(४) वेणिचां फूमक हलकतां शोभे, जाणे कोई मणिधर डोले रे'
(५) ऊधडती ऊठी रे अबला, जाणे करि मदिरा पीधो रे
नदकुंवर शु शोइडु लइने मधुर अमृतरस पीधो रे'
(६) घूघटडामां लोचन झलके, जाणे कांई उदियो भाण रे'
(७) मलये अग मोडती, पीयु-मन रंजती,
जाणे घन-दामिनी हेरे भारी'
(८) पलवटे ग्रह करी देरे भमरी मली,
करतल कामिनी ग्रह्या रे कान
जाण शशि प्रगटिया भमर सोहे सगे'
(९) लीलवट आडरे शोभती केसरतणीरे, जाणे मुखे उग्यो शशीयर भाण,'

दोनो कवियो ने समान रूप से रूप, अग चेष्टा आदि के वर्णन मे उत्प्रेक्षाओ का व्यवहार किया है। दोनो के द्वारा वर्णी की नाग के रूप मे उत्प्रेक्षा तुलनीय है। सूर ने कहीं-कहीं सादृश्य के आधार पर ग्रहो को भी उत्प्रेक्षण का साधन बनाया है। नरसी मे इस प्रकार के उदाहरण बहुत स्वल्प मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। इस सम्बन्ध मे दोनो के उदाहरण ऊपर दिए गए हैं, जिनमे नरसी ने जहाँ कृष्ण के मुख पर चदन के आडे तिलक को लेकर चद्र और सूर्य के साथ उदित होने की उत्प्रेक्षा की है वहाँ सूर ने कृष्ण के विशाल भाल उस पर लटकते मणि तथा केश मे सौन्दर्य का गुरु, शनि एव मगल के चद्र से मिलनार्थ आने की कल्पना की है। यहाँ नरसी की अपेक्षा सूर की कल्पना अधिक सूक्ष्म एव ऊहात्मक है किन्तु स्वाभाविकता मे नरसी भी किसी अश मे सूर से न्यून नहीं हैं। लगता है जैसे सूर को इस कष्ट कल्पना के लिए प्रयत्न करना पडा है किन्तु नरसी की उत्प्रेक्षा भावो के साथ ही सहज रूप मे उद्भूत हुई है। इतना होने पर भी सूर की वह पौराणिक उत्प्रेक्षा अद्वितीय है जिसमे माखन रोटी आरोगते कृष्ण को डाढ पर पृथ्वी धारण किए हुए भगवान वराह से उत्प्रेक्षित किया गया है।

रूपक

नरसी ने अपने काव्य मे उत्प्रेक्षा की अपेक्षा रूपको का प्रयोग अधिक मात्रा मे किया है। सूर ने रूपक और उसमे भी मुख्यत सागरूपको का प्रयोग प्रचुर रूप मे किया है। नरसी प्रयुक्त

१ न म का स, पृ ३८६। २ श्या०, पृ ५। ३ न्या० पृ ८। ४ न म प के का शास्त्री पृ ६३।
५ न म प, के का शास्त्री, पृ ८७। ६ न म प, के का शास्त्री पृ ८७।
७ न म प, के का शास्त्री, पृ ३८। ८ न म प के का शास्त्री पृ ४४।
९ न म का स, पृ ४०४।

रूपक प्राय एकदेशवर्ती ही है। नरसी के काव्य मे से कुछ महत्त्वपूर्ण रूपको के उदाहरण यहाँ, प्रस्तुत किये जाते हैं—

(१) ओसडीयां अळगां करो रे, मने शाने रे पाओ घसी,
कानुडो कळीएर नाग छे रे, मारा रुदीये रे रह्यो डसी.[१]

(२) वखनी वेंधी गोवालणी रे, ते वख विठल वाळे रे.[२]

(३) सुंदरी वदन वीधु, कुमुद कमलापति, जडीत्र चिंतामणि हेम रत्ने.[३]

(४) हुं हती जोबन समे, कुचफले पियुडा जोग.[४]

(५) विनता वनफल ने, कृष्णजी पोपट, ग्रहि रह्या चंच मझार्य रे.[५]

(६) चुंवन चारु कपोल कामी प्रेमेस्युं पिउडो दीइ,
सुडलो थइने श्रीहरि अमृतफल मुखमां लीइ.[६]

(७) अवलाए उरवल करी पियुने कुच पर लीधो कामनी,
सरोज सकोमळ सुंदरी अने मालती मकरंद, भमर थई पियु भोगवे.[७]

(८) उमरा तो डुंगरा थयारे, पादर थयां परदेश,
गोळी तो गंगा थइ रे, अंगे उजळा थया छे केश.[८]

(९) भक्तने भेटतां किल्विष नव रहे, ज्ञान-दीपक थकी तिमिर नासे.[९]

(१०) चोख्खी करनी चाकरी रे, खरो महीनो खानि,
ज्ञान-खडग ले हाथ मां रे, जगनो शिर ले न घानी.[१०]

नरसी के उल्लिखित जैसे रूपकों के प्रयोग तो सूर मे प्राय सर्वत्र प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते ही है, किन्तु इनके अतिरिक्त उनमे सागरूपको के उदाहरण भी पर्याप्त रूप मे मिलते है, जो अर्थ की दृष्टि से जटिल, दुरूह एव नीरस होने पर भी कवि के अद्भुत कल्पना-विस्तार की क्षमता के परिचायक है। सागरूपक के निम्न उदाहरण मे सूर ने स्वय को पतितो का राजा घोषित किया है—

हरि हौं सव पतितन कौ राजा।
निन्दा परसुख पूरि रह्यौ जग, यह निसान नित वाजा॥
तृष्ना देसऽरु सुभट मनोरथ, इन्द्री खड्ग हमारी।
मन्त्री काम कुमति दीवे कौं, क्रोध रहत प्रतिहारी॥
गज-अहँकार चढ्यो दिगविजयी, लोभ-छत्र करि सीस।
फौज असत-संगति की मेरैं, ऐसौ हौं मैं ईस।
मोह-मया वंदी गुन गावत, मागध दोष-अपार।
सूर पाप को गढ दृढ कीन्हौं, मुहकम लाइ किवार॥[११]

---

१ न. म का. सं, पृ ५०२। २. न म का सं, पृ. ३६३। ३ न म का स, पृ ३८६।
४. चा०, २४६ पंक्ति। ५ न. म प, के. का. शास्त्री, पृ ८७। ६ चा०, पृ २८। ७. चा०, पृ ७७।
८ न म का सं, पृ. ४६३। ९ न म का सं, पृ ४८२। १० न म. का स., पृ. ४७३।
११ सू०, प १४५।

इस प्रकार के यह और भी उदाहरण 'सूरसागर' में प्रचुर प्रमाण में उपलब्ध होते हैं। नरसी में भी कुछ सामग्री के उदाहरण मिलते हैं, जिनमें से एक यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

कुसुम बिसाकनो कटक घडयो रे, मनगज मागळ कीधो,
मुक्ता-मडीत कुच कुमस्थळ, सई क्षण अकुश लीधो
हळवे हळवे नवभुवन रे, वण कांताए आवे,
पुरुष सकळने सहेज नसाडे, केसरी कहान जगावे
जसोमती केरो एक सधरे, सेहेसक मध्ये सोहे,
थड आवळो, धरिव जणावे, देखी घणेरा मोहे
नरसयाचा स्वामि प्रग बसारो, करी कांताए गहीओ,
विपरीते विपरीत जणाये, नरसयो ते याच्यो रहीयो[1]

यहाँ कवि ने बाला ररिणिया के प्रमुख अगो के उपमानो की मधुर कल्पना करके उनके द्वारा कृष्ण-सैगरी का आख्यान्न करने की सुदर उद्भावना की है।

रूपकातिशयोक्ति

उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक के अतिरिक्त अतिशयोक्ति सन्देह भ्रान्ति सादृश्यमूलक अलकारो का प्रयोग भी दोनो के काव्य में उपलब्ध होता है। रूपकातिशयोक्ति का दोनो कवियो का एक एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है जिसमें मात्र उपमान ही विद्यमान रहता है, उपमेय नही—

सूर

अदभुत एक अनूपम बाग ।
जुगल कमल पर गज क्रीडत है, ता पर सिंह करत अनुराग ।
हरि पर सरबर, सर पर गिरिबर, गिरि पर फूले कज पराग ।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत-फल लाग ॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मग-मद काग ।
खजन धनुष, चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग ॥
अग अग प्रति और और छवि, उपमा ताकौं करत न त्याग ।
सूरदास प्रभु पियौ सुधा रस, मानौ अधरनि के बड भाग ॥[2]

नरसी

एहवो नायनें भोगिविये, जेनें आम्नरनो अमकार रे

० ० ० ०

शेषनाग शिर उपय लटके, कटाक्ष नाखती चाले रे

---

१ न म का स, पृ २५१। २ सू० प २७२८। ३ न म प, के का शास्त्री, पृ १४३।

सूर के बाग-वर्णन मे कमल, पल्लव आदि खिले हुए है और गज, सिंह आदि पशु, कपोत, पिक, खजन आदि पक्षी उसमे विहार कर रहे है। यह बाग स्वय राधिका ही है। कमल-युगल राधिका के दो पैरो के लिए प्रयुक्त है। उन पर खेलते हुए गज से राधिका का विलास-पूर्ण गति-वाला नितम्ब विवक्षित है। उसके ऊपर सिंह कटि का बोधक है। कटि पर नाभि का प्रतीक सरवर है। सरवर पर गिरिवर कुचो और कज-पराग कुचाग्रो एव उनकी लालिमा के उपलक्षक है। कपोत, अमृत फल, शुक, पिक, खजन, धनुप एव चन्द्र क्रमश कठ, मुख-नासिका, स्वर, नयन, भौह और भाल के प्रतीक है। अन्त मे मणिधर नाग से सिन्दुर-विन्दु-युक्त केशपाश अभि-प्रेत है। राधा के अग-प्रत्यग के सौन्दर्य वर्णन मे यहाँ कमलादि उपमानो का ही उल्लेख किया गया है। अत राधा का यह सर्वांग रूप-चित्रण अप्रस्तुत विधान की दृष्टि से रूपकातिशयोक्ति के अन्तर्गत माना जाएगा। नरसी ने भी गोपिका के सौन्दर्य-वर्णन मे वेणी के स्थान पर उसके उपमान शेपनाग का ही उल्लेख किया है। दोनो का अप्रस्तुत विधान तुलनीय है। सूर ने उसके पाश को जहाँ नाग के रूप मे निरूपित किया है वहाँ नरसी ने शेपनाग से।

संदेह

सन्देह अलकार मे किसी एक वस्तु को देखकर उसके सम्वन्ध मे सन्देह वना रहता है कि वह कौनसी वस्तु है। दोनो कवियो के काव्य मे से 'सन्देह' का एक-एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है—

सूर

गोपी तजि लाज, संग स्यामरंग भूलीं।
पूरन मुखचन्द देखि, नैन-कोइ फूलीं॥
कैधौं नव जलद स्वाति, चातक मन लाए।
किधौं वारि बूँद सीप हृदय हरष पाए॥
रवि छवि कैधौं निहारि, पंकज बिकसाने।
किधौं चक्रवाकि निरखि, पतिहीं रति माने॥
कैधौं मृग जूथ जुरे, मुरली धुनि रीझे।[1]

नरसी

दोडी वहालो पहोची वळ्या, पुछ्युं केनी तमो छो नार;
हींडो छो सौ मलपती, नचवो घुघटमा नेण झलकार.
छो रे रंभा के रे मोहनी, के छो रे आनंद के चंद;
के रे पाताळमांनी पद्मनी, एवो विचार करे गोविंद.[2]

---

१ सू०, प १२६०। २ न॰ म का सं, पृ १५५।

प्रतीप

सादृश्य मूलक अलकारो के अतिरिक्त दोनो कवियो मे प्रतीप, अत्युक्ति, अप्रस्तुतप्रशसा आदि अलकारो के उदाहरण भी मिलते है। प्रतीप *का अर्थ है विपरीत अथवा प्रतिकूल। इसके* पाच भेद हैं। प्रथम मे प्रसिद्ध उपमान की उपमेय रूप मे कल्पना की जाती है। द्वितीय मे प्रसिद्ध उपमान की उपमेय रूप से कल्पना करके वर्णनीय उपमेय का अनादर किया जाता है। ततीय मे उपमेय की उपमान रूप से कल्पना करके प्रसिद्ध उपमान का निरादर किया जाता है। चतुर्थ मे उपमान का उपमेय की उपमा के अयोग्य कथन किया जाता है *तथा* पचम मे उपमान का वैयर्थ्य द्वारा आक्षेप किया जाता है। दोनो कवियो ने प्राय रूप-वर्णन मे इसका प्रयोग अधिक किया है। सूर का उदाहरण द्रष्टव्य है—

सूर

देखि री हरि के चचल नैन।

० ० ० ०

राजिवदल, इदीवर सतदल कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिँ व विकसित, ये विकसित दिनराति।[1]

सूर का यह ततीय प्रतीप का उदाहरण है, जिसमे उपमान कमल को उपमेय हरि के चचल नयनो से निरादत किया गया है। नरसी का प्रतीप का उदाहरण नीचे दिया जाता है जिसमे इसके अतिरिक्त कई अलकारो की ससष्टि हो गई है—

तारा वदन पकज पर, भ्रमर एसो मम, वारनो विठठला विकळ करता,
आखडी पासडी, चपळ गत्य चालवा, नृत्यमा मलमा धुय धरता

० ० ० ०

तारी कटीतणी लक पर, अक आडो वळ्यो, वक शो केसरो वन नाठा

इस पद की अन्तिम पक्ति मे चतुर्थ प्रतीप है, जिसमे उपमेय कृष्ण-कटि प्रदेश के समक्ष उपमान केसरी-लक को अयोग्य सिद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त कृष्ण का सौन्दर्य-वर्णन करते हुए प्रथम पक्ति मे रूपक एव रूपकातिशयोक्ति का बडा ही स्वाभाविक प्रयोग किया गया है। प्रतीप के उदाहरण अपेक्षाकृत सूर मे अधिक मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। विरह-वर्णन मे दोनो कवियो ने अत्युक्तियो के सफल प्रयोग किये हैं।

मानवीकरण

मानवीकरण की वत्ति दोनो कवियो मे पायी जाती है। सूरसागर के 'भ्रमरगीत प्रसग' मे इसके कई सुदर उदाहरण मिलते हैं जिनमे वहा गोपागनाएँ विरह विह्वल होकर मधुवन को कोसती हैं—

'मधुवन तुम क्यों रहत हरे'

---

१ सू०, प २४३१। २ न म का म, पृ ६०७। ३ सू०, प ३८२८।

और कही उमड-घुमड कर उठते मेघो को देखकर वे ससैन्य काम-नृपति का आक्रमण मानकर रक्षार्थ कृष्ण से विनती करती है —

> ब्रज पर सजि पावस दल आयौ।
> धुरवा धुंध उठी दसहूँ दिसि, गरज निसान वजायौ ॥
> चातक, मोर, इतर पैदर गन, करत अवाजैं कोमल।
> स्यामघटा गज, असनि वाजि रथ, विच बगपाँति सँजोयल ॥
> दामिन कर करवाल, बूँद सर, इह विधि साजे सैन।
> निधरक भयौ चल्यौ ब्रज आवत, अग्र फौजपति मैन ॥
> हम अवला जानियै तुमहिँ वल, कहौ कौन विधि कीजै।
> सूर स्याम अव कैँ इहिँ अवसर, आनि राखि ब्रज लीजै ॥[1]

नरसी मे मानवीकरण के उदाहरण स्वल्प मात्रा मे मिलते है। निम्नलिखित पद मे उन्होने 'सर्ववृक्षवेली' को 'ऋषिराणी' के रूप मे निरूपित किया है —

> अमर आहीर, अरधांग गोपांगना, वृक्षवेली सर्व ऋषिराणी.[2]

उपर्युक्त अलकारो के अतिरिक्त तद्गुण, अधिक, भ्रातिमान, अप्रस्तुतप्रशसा अलकार भी दोनो मे मिलते है। 'सूरसागर' मे 'भ्रमरगीत' प्रसग के अन्तर्गत 'मधुप' को लक्ष्य कर कहे गए अधिकाश पद[3] 'अप्रस्तुतप्रशसा' के सुन्दर उदाहरण है, जिसमे अप्रस्तुत के कथन द्वारा प्रस्तुत का विधान किया गया है। निम्नलिखित उदाहरण मे गोपिकाओ द्वारा अप्रस्तुत मधुप को लेकर कहे गए कथनो से प्रस्तुत कृष्ण के कार्यो का विधान किया गया है —

अप्रस्तुत-प्रशंसा

> मधुकर काके मीत भए।
> द्यौस चारि करि प्रीति सगाई, रस लै अनत गए ॥
> डहकत फिरत आपने स्वारथ, पाखँड अग्र दए।
> चॉड़ सरैँ पहिचानत नाहीँ, प्रीतम करत नए ॥
> मूड़ उचाट मेलि वौराए, मन हरि हरि जु लए।[4]

नरसी के निम्नलिखित पद मे अप्रस्तुत वर-यात्रा के वर्णन द्वारा प्रस्तुत श्मशान-यात्रा का वडा ही वैराग्यपूर्ण चित्र अकित किया गया है —

> वाला रे वरनी पालखी, जोतां वनिताने थाय उलास.
> नाही धोईने पोढीयारे, तीलक कीधां भाल;
> वरना जानैया शोभी रह्या रे, माथे नाख्यां छे अवील गुलाल.
> लीला ते वांसनी पालखी रे, तेना ऊँचकनारा चार;

---

[1] सू०, प ३६११। [2] न म का. सं, पृ ४८३। [3] सू०, प ४१२४, ४१२५, ४१२६ आदि।
[4] सू०, प ४१२५।

माये ते बाध्या मीना मोतीया रे, मोढे रामनाम पोकार,
चोरी ते बाधी चोकमा रे, छाणा ते लाव्या बे चार
गालपापडी देखे कुतरा रे, ते तो मनमा घणु मलकाय,
बाला रे (वरने) आगळ चाले लाकडा रे, पाछळ चाले लाय,
जमाइ तो चाल्या सासरे, एनी सासुने हरख ना माय
तोरणे तनखा उडीया रे, माडवे लागी लार,
उठ रे सासु शखणी रे, तारो जमाई आव्यो बा'र
पदरसे पेरामणी रे, मसाणा गामनु नाम,
लालबाईनी दीकरी रे, चिता कुवरी एनु नाम
जमाई तो रह्या सासरे, जानइया आव्या घेर,
टको पसो सर्व खाई गया रे, विवाह कीधो छे रुडी पेर ।[1]

स्वभावोक्ति

डिंभादि के यथावत् वस्तु-वर्णन को स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं जिसमें स्वभाव, जाति, अवस्था इत्यादि का स्वाभाविक वर्णन होता है। दोनों कवियों ने कृष्ण, राधा, गोपियों आदि के रूप, चेष्टा, स्वभाव आदि के वर्णन में 'स्वभावोक्ति' का पर्याप्त व्यवहार किया है। स्वभावोक्तियों की सहज उद्भावनाओं में सूर भारतीय ही नहीं अपितु विश्व-साहित्य में अप्रतिम है।[2] कृष्ण की बाल चेष्टाओं, रूप-वर्णन आदि में उन्होंने स्वभावोक्ति का जिस सफलता से प्रयोग किया है उससे हिन्दी जगत पूर्णत परिचित है। यहाँ नरसी के काव्य से स्वभावोक्ति का उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है—

माता आगळ मोहन नाचे, आगलीए हरी वलग्यो रे,
वदन सकोमळ नीरखे जननी, क्षण नव मे' ले अलगो रे
मदीरमायी मोदीक लावी, माता मुख मेलती रे,
नासी जाए आपो आवे, वाही वात करती रे
एम करी जुवती जन आव्या, राव कुवरनो करवा रे,
नरसया चो स्वामी नयन नचावे, माननीना मन हरया रे[3]

इन अलंकारों के अतिरिक्त दोनों कवियों में काव्यलिंग, निदर्शना, तद्गुण, अधिक परिकर आदि अलंकारों के उदाहरण भी यथास्थान मिलते हैं। सूर-साहित्य में इन अलंकारों का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है। यहाँ नरसी-साहित्य में से इनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं—

काव्यलिंग

तारा अधर अमृत विषे वशनी वासळी नाद करती मुख स्वाद माणे,
कुळवती (नो) लाजने काज छोडावनी, जड तया चेतन त्यां न तरपे[4]

---

१ न म का म पृ ४८२। २ सूर की साहित्य साधना, पृ २०२। ३ न म का म, पृ ४८०।
४ न म का स, पृ ६०७।

काव्यलिंग मे काव्यमय कारण वताया जाता हे। यहाँ वसी के मधुरनाद का कारण अधरामृत का ससर्ग वताया गया है।

तद्गुण

राता दांत अधुर सुं ओपे, गोपी गोरे वाने रे.[1]

तद्गुण मे कोई वस्तु अपना गुण छोडकर समीपवर्ती वस्तु का उत्कृष्ट गुण ग्रहण कर लेती हे। यहाँ दाँतो ने अधरो की रक्तिमा ग्रहण कर ली है।

अधिक

(अ) मारा वालाजीमा कुसुमचो भार नाहीं रे, ते कहो कवण विचार रे सजनी.
शात शाहृयर ने नवखंड प्रथवी, मेर शिखर्य मुख मांहे रह्यो रे.
एटला शेहेत वालाजीने उर पर लीधो, भमर कमल जिम रह्यो रे.[2]

(आ) उछंगे लीधी वाल्हमे अने विविध विलस्यो श्रीहरि,
जीणे गोवरधन कर धर्यो, तेहने मे राख्यो उर धरी.[3]

(इ) शैल सागर धरा शेष शंकर सहित, वसे सकळ हरिमुख तेह,
एहवा छे हरि, विश्व पोते धरइ, रिदे समाय ते संत तणि.[4]

अधिकालकार मे आधार और आधेय को प्रथम वडा कह कर वाद मे छोटे आधार अथवा आधेय को उससे भी वडा वताते है। उपर्युक्त तीनो उदाहरणो मे आधेय कृष्ण को, प्रथम महान् वताकर तत्पश्चात् आधार उर आदि को उससे भी विशाल वताया गया है।

परिकर

पीतांवर पालव छोड छोड, अवला बांयलडी मोड मोड;
लक्ष्मीवर लागे खोळ खोळ, तारे मुज सरखी छे क्रोड क्रोड,
महीधरजी माथे भार भार, शुं रोकी विश्वाधार धार[5].

साभिप्राय विशेपणो के साथ विशेष्य का प्रयोग होता है वहाँ परिकर अलकार होता है। यहा पीताम्वर, लक्ष्मीवर, महीधर आदि नामो का साभिप्राय व्यवहार किया गया है।

छन्द-विधान

कलापक्ष के अन्तर्गत अलकारो के अतिरिक्त छन्दो का भी अपना विशेप महत्त्व है। कल्प, ज्योतिष, निरुक्त आदि वेदागो पर विचार करते हुए 'पाणिनीयशिक्षा' मे छन्द वेद के पाद घोपित किये गये है—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षु. निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥४१॥

---

१ न म प, के का॰ शास्त्री, पृ. ३३। २ न म प., के का शास्त्री, पृ १६१। ३ चा०, पृ ४२। ४ हा. स हा. के, पृ ४२। ५ न म. का सं, पृ २६०।

वास्तव म छद ही काव्य के पाद हैं जिनके आधार पर वह गति करता है। छद ही अपनी भावानुकूल गति एव ध्वनि से काव्याथ का प्रकाशन करते हैं। छन्द ही कविता के रसानुकूल वातावरण को तयार करता है। छद कल्पना को प्रज्वलित कर कवि का ऐसा दश्यमान एव ध्यातव्य प्रतिमाएँ प्रदान करता है जिनसे कवि की अनुभूति की अभिव्यक्ति स्पष्ट और प्रेरक हो जाती है। छदो की सष्टि लय के आधार पर हुई है। लय का प्रमुख काय हमारे अन्तर्वेगो को उद्दीप्त करना है। वदिक छन्दो से लेकर लौकिक (सस्कृत) तक सभी वार्णिक तथा गेय-पद शली म प्रयुक्त मात्रिक छदो का मूलाधार लय ही है।

सूर एव नरसी के काव्य प्रधानत पद शली म ही निबद्ध है, जिनका प्रधान गुण गेयता है। गेयपद शली की रचनाओ म राग रागिनियो की प्रमुखता होन पर भी दोनो कवियो का काव्य छन्दशास्त्र से अलग रखकर नही देखा जा सकता है। मात्राओ की घट-बढ होन पर भी दोनो का समूचा पद-साहित्य किसी न किसी छद से अवश्यमेव सम्बद्ध है।

सूर पूव हिन्दी साहित्य म छन्द रचना की अधोलिखित शलिया प्रचलित था —

(१) दोहा पद्धति

(२) वीर गाथा-काल की छप्पय पद्धति।

(३) भाटो की दण्डक-पद्धति।

(४) पुष्पदन्त आदि कवियो के पद्धरिया बध अर्थात चौपाई पद्धति।

उपयुक्त चारो शलियो म सूर न प्रचुर पद साहित्य लिखा है।

सूर को जिस भाति अपनी प्राचीन परम्परा से पद शली तथा दोहा, चौपाई छप्पय आदि छद प्राप्त हुए थे, उसी भाँति नरसी को भी अपनी प्राचीन साहित्यिक परम्परा से छद शलियाँ प्राप्त हुई।[१] *नरसी पूव रास युग म छोटे पद और छोटे कडवाओ की शलिया प्रचलित* थी। नरसी ने इसी युग की पद शली को अपनाकर हरिगीत सवया, दोहा चौपाई द्विपदी झूलणा आदि छदो के आधार पर गेय-पदो की रचना की है।

तात्पय यह कि दोनो कवियो न अपन अपने साहित्य की पूव परम्पराओ से छन्द शलियाँ अपना कर प्रचुर गेय-पदो का सजन किया है। यद्यपि दोनो कवियो ने प्रमुख रूप से गेय पद शली को ही अपनाया है तथापि आख्यान शली म निबद्ध वणनात्मक पद भी उनम उपलब्ध होत है।

दोनो के पदो म अधिकाशत ध्रुवा' अथवा टेक का प्रयोग मिलता है जिसका प्रयोग गेय पदो मे स्थायी रूप म किया जाता है। समूचे पद का केन्द्रीय भाव टेक म ही सिमटा रहता है। अन काव्यत्व की दष्टि से भी इसका अत्यधिक महत्त्व है। टेक से पद म अद्भुत मोहकता उत्पन्न हो जाती है। दोनो ने प्राय अपने पदो का मध्यवर्ती विचार टेक मे सीमित करके विलक्षण

---

१ रासयुगमा नाना पद, नाना कडवा, अत्र तत्र छूटा छवाया रचाये जता हता स्वतत्र ऊर्मि प्रकारनो विकास मारनारा नरसिंह महेताए छूटा छवाया पदोना प्रकारने अपनावी अद्भुत प्रकारनी ऊर्मि कविता गुजराती भाषामा आपला कवीओना प्रमाणमा सौथी प्रथम आपी छे हरिगीतनी देशी, सवैयानी देशी चौपाई दोहानी देशी, द्विपदी झूलणा आ बधी देशीओ जूना साहित्यमा हती ते परथी नरसिंहे अद्भुत काव्य सरिता वहावी —सशोधनने मार्गे, के का शास्त्री, पृ २८, ३६।

माधुर्य उत्पन्न कर दिया है। पदो की ये प्रथम पक्तियाँ अतीव भावपूर्ण, व्यजक एव मार्मिक है। यहाँ दोनो कवियो की कुछ 'टेकें' उद्धृत की जाती है—

सूर

(१) निरगुन कौन देस कौ वासी।[१]
(२) मधुवन तुम कत रहत हरे।[२]
(३) छाँड़ि देहु मेरी लट मोहन।[३]
(४) उधौ तुम अपनौ जतन करौ।[४]
(५) हम तौ कान्ह केलि की भूखी।[५]
(६) फूली फिरति ग्वालि मन मै री।[६]

नरसी

(१) कांवळी ओढाडो रे काहान मारी चूदडी भीजे.[७]
(२) रातलडी नव पहोचे रसीयाने, प्रेमीने आळस नावे रे.[८]
(३) धन धन उरवर मारुं आज.[९]
(४) रीसाव्या रहीए नहि, वहालासु घेली.[१०]
(५) मारो नाथ न बोले बोल अबोलां मरीए रे.[११]
(६) वातनो वालमा रे माहारो वाहलो रीसाणो.[१२]

तौलनिक दृष्टि से विचार किया जाए तो अपेक्षाकृत सूर की 'टेकें' छोटी एव 'नावक' के तीर की भाँति अधिक गभीर प्रभाव डालनेवाली है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दोनो कवियो ने गेय पदो तथा आख्यानात्मक शैली के वर्णनात्मक पदो से अपने समस्त पद-साहित्य का सर्जन किया है। जिन छन्दो की गति के आधार पर दोनो कवियो ने अपने पदो का निर्माण किया है, यहाँ उन पर विचार किया जाता है।

दोहा

यह २४ मात्राओ का छन्द है, जिसके विपम चरणो मे १३ एव सम चरणो मे ११ मात्राएँ होती है। दोनो कवियो ने प्राय वर्णनात्मक प्रसगो मे इसका प्रयोग किया है। आख्यानात्मक शैली मे रचित नरसी का 'दाणलीला' काव्य इसी छन्द मे निवद्ध है। गेयता को लक्ष्य मे रखकर ही कवि ने इसकी रचना की है। अत मात्राओ की घट-वढ सर्वत्र दृष्टिगत होती है। इससे पिंगल-शास्त्र के नियमानुसार इसे शुद्ध दोहा न कहकर दोहे की 'देशी' कहना अधिक समीचीन होगा। दोहे की देशी अर्थात् दोहे की गति के आधार पर निर्मित गेय छन्द। 'दाणलीला' की दो पक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हे—

---

१ सू०, प. ४२४६। २. सू०, प ३८२८। ३ सू०, प. २०६७। ४ सू०, प. ४२२६।
५ सू०, प ४३००। ६ सू०, प ८८४। ७ न म का सं., पृ. २६७।
८ न म का सं, पृ २६१। ९ न. म. का सं, पृ ३८२। १० न. म का सं, पृ ५८७।
११ न म का स, पृ. २६५। १२ न म का सं, पृ ५६०।

ऋखुमाननी कुवरी छु, राधे बाळमुकुद
गोकुळ मथुरा जाउ आवु ने, शु रे थया अजाण[1]

नरसी-काव्य मे दोहे के लिए कबीर की भाति 'साखी' का प्रयोग भी हुआ है। 'श्रीकृष्ण जन्म समाना पद' शीर्षक से प्रारम्भ होनेवाले पद्य को 'साखी' नाम ही दिया गया है।[2]

सूर ने भी अपने वर्णनात्मक प्रसगो म प्राय दोहे का प्रयोग किया है। नरसी की भाँति उनका दानलीला प्रसग भी दोहे म ही निबद्ध है। उन्होने दोहे के अन्त मे ६ अथवा १० मात्राओ की एक लघु पक्ति जोडकर अपेक्षाकृत अधिक गेयता उत्पन्न कर दी है—

इहिं मारग गोरस लै सब, नित प्रति आवहिं जाहि।
हमहिं छाप दिखरावहू, दान चाहत किहिं पाहि॥
कहति ब्रज लाडली।[3]

नरसी म 'मिश्रदेशी' का भी स्वल्प मात्रा म प्रयोग मिलता है जिसमे दोहे के पूर्व चरण के साथ किसी अन्य छन्द का द्वितीय चरण जुडा रहता है। नरसी प्रयुक्त मिश्रदेशी का उदाहरण इस प्रकार है—

(अ) गर्व न कीजि, गिहिलडा! शू मान गमाडू?
नाम नारायण मूकीनि शू काम कमाडू?[4]

(आ) विवचारा शी प्रीतडी, जे स्त्री रग रातो?
मडळिक हारनि प्रभवि, तू रे मदमातो![5]

उपर्युक्त दोनो मिश्रदेशी के उदाहरणो के विषम चरण दोहे के तथा सम किसी अन्य छन्द से सम्बद्ध हैं।

चौपाई-चौपई

चौपाई मे १६ तथा चौपई मे १५ मात्राएँ होती हैं। दोनो कवियो ने चौपाई तथा चौपई मे किसी भी प्रकार का भेद न मानते हुए वर्णनात्मक प्रसगो म इनका प्रयोग किया है। सूर ने प्रथम स्कन्ध से लेकर नवम स्कन्ध तक के सभी आख्यान चौपाई म लिखे है। दशम स्कन्ध म अधिकाश वर्णनात्मक प्रसग चौपाई म हैं। सूर की चौपाइयो म कहो १४, कही १५ और १७ मात्राएँ तक मिलती हैं—

(अ) १४ मात्रा की चौपाई
पिय देखौ बन छबि निहारि। बार बार यह कहति नारि।[6]

(आ) १५ मात्रा की चौपाई
ब्रजवासी सब उठे पुकारि। जल भीतर कहू करत मुरारि।[7]

---

१ न म का स, पृ १५५। २ न म का स, पृ ४२८। ३ सू०, प २२३६।
४ हा स हा के, पृ ५८। ५ हा स हा क, पृ, ६५। ६ सू०, प २८५०।
७ सू०, प ५४६।

(इ) १७ मात्रा की चौपाई

काम तनु दहत नहिँ धीर धारे। कहुँ बैठत उठत वार वारे।[1]

नरसी मे चौपाई के साथ जेकरी छन्द की मिश्रदेशी का प्रयोग मिलता है। यद्यपि जेकरी और चौपाई दोनो मे १५ मात्राएँ ही होती है, तथापि चौपाई के अन्त मे गुरु लघु (गा-ल) तथा जेकरी मे लघु गुरु (ल-गा) होता है। जेकरी की उत्थापिका इस प्रकार है—

दादा दादा दादा ल-गा।[2]

नरसी की मिश्रदेशी का उदाहरण निम्नलिखित है—

कोण छबीलो नि कोण छे नाथ?
कोणि दीधो ताहरि माथि हाथ?[3]

हरिगीतिका

इस छन्द मे २८ मात्राएँ होती है। दोनो कवियो ने इसका प्रयोग किया है। नरसी की 'चातुरीओ' के 'ढाळ' से प्रारम्भ होनेवाले अधिकाश पद तथा 'हारमाळा' के कई पद[4] 'हरिगीतिका' की गति पर ही आधारित है। 'चातुरीओ' मे से एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है—

विसवास राखो मन विखे, धरणीधर धरो ने धीर,
हूं मनावूं निमेखमां, चित्या तजो साम-शरीर.
निसन न थइए नाथजी, तम्हे भगताना आधारि,
तम्हने ते वाल्ही वाल्हमा, लावूं ते खिण मझारि.[5]

सूर ने गीतिका एव हरिगीतिका के मिश्रित छन्द का व्यवहार किया है, पर कही-कही उनमे हरिगीतिका के साथ चौपाई का भी प्रयोग मिलता है—

चौपाई

मनमथ सैनिक भए वराती, द्रुम फुले अनुपम भाँति।
सुर बंदीजन मिलि जस गाए, मघवा वाजन अनंत वजाए॥

हरिगीतिका

वाजहिँ जुबाजन सकल सुर, नभ पुहुप अंजलि वरसहिँ।
थकि रहे व्योम विमान, मुनि जन जय सवद करि हरष हीं।
सुनि सूरदासहिँ भयो आनंद, पूजी मन की साधिका।
श्री लाल गिरिधर नवल दूलह, दुलहिनी श्री राधिका।[6]

---

१. सू०, प २४७१। २. बृहत् पिंगल, रा वि पाठक, पृ ३०८। ३ हा स. हा. के., पृ. ३४।
४ हा. स हा. के, पृ ५६, पद ३०। ५ चा., पृ. १०। ६. सू०, प. १०७२।

सवैया

वीर छन्द की तरह १६, १६ मात्रा की यति म ३२ मात्राओं के समान-सवये का 'सूरसागर' म अत्यधिक व्यवहार मिलता है। इसके दोनों चरणों म चार चार पादाकुलक के दो चरण रखे जाए तो यह 'मत्त सवैया' बन जाता है। समान सवये की तरह सूर ने मत्त सवये का भी ठीक ठीक प्रयोग किया है और कहीं-कहीं समान और मत्त दोनों सवयों का मिश्रण भी कर दिया है। यहाँ समान सवैया मत्त सवैया एवं दोनों के मिश्ररूप के क्रमश उदाहरण दिये जाते हैं —

समान-सवैया

नील बसन तनु, सजल जलद मनु, दामिनी बिवि भुज दड चलावति।
चद्रवदन लट लटकि छबीली, मनहुँ अमृत रस ब्यालि चुरावति।
गोरस मथत नाद इक उपजत, किंकिनि धुनि सुनि स्रवन रमावति।
सूर स्याम अँचरा धरि ठाढे, काम कसौटी कसि दिखरावति।

मत्त-सवैया

ठाढी अजिर जसोदा अपनै, हरिहि लिए चदा दिखरावत।
रोवत कत बलि जाउँ तुम्हारी, देखौ धौं भरि नैन जुडावत।[२]

दोनों का मिश्रण

जसुमति कहति कहा मैं कीनौ रोवत मोहन अतिदुख पावत।
सूर स्याम कौं जसुमति बोधति, गगन चिरया उडत दिखावत।।[३]

नरसी ने भी समान सवये का प्रयोग किया है। 'राससहस्रपदी' के अधिकाश पदों म सवया छन्द ही प्रयुक्त हुआ है। 'हारमाला' म भी कुछ पद ऐसे हैं जो सवया म ही निबद्ध हैं —

मामारू छापरा छाहि आप्यू, कबीराने अविचळ वाणी,
ते माटे ताहरु हृण्म मलेरो, छबी लुजी मूकशि पाणी[४]

झूलणा

नागदमन जैसे कतिपय वर्णनात्मक प्रसंगों म सूर ने इस छन्द का प्रयोग किया है। नरसी का यह प्रिय छन्द रहा है। इस छन्द का प्रयोग प्राचीन 'रासकाव्यों' म भी उपलब्ध होता है। इसकी उत्थापनिका निम्नलिखित रूप में चलती है —

दालदा दालदा दालदा दालदा
दालदा दालदा दालदा गा।[५]

---

१ सू०, प ७ ७। २ सू०, प ८०६। ३ सू०, प ८०६। ४ हा म हा वे, पृ ३३।
५ बृहद् पिंगल, पृ ३६४।

नरसी की प्रसिद्ध प्रभातियाँ झूलणा मे ही निबद्ध है। इसके अतिरिक्त उनकी 'हारसमेना पद', 'सामळदासनो विवाह', 'हूडी' जैसी आत्मपरक रचनाएँ भी इसी छन्द मे निर्मित है। 'हारमाळा' के भी कई पद इसी छन्द मे निबद्ध है। उदाहरणार्थ 'सुदामाचरित' से यहाँ कुछ पक्तियाँ उद्धृत की जाती है—

चालियो वाट मा, ज्ञानिना घाटमा, मित्र मोहन तणु नाम लेतो,
धन्य ए नार, अवतार सफल कर्यो, कृष्ण हे कृष्ण मुख एक कहेतो।[1]

विष्णुपद

इस छन्द मे १६, १० के विराम से २६ मात्राएँ होती है। सूर ने इसका प्रयोग प्रचुर रूप मे किया है। यह छन्द गम्भीर भावो की अभिव्यक्ति के लिए अधिक अनुकूल जान पडता है। 'सूरसागर' के नवम स्कन्ध मे से राम-विलाप की कुछ पक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती है—

सुनौ अनुज, इहिं वन इतननि मिलि जानकी प्रिया हरी।
कछु इक अंगिनि की सहिदानी, मेरी दृष्टि परी॥[2]

नरसी ने निम्नलिखित पद मे विष्णुपद का व्यवहार किया है। ऊपर की 'टेक' को छोडकर शेष पक्तियाँ विष्णुपद की ही है—

मोह्यु रे लटके, मारुं मन मोह्यु रे लटके,
गातर भंग कीधा गिरधारी, जेम रे मार्यां झटके,
वेण वजाडी वहाले मारे वनमा, रंगतणे कटके.[3]

सरसी और सार

'सूरसारावली' मे कुछ पक्तियो को छोडकर आद्योपान्त इन्ही छन्दो का प्रयोग किया गया है। चौपाई की १६ मात्राओ मे दोहे के सम चरण की ११ मात्राओ के मिश्रण से 'सरसी' तथा 'सरसी' के ही अन्त मे गुरु-लघु के स्थान पर दोनो गुरु बना देने पर 'सार' छन्द होता है। इस तरह 'सरसी' मे २७ एव 'सार' मे २८ मात्राएँ होती है। सूर के दोनो छन्दो के उदाहरण इस प्रकार है—

सरसी

आवहु आवहु इतै कान्ह जू, पाई है सब धेनु।
कुंज पुज मैं देखि हरे तृन, चरति परम सुख चैनु।[4]
पाई पाई है रे भैया, कुज पुंज मैं टाली।
अब कैं अपनी हटकि चरावहु जैहैं भटकी घाली॥[5]

---

१ न म का सं, पृ १५८। २. सू०, प. ५०७। ३ न म का. सं, पृ ३०५।
४. सू०, प ११२०। ५. सू०, प ११२१।

हरिप्रिया

मात्रिक छदो म यह दीर्घतम छन्द माना जाता है। १२, १२, १२ और १० मात्राओं की यति के साथ इसम कुल ४६ मात्राएँ होती है और अन्त म दो गुरु होते हैं। यह अपनी मदु मन्थर गति को लेकर स्थिर एव अनुकूल भावो के लिए अधिक उपयुक्त माना गया है। नरसी म इस छन्द का सवथा अभाव है। सूर का एक उदाहरण लीजिए—

> जसुमति दधि मथन करति, बैठी बर धाम अजिर,
> ठाढ़े हरि हँसत नाह दँतियनि छबि छाज।
> चितवन चित ल चुराइ, सोभा बरनी न जाइ,
> मनु मुनि-मन-हरन-काज मोहिनी दल साज।[1]

सूर मे हरिप्रिया छन्द के ४४ तथा ३४ मात्राओ के भी उदाहरण मिलते हैं

कुडल और उडियाना

कुण्डल म १२ और १० मात्राओ के विराम स २२ मात्राएँ तथा अन्त म दो गुरु होते है। 'सूरसागर' मे इस छन्द का प्रयोग प्राय ऐसे स्थलो पर मिलता है, जहा क्रिया अथवा भावना का वेग प्रकट किया गया है। सूर के काव्य म इसका प्रचुर प्रयोग मिलता है। 'सूरसागर' के नवम स्कन्ध से यहाँ एक उदाहरण दिया जाता है—

> तरुवर तब इक उपाटि, हनुमत कर लीयौ।
> किंकर कर पकरि बान, तीन खड कीयौ।[2]

नरसी मे भी 'कुडल' के उदाहरण मिलत है—

> छानो मानो आयो कहान, पाछली रे राते,
> वेणुमा तहीं र व गायो, आवो ने प्रभाते[3]

अन्त मे दो गुरु के स्थान पर गुरु-लघु अथवा लघु-गुरु हो तो वहाँ कुडल का उपभेद उडियाना हो जाता है। सूर मे इसके भी उदाहरण मिलते हैं—

> आजु हौं निसान बाज, नद जू महर के।
> आनँद मगन नर गोकुल सहर के।[4]

उपमान

कुडल की तरह सूर ने इस छन्द का भी प्रचुर मात्रा म प्रयोग किया है। इसम १३ १० का मात्राक्रम तथा अन्त म दो गुरु वर्ण होते हैं। कुडल और इसम केवल एक ही मात्रा का अतर है। उदाहरण इस प्रकार है—

---

१ सू०, प ७६४। २ सू०, प ५४०। ३ न म का म, पृ ४२६। ४ सू०, प ६४८।

आजु राधिका भोरहीं, जसुमति कैं आई।
महरि मुदित हँसि यौं, कह्यौ मथि भान-दुहाई।
आयसु लै ठाढ़ी भई, कर नेति सुहाई।
रीतौ माठ बिलौवई, चित जहाँ कन्हाई ?[1]

नरसी-साहित्य मे भी इस छन्द का स्वल्प प्रयोग मिलता है, किन्तु वह पिगल के नियमानुसार विशुद्ध नही कहा जा सकता है—

सोलह सहस्र सुन्दरी मळी अचरच पामी।
भक्त वत्सल मळ्यो, नरसैनो स्वामी॥

शोभन और रूपमाला

रूपमाला मे १४, १० पर यति के साथ २४ मात्राएँ तथा गुरु और लघु होता है। इसके अन्त मे एक जगण (।ऽ।) होने पर वह 'शोभन' छन्द हो जाता है। दोनो कवियो मे कही-कही इन दोनो छन्दो का प्रयोग मिलता है। सूर ने कही-कही इन दोनो का मिश्रण भी कर दिया है—

(अ) चौक चन्दन लीपि कैं, धरि आरति सँजोइ।
कहति घोष-कुमारि ऐसौ, अनँद जौ नित होइ॥[2]

(आ) तनक दै री माइ, माखन, तनक दै री माइ।
तनक कर पर तनक रोटी, माँगत चरन चलाइ।[3]

चरणाकुल (पादाकुल) छन्द का प्रयोग दोनो कवियो मे मिलता है। सूर मे उल्लिखित छन्दो के अतिरिक्त तोमर, लावनी, रोला, दोहे का मिश्रण, मनहरण, हसाल, वीग्र आदि कई छन्द मिलते है। इस प्रकार तौलनिक दृष्टि से इस विषय पर विचार किया जाए तो ऐसा प्रतीत होता है कि सूर का छन्द-विधान अपेक्षाकृत अधिक व्यापक एव समृद्ध है।

संगीत-योजना

यह पहले कहा जा चुका है कि दोनो कवियो के गेय तथा आख्यानात्मक शैली मे निबद्ध वर्णनात्मक पदो अथवा रचनाओ मे गेयता ही प्रधान तत्त्व है। दोनो सगीत के ज्ञाता थे और दोनो का समस्त जीवन ही विविध राग-रागिनियो मे भगवल्लीलाओ का सकीर्तन करने मे ही व्यतीत हुआ था। अत. यहाँ सक्षेप मे दोनो की सगीतात्मकता के सम्बन्ध मे विचार किया जाता है।

सगीत और काव्य दोनो का एक-दूसरे के साथ अतीव प्रगाढ एव निकट का सम्बन्ध है। हमारे भक्तिकालीन कवियो ने काव्य एव सगीत के इस नैसर्गिक सम्बन्ध को विशेष रूप से समझा एव उसे अपने काव्य मे सप्रयास नियोजित किया था। इसी कारण मध्यकालीन भक्ति-काव्य को विशिष्ट शिल्प-विधान प्राप्त हुआ। अधिकाश भक्त कवियो ने अपनी रचनाएँ गेय छन्दो, पदो,

---

१. सू०, प. १३३३। २ सू०, प ६४४। ३ सू०, प ७८४।

ध्रुवपदा, राग रागिनिया एव ताला म निबद्ध करके प्रस्तुत की जिसके कारण साहित्य म सगीत का समावेश अत्यन्त सुदर एव सन्तुलित ढग स हुआ। इस युग के अधिकाश भक्त कवि सगीतज्ञ थे, जिनके काव्य का वास्तविक मूल्याकन उनके काव्य की सगीतात्मकता को समझे बिना नही किया जा सकता।

सूर उत्कृष्ट कोटि के सगीतज्ञ थे। उनके पदा की सगीत योजना अत्यन्त आकर्षक है। उन्हाने अपने पदा म वर्णित विषय के अनुकूल राग रागिनिया एव ताला का भी चयन किया है जिससे उनकी सगीत पटुता सिद्ध हाती है। सगीत की दृष्टि स भी अष्टछाप के कविया म उनका काव्य सर्वोत्कृष्ट है। पुष्टि माग की सवा पद्धति म अष्टयाम सवा एव सकीतन का विशेष विधान है। सूर ने विशेषकर कीतन के हेतु ही कृष्ण की लीलाओ के अनवक ध्रुवपदा की रचना की।

सूर के काव्य म न केवल बाह्य सगीतात्मकता का विधान है अपितु आन्तरिक सगीत योजना भी उनके पदा म विद्यमान है। जिस प्रकार बाह्य सगीत योजना का परिचय रागा एव ताला के निर्देश स मिलता है उसी प्रकार शब्दचयन यति, गति अत्यानुप्रास टेक आदि मे अन्तभूत आन्तरिक सगीत योजना का भी हम परिचय मिलता है। सूर की आन्तरिक सगीत-योजना के उदाहरण के रूप म यहाँ हम एक पद प्रस्तुत करते हैं, जिसम रसानुकूल शब्दचयन एव नाद सौंदय का सुदर समन्वय विद्यमान है। साथ ही लय और ताल की दृष्टि स भी यह पद महत्त्व पूण है —

अति बल करि करि काली हार्यौ।
लपटि गयौ सब अग अग प्रति, निर्विष कियौ सकल बल झार्यौ।
निरतत पद पटकत फन फन प्रति, बमत रुधिर नहि जात सम्हार्यौ।
अति बलहीन, छीन भयौ तिहिँ छन, देखियत है रज्वा सम डार्यौ।
तिय बिनती करुना उपजी जिय, राख्यौ स्याम नाहिँ तिहिँ मार्यौ।
सूरदास प्रभु प्रानदान कियौ, पठयौ सिंधु उहाँ तै टार्यौ॥[1]

इसी आशय का सूर का पद रागरत्नाकर म भी उपलब्ध हाता है —

ताडव गति मुडन पर नितत बनमाली।
प प प पग पटकत फ फ फ फनन ऊपर।
बि बि बि बिनती करत नागबधू आली।
स स स सनकादिक न न न नारदादि।
ग ग ग गधव सभी देत ताली॥ध्रुव॥
सूरदास प्रभु की बानी कि कि कि किहू न जानी।
च च च चरण धरत अभय भयो काली॥ध्रुव॥[2]

सूर की भाँति नरसी के काव्य म सुन्दर सगीतात्मकता का निरूपण हुआ है —

---

१ सू०, प ११६२। २ रागरत्नाकर (भक्तचिन्तामणि), पृ ४१ प्रथम भाग कालीदमन लीला पृ १२६।

झाझर झमके, हु झबकीने जागी, जाणुं मारा पियुजीने कंठडे हु लागी. झांझ०
पछी तो लजाणी रे, आलिगन देता, मारे वहालेजीए पूछ्युं सखि तुने वर्ष केतां. झांझ०
मारां रे वरस वहाला, हू शु रे जाणुं, मास तो थया छे मुने एकसो वाणुं. झाझ०
भणे नरसैयो, में सुख दीठु, काहाने कह्युं ते मुने केवु लागु मीठु.[1]

यद्यपि नरसी सगीत के ज्ञाता थे तथापि सूर ने जहाँ शास्त्रोक्त ध्रुवपदो की रचनाएँ की है वहाँ उन्होने प्राय लोक-भोग्य तालो मे ही अपने सगीतात्मक पद निबद्ध किये है। यहाँ अब दोनो कवियो द्वारा प्रयुक्त राग-रागिनियो तथा उसके अगोपागो पर विचार किया जाता है।

राग-रागनियाँ

सूर अद्वितीय सगीतज्ञ थे। उनके प्रमुख ग्रन्थ 'सूरसागर' मे 'सगीतरत्नाकर' के आधार पर सप्त स्वर, तीन ग्राम, इक्कीम मूर्च्छना, उनचास कोटि तान, छ राग और छत्तीस रागिनियो का उल्लेख मिलता है—

(१) सरगम सुनि के साधि सप्त सुरन गाई।[2]
(२) छहों राग छत्तीस रागिनी, इक इक नीकै गावै री।[3]
(३) तीन ग्राम, इक ईस मूर्छना, कोटि उनचास तान।[4]

सूर की भाँति नरसी मे भी सप्त स्वर एव छत्तीम रागों का उल्लेख मिलता है

(१) झाझ नेपुरां, कटि तणी किंकिणी ताल मृदंग रस एक तान,
नाचतां नाचता छेल छन्दे भर्यो, सप्त स्वर धून्य ते गगनि चाली.[5]
(२) सप्त सुर निशब्द नाना विधि, राग रागणि तान.[6]
(३) ता थै, ता थै, तान मिलावै, राग रग्यिणी मांह्य घूमै.[7]
(४) चौद विद्या गुण छो जाण, लक्षण बत्रीस रे,
छो बोत्तर कळा प्रवीण, के राग छत्रीश रे.[8]

'सूरसागर' मे अधोलिखित रागो मे पद-रचना मिलती है—

(१) अडाना, (२) अल्हैया बिलावल, (३) अहीरी, (४) आसावरी, (५) ईमन, (६) कर्नाटकी, (७) कल्यान, (८) काफी, (९) कान्हरा, (१०) कुरग, (११) केदारा, (१२) खवावती, (१३) गधारी, (१४) गाधार, (१५) गुड, (१६) गुनकली, (१७) गूजरी, (१८) गौड, (१९) गौरी, (२०) जैतश्री, (२१) जैजैवती, (२२) झिझोटी, (२३) टोडी, (२४) देवसारव, (२५) देवगाधार, (२६) देवगिरि, (२७) देसकार, (२८) धनाश्री, (२९) धमार, (३०) नट, (३१) नट नारायन, (३२) नटरायनी, (३३) नायकी, (३४) परज, (३५) पूर्वी, (३६) पूरिया, (३७) विभास, (३८) वैराटी, (३९) भूपाली, (४०)

---

१ न म. का स., पृ ३११। २ सू०, प ११५१। ३ सू०, प. १२३८। ४. सू०, प १३५३।
५ न म का सं., पृ. ४१५। ६ रा. स प, के का शास्त्री, पद १०४।
७ रा. स प., के का शास्त्री, पद ६१। ८ न म का सं, पृ ४१५।

भागान, (४१) भग्य, (४२) भरवी, (४३) मनार, (४४) मारु (४५) मालकौस, (४६) मुलतानी (४७) मप, (४८) रामगिरि, (४६) रामकली, (५०) ललित, (५१) बसन्त, (५२) बगनी (५३) बिलावल, (५४) विहाग, (५५) विहागरा, (५६) शकराभरण, (५७) श्री (५८) श्रीमलार (५६) श्रोहठी (६०) सकीण, (६१) सानुत, (६२) सारग (६३) सुघरई, (६४) सूहो, बिलावल, (६५) सारठ, (६६) हमीर, (६७) हाली।

नरसी ने भी लगभग सूर की तरह ही विविध राग रागिनियो का प्रयोग किया है। उनके द्वारा प्रयुक्त राग रागिनियो की सूची यहाँ दी जाती है—

(१) अरगजा (२) आसावरी, (३) कल्याणना हाडाला, (४) काफी, (५) कालरा (६) कालरा देशाख (७) कालरा गाडी (८) कालरा मालव गाडी (६) कालरानो हीडामा, (१०) केदारा, (११) गाडी (१२) गाडीया हीडाला, (१३) टोडी, (१४) देव गांधार, (१५) दशाख, (१६) धनाश्री (प्रभात), (१७) धनाश्री (१८) पचम (१६) परज, (२०) प्रभात (२१) विभास, (२२) विहागडा, (२३) भैरव (२४) मलार (२५) मार (२६) मालव (२७) मालव कालरी गाडी (२८) मालव गाडा, (२६) मालव श्री, (३०) मवाडा (३१) रामकला (३२) रामग्री (३३) वसत (३४) विराडी, (३५) विलावल, (३६) शकरभूषण, (३७) श्री राग, (३८) सारग, (३६) सामगी (४०) सिंधुडा (४१) सारठ, (४२) सारठ सामरी, (४३) हारी।

सूर न काल भाव एव विषयानुकूल रागो की योजना की ह। उनका बिलावल, सारग और धनाश्री राग अधिक प्रिय थे। इनमे भी बिलावल उनको सर्वाधिक प्रिय था। 'सूरसागर' के दशमस्कन्ध का छोडकर शेष स्कधो का प्रारम्भ बिलावल से ही होता है। इस राग के शुद्ध स्वर ईश प्राथना के लिए विशष अनुकूल है। यह मध्याह्न पूव प्रात कालीन राग है। शास्त्रीय दृष्टि स इस राग की प्रकृति गम्भीर मानी गई है।

नरसी को वसत, रामग्री, एव केदार राग अधिक प्रिय थे। वसत राग वसत ऋतु मे गाया जाता है।[1] यह राग शृगार क विशेष अनुकूल माना गया है। रास बिहारी कृष्ण के नित्य वृन्दावन धाम म सदा वसत ही रहता है और नरसी जसे मधुर भक्त की भी चरम अभिलाषा यही रहती है कि वह कृष्ण की शरण म रहकर 'कोटि-कोटि' वर्षों तक वसत रमा करे—

शरण रहिये मारा वालमा, कोटि वष वसत रमीजे,
नरसयाना स्वामीना सगयी, भामिनी भोग समीजे[2]

ऐसी स्थिति म नरसी का 'वसत प्रिय होना स्वाभाविक है।

नरसी का अभाव-ग्रस्त जीवन सदा दुख, चिन्ता, विवशता एव शोक की गम्भीर छाया स आक्रान्त रहा है। उन्होने अपने जीवन के कठोर क्षणो को केदार राग म ही गाना अधिक उचित समझा था। उनके हार', हूडी, मामेरु आदि प्रसगो पर लिखे गए आत्मपरक काव्यो

---

१ वसन्तर्तौ गयो मृदुल कथमस्तीत्रसकल। (कल्पद्रु माकुर)। २ न म का स, पृ २२१।

के पदो का राग केदार ही है, जिनमे कवि के अभाव-ग्रस्त जीवन का हा-हा-कार समाहित है। केदार राग की मीड दर्दभरी होती है और करुण भाव इस राग की प्रकृति के विशेष अनुकूल है। इस प्रकार नरसी के जीवन के अधिक निकट यदि कोई राग है तो वह केदार ही।

नरसी की भाँति सूर ने भी कृष्ण-जन्म के समय देवकी और वसुदेव की चिन्ता,[1] ऊखल-बन्धन के समय गोपियो का विषाद,[2] रासपचाध्यायी मे कृष्ण के अन्तर्ध्यान होने पर गोपिकाओ का विषाद,[3] गोपिकाओ का विरह-निवेदन,[4] उद्धव द्वारा कृष्ण समक्ष राधा की दीन दशा का कथन[5], तथा व्रजवासियो की दीन स्थिति के वर्णन मे केदार राग ही गाया है।[6]

दोनो कवियो ने अपने काव्यो मे सगीत-वाद्यो के नाम भी निर्दिष्ट किए है, जिनमे से कई ऐसे भी है जिनसे आधुनिक सगीत-जगत् अपरिचित है। सूर ने तीन स्थानो पर वाद्यो का उल्लेख किया है कृष्ण-जन्मोत्सव, रास-प्रकरण और होली-प्रसग। कृष्ण-जन्मोत्सव के वधाई के पदो मे मृदग, पखावज, निसान और ताल का वर्णन है। रास-प्रकरण मे वीणा, दुन्दुभि और वसरी का उल्लेख किया गया है तथा होली-वर्णन मे समस्त वाद्यो से व्रजमडल को प्रतिध्वनित होते वताया गया है। इस प्रकार स्वर और ताल दोनो प्रकारो के वाद्यो से समस्त सूर-काव्य मुखरित है—

(अ) ताल मृदंग वीन, वाँसुरी डफ गावत गीत सुहाए।[7]
(आ) डफ वाँसुरी रुंज अरु महुअरि, वाजत ताल मृदंग।[8]
(इ) झाँझ झालरी किन्नरी रँग भीजी ग्वालिनी।[9]
(ई) वीन मुरज उपंग मुरली, झाँझ झालरि ताल।[10]
(उ) दुन्दुभि ढोल पखावज आवझ, वाजत डफ मुरली।[11]
(ऊ) वाजत ताल मृदंग, झाँझ, डफ रुंज, मुरज वाँसुरि धुनि थोरी।[12]
(ए) ढोल भेरि डफ वाँसुरी, हरि होरी है।
बाजे पटह निसान अहो हरि होरी होरी।[13]

सूर की भाँति नरसी ने भी 'कृष्ण-जन्मोत्सव', 'रास' तथा 'होली' (वसत) के पदो मे इस प्रकार वाद्यो का उल्लेख किया है—

(१) दुन्दुभी नाद अंतरीक्ष वागे, पुष्पनी वृष्टी थाय रे,
० ० ०
नंदने आंगणे नर घोष वाघ्यो, पचम शब्दना पूर्या नाद रे।[14]
(२) अती रुडा रे वांव वजाडे, तारुणी वजाडे ताल,
चतुरा मळीने चंग वजाडे, तो मोरली वजाडे मदन गोपाल।[15]

१. सू., प ६२७, ६२८, ६२६। २ सू., प ६६८ से ६७१ तक। ३. सू., प १७४२, १७४३।
४ सू., प. ४५२८। ५. सू., प. ४७२५, ४७२७, ४७२८। ६ सू., प. ४७२६।
७ सू., प ३४७२। ८ सू., प. ३४७८। ९ सू., प ३४८५। १०. सू., प. ३४६४।
११. सू., प. ३५११। १२ सू., प ३५२६। १३. सू., प ३५३२। १४ न. म. का. सं., पृ ४३५, ४३६।
१५. न. म का. स, पृ २२२।

(३) झांझरा नेपुरा, कटि तणी किंकणी, ताल मदंग रस एक ताल[३]
(४) ताल पखावज वेणा महुयर विध विध वाजा वाहेरे[४]
(५) एक कर वेणा एक कर महुयर, एक नाच एक गाए री[५]
(६) जोड नगारानी ऊट ऊपर धरी, अखनी जोड त्यां झाझ वागे[६]
(७) धुणुणुणुणुणु उपग वाजे, ताल निशान मदग वासळी[७]

नरसी ने वांस, ताल उपंग, मुरली, मृदग उपग, शख, पखावज, वीणा, महुयर[८] नगारा, और झांझ वाद्यो का उल्लेख किया है। इनमें से एकाध को छोडकर शेष सभी आजकल भी प्रचलित हैं। वाद्यों के उल्लेख में भी दोनों कवियों में पर्याप्त साम्य होते हुए भी कतिपय में अन्तर भी है।

भाषा

भाषा भावाभिव्यक्ति का प्रमुख साधन है। अलंकार एवं छन्द की भांति यह भी काव्य के बाह्य पक्ष का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। कवि की भाषा जितनी सशक्त होती है, उतनी ही वह भावों की अभिव्यक्ति करने में समर्थ होती है। काव्य में भाव और भाषा का मणि-कांचन योग ही उसके अन्तर एवं बाह्य को प्रकाशित करता है। शब्द भंडार भाषा की सर्वोत्तम निधि है। इसके साथ ही मुहावरों और लोकोक्तियों का काव्य में यथास्थान सन्निवेश भी भाषा की शक्ति का परिचायक है। यहाँ दोनों कवियों की भाषा के शब्द भंडार, मुहावरों और लोकोक्तियों पर विचार किया जाता है।

सूर की भाषा व्रज है। उनके जीवन से सम्बद्ध सीही, गऊघाट और पारसौली स्थान व्रज मंडल के ही अन्तर्गत है। सूरसागर में सूर ने व्रजभाषा के लिए भाषा शब्द का प्रयोग किया है, जिससे यह प्रतीत होता है कि उन्होंने इस प्रदेश की जनभाषा को ही अपने काव्य का माध्यम बनाया था। किन्तु जिस भांति खनिज से निकला हीरक विविध संस्कारों से सम्पन्न होकर ही उज्ज्वलता प्राप्त करता है उसी भांति व्रज प्रदेश की जनभाषा भी सूर द्वारा संस्कार प्राप्त करके ही उत्तम साहित्यिक स्वरूप प्राप्त करती है। इसलिए आलोचक व्रजभाषा के प्रथम संस्कर्ता सूर को ही मानते हैं। जो कोमल-कान्त-पदावली, भावानुकूल शब्द चयन, माधुर्य, अलंकार-योजना, धारावाहिक प्रवाह, संगीतात्मकता और सजीवता सूर की भाषा में है उसे देखकर तो यही कहना पड़ता है कि सूर ने ही सर्वप्रथम व्रजभाषा को साहित्यिक रूप दिया।[९] सूर की भाषा में साधारण लोकगीत से लेकर चमत्कार प्रधान दृष्टकूट पदरचना तक की विविधता मिलती है। इसीलिए वे व्रजभाषा के वाल्मीकि कहे जाते हैं।[१०] कूटपद तथा कुछ पदों के अतिरिक्त सूर के शेष पदों की भाषा का स्वरूप सरल, प्रवाहयुक्त एवं भावानुकूल है।

---

१ हा म प, के वा [illegible] [illegible]। २ न म का म, पृ [illegible]।
३ न म का म, पृ [illegible]। ४ न म का म, पृ [illegible]। ५ न म का म, पृ [illegible]।
६ महुवर महुअर (प्राकृत) सपेरों का वसुरी। कोश, सू [illegible] दी।
७ सू मा [illegible], पृ [illegible]। ८ सूर की काव्यकला, डा मनमोहन पृ [illegible]।

नरसी के काव्य की भाषा गुजराती है। नरसी एक लोकप्रिय कवि होने के कारण उनके पद, उनकी प्रभातियाँ गुजरात के घर-घर मे गाई जाती रही है। अत. उनके पदो की भाषा के मूलरूप मे पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है। श्री रामनारायण विश्वनाथ पाठक लिखते है "नरसी अतीव लोकप्रिय कवि थे, अत एक स्थान से दूसरे स्थान, एक पीढी से दूसरी पीढी और एक युग मे दूसरे युग मे उनके काव्यो की प्रतिलिपियाँ तैयार होती रही। इनमे से कई व्यवमायी लिपिको द्वारा तथा कई लिपिक का व्यवमाय न करनेवालो ने तैयार की होगी। इनमे कई लिपियाँ काव्य की मूल भाषा को सुरक्षित रखने के उद्देश्य मे नही अपितु अपने गाने के प्रयोजन मे तैयार करवाई गई होगी। ऐमी स्थिति मे अनजाने मे ही भाषा को मरल वनाने या त्रुटि सुधारने के उद्देश्य से काव्य की भाषा को तत्कालीन स्वरूप प्रदान किया गया होगा। इसी भाँति आगे भी पीढी-दर-पीढी लिपिको के हाथो भाषा नवीन रूप मे परिवर्तित होती रही होगी।"[1]

भाषा-विशुद्धि को लेकर विचार किया जाए तो कहा जा मकता है कि सूर की भाषा अपेक्षाकृत उमी रूप मे सुरक्षित रही है, जिम रूप मे कवि द्वारा प्रयुक्त की गई थी, क्योकि सूर जिस सप्रदाय मे दीक्षित थे, उममे उनके पदो का अतीव मम्मान था। अत विद्वान् लिपिको द्वारा लिपिबद्ध किये गये उनके ग्रथ सप्रदाय के भडारो मे आज भी मुरक्षित है। सप्रदाय के दो प्रमुख तीर्थधाम नाथद्वारा और काकरोली मे 'सूरसागर' की पाडुलिपियाँ अद्यावधि सुरक्षित है।

इमके प्रतिकूल नरसी का काव्य किसी सप्रदाय विशेष से सवद्ध न होने के कारण अपने मूल रूप मे सुरक्षित नही रह सका। भावुक भक्तो द्वारा जो पद गाये जाते रहे और उनके पास लिखित रूप मे जो कृतियाँ मुरक्षित रही, वही हमारे अध्ययन का विषय वन सकी है। इतना होने पर भी नरमी की भाषा मे शव्द-वैभव, लोकोक्तियाँ, मुहावरे आदि को लेकर विचार किया जाए, तो किसी न किसी रूप मे उनमे प्राचीनता सुरक्षित है ही। सूर की भाँति उन्होने भी तत्कालीन लोक-प्रचलित भाषा को ही अपने काव्य का विषय वनाया था। उनकी भाषा मरल एव भावानुकूल है। सूर के कूटत्व शैली मे निवद्ध पद अर्थ की दृष्टि से दुरूह है, किन्तु नरसी के समस्त पद प्रसाद शैली मे रचित होने के कारण मरल एव मुगम्य है।

तात्पर्य यह है कि अपने भावो को महज रूप मे अभिव्यक्त करने की क्षमता सूर एव नरसी दोनो की भाषा मे विद्यमान है। दोनो ने अपनी अपनी भाषा मे तत्सम एव तद्भव शव्दो के समन्वित रूप का व्यवहार किया है। दोनो ने अपने भावो की अभिव्यक्ति मे शव्दो को विविध रूपो मे विकृत करके कोमल वनाने का प्रयत्न किया है। ओजपूर्ण स्थलो की न्यूनता के कारण दोनो के काव्य मे प्राय माधुर्य एव प्रमाद गुण का ही प्राधान्य दृष्टिगत होता है।

---

१ "नरसिंह वहु ज लोकप्रिय कवि हतो अने तेथी एक जगाथी बीजी जगाए, एक पेढीथी वीजी पेढीए, एक जमानाथी वीजे जमाने एम तेनां काव्योनी नकलो थती चाली. नकलो केटलीक लहियाओए करी हशे, केटलीक ए धधो नहि करनारा सामान्य माणसोए करी हशे आमाना घणाखरा नकल करनारा, तेनी भाषानी खातर नहि, भक्ति खातर पोते गावाने खातर तेनी नकल करता, अने तेथी तेमणे अजाणता ज कदाच भाषा वधारे सुगम करवा, कदाच जूनी भूल छे ते सुधारवाना मानी लीधेला उद्देशथी, ते काव्यनी मुल भाषाने चालु भाषानुं रूप आप्युं अने एम पेढी दर पेढी लहिये लहिये भाषा एनी मेले नवुं रूप धरती गई"-नभोविहार, रा. वि पाठक, पृ १६।

नरसी ने सुकुमारता एव कोमलतापूर्ण अभिव्यजना के लिए शब्दो म 'ल', 'ड' आदि का सयोग किया है। कही कही अतीव लघुता के भाव को सूचित करने के लिए उन्होने एक ही साथ 'ल' 'ड' का प्रयोग किया है, जिससे उनके काव्य का माधुर्य और भी बढ गया है। जैसे गवलडी, आंबलडी गावलडी आदि। नरसी क भाषा सौष्ठव एव माधुर्य को लेकर नमद कहते हैं—"नरसी की भाषा काठियावाडी होते हुए भी सुरती-गुजराती क मार्दव एव लोच से युक्त है।"[1]

नरसी की ही भाँति सूर म भी भाषा को कोमलता प्रदान करने की प्रवत्ति मिलती है। उन्होने नरसी के 'ड या ल' के स्थान पर ड और या का प्रयोग किया है। जसे मावडो और 'कानुडो के स्थान पर 'मया और कन्हैया।

साराश यह कि वर्णो को सुकोमल बनाने की वत्ति लगभग दोनो कवियो म समान रूप से उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त विषय एव शैली की दृष्टि से विचार किया जाए तो भी प्राय दोनो कवियो मे पर्याप्त समानता दीख पडती है। कथा-वणन म जहाँ दोनो की भाषा रूखी एव शिथिल लगती है वहाँ कृष्ण की मधुर लीलाओ म वह प्राजल रसानुकूल एव प्रवाह-पूर्ण रही है।

विविध भाषाओ का मिश्रण

भाषा विचार विनिमय का एक प्रधान एव महत्त्वपूर्ण साधन होने से उसमे अन्य भाषाओ का मिश्रण होना स्वाभाविक है। कवि अपनी भावाभिव्यक्ति के प्रयत्न मे चारो ओर से शब्दो को ग्रहण करता है और उनमे अपने अनुकूल आवश्यक काँट छाट करके काव्य म प्रयोग करता है। ऐसा करने से भाव प्रकाशन की प्रक्रिया अधिक सहज सुन्दर, एव सुगम्य हो जाती है। इसीलिए हम देखते हैं कि दोनो कवियो म स्वभाषा के साथ-साथ अन्य भाषाओ के शब्द भी उपलब्ध होते हैं। यद्यपि सूर की भाषा परिनिष्ठित ब्रज ही थी तथापि उसमे खडी बोली पूर्वी बुन्देलखडी पजाबी आदि के शब्द प्रचुर मात्रा म मिलते हैं। श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मीतल ने अपने ग्रंथ 'सूरनिर्णय' म यह कहा है कि सूर म अन्य भाषाओ के साथ साथ गुजराती के भी शब्द उपलब्ध होते हैं, किन्तु प्रामाणिक उदाहरणो के अभाव म इस उक्ति के प्रति सहमति प्रकट करना सभव नही। बहुत सभव है जिन शब्दो को उन्होने गुजराती प्रभाववाला माना है व प्राचीन पश्चिमी राजस्थानी के भी हो सकते है। इनके अतिरिक्त अरबी फारसी एव तुर्की जसी विदेशी भाषाओ के शब्दो के रूपो म अपने अनुरूप परिवतन करके सूर ने यथास्थान व्यवहार किया है जिससे उनकी भाषा मिश्रित होने पर भी बलवती एव प्रभावशालिनी हो गई है।

नरसी की भाषा पर मराठी का प्रभाव

आजकल प्रयुक्त मराठी भाषा क 'चा चो चु' परसर्गो का प्रयोग नरसी क प्राय प्रत्येक पद क अन्तिम चरण म व्यवहृत हुआ है। यद्यपि इन परसर्गो का प्रयोग पुरानी गुजराती का जन रच-

१ नमदग, पृ ४२।

नाओ मे भी पर्याप्त रूप मे मिलता है, तथापि नरसी के पदो मे जो इनका व्यवहार मिलता है वह तो नामदेव के अभगो के अनुकरण पर ही हुआ है —

(१) नरसैंयाचो स्वामी दे आलिंगन, विरहताप समावे रे.[1]
(२) नरसैंयाचा स्वामी कहुं तमने, क्षणुं अळगो न थाये रे.[2]
(३) दधिच्युं पात्र ते शिरथी ढाकियुं रे.[3]

श्री एन बी दिवेटिया ने अपने ग्रथ 'गुजराती लेग्वेज एण्ड लिट्रेचर' मे इस विषय पर पर्याप्त विचार किया है। वे लिखते है —"'चो, ची, चु' प्रत्ययो का मूल सस्कृत मे विद्यमान है। एक समय ऐसा था जब कि मराठी की भाँति गुजराती मे भी इनका प्रयोग होता था। किसी समय ये मराठी एव सपूर्ण गुजराती काव्य की सम्मिलित सम्पत्ति के रूप मे थे। आगे अर्वाचीन गुजराती साहित्य मे इनका प्रयोग बन्द हो गया, किन्तु मराठी मे इनका प्रचलन ज्यो का त्यो बना रहा।"

तात्पर्य यह कि नरसी-प्रयुक्त 'चो,ची, चु' षष्ठी विभक्ति के प्रत्यय मराठी की अपनी वैयक्तिक सपत्ति नही किन्तु मराठी के साथ गुजराती साहित्य को सस्कृत एव अपभ्रश की ही देन है।

नरसी मे कई स्थानो पर कृष्ण के पर्याय के रूप मे 'विट्ठल' का प्रयोग मिलता है —

(अ) विठले रोकी वनमां, हुं करुं कोण उपाय ?[5]
(आ) भक्तिवश विट्ठलो, संत साथे मळ्यो, समोवडने नव चूके टाणे .[6]

विट्ठल शब्द कन्नड का है, जो सस्कृत के विष्णु का अपभ्रश रूप है। महाराष्ट्र पडरपुर के ई. सन् ११९२ के शिलालेख मे इस शब्द का प्रयोग हुआ है।[7] पडरपुर मे 'विठोबा' का प्राचीन मदिर भी विद्यमान है। 'विठोबा' के परम-भक्त नामदेव का नरसी ने बडी श्रद्धा से कई बार अपने काव्य मे उल्लेख किया है —

(अ) नामिचे हाथ तिं दूध पियुला.[8]
(आ) नामाचां छापरा आप्यां छाहीं.[9]
(इ) पांडरपुर नगर छे एक, तेह मांहि नामो सोइ विशेख,
नामदेव हरि शूं प्रीत्य, रामानन्दने एह ज रीत्य.[10]
(ई) नामानूं छापरा छाहि आप्यूं, कबीरा नी अविचळ वाणी.[11]

---

१ न म॰ का॰ सं, पृ ३६२। २. न म का. सं, पृ. ३६२। ३. चा, पृ. २७।

४. "I then further believe that this 'च' Termination was the common property of old Gujarati and Marathi, and that while it disappeared in later Gujarati, it stuck on and still survives in Modern Marathi. This process is not unknown . Dr Tissitory agreeing with Dr. Sten Konow and Sir George Grierson traces the 'चा' soffik to Ap 'किच्चड', Sanskrit कृत्यकः —'Gujarati Language and Literature', N B Devatia, P. 60, 61.

५. चा, पृ. ३६। ६ न म का सं, पृ १५८। ७. Gujarati Language and Literature, P 63 ८ हा स हा. के, पृ १५। ९ हा. स. हा के., पृ. १५। १०. हा. स. हा. के., पृ. ६९। ११. हा. स. हा. के., पृ. ३२।

सिद्धांत निरूपण में दोनों कवियों ने सबसे अधिक तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। उदाहरण स्वरूप 'सूरसारावली' से एक पद यहाँ दिया जाता है, जिसमें 'जहँ', 'तहँ' 'दोऊ' जैसे कुछ शब्दों को छोड़कर शेष सभी संस्कृत के तत्सम शब्द हैं —

(अ) अविगत आदि अनन्त अनूपम अलख पुरुष अविनासी ।
पूरणब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम नित निज लोक विलासी ।
जहँ वृन्दावन आदि अजर जहँ कुंजलता विस्तार ।
तहँ विहरत प्रिय प्रियतम दोऊ निगम भृंग गुंजार ।[1]

नरसी का निम्नलिखित पद लीजिए जिसमें अन्य लीला परक पदों की अपेक्षा तत्सम शब्दों का आधिक्य है —

जागीने जोउं तो, जगत दीसे नहीं, ऊंघमां अटपटा भोग भासे,
चित्त चैतन्य विलास तद्रूप छे, ब्रह्म लटका करे ब्रह्म पासे
पंचमहाभूत परिब्रह्म विषे ऊपन्यां, अणु अणु माहिं रह्यां रे वळगी,
फूल ने फळ ते तो वृक्षनां जाणवां, थडथकी डाळ ते नहि रे अळगी
वेद तो एम वदे, श्रुति स्मृति शाख दे, कनक कुंडळ विषे भेद नांये

तत्सम शब्दों के प्रमाण के आधार पर तौलनिक दृष्टि से विचार किया जाए तो यह स्पष्ट है कि सूर ने अपेक्षाकृत तत्सम शब्दों का व्यवहार अधिक मात्रा में किया है।

दोनों कवियों ने स्तोत्र-पद्धति के रूप में स्तुतियाँ लिखी हैं जिनमें तत्सम शब्दों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में हुआ है। सूर ने गोवर्धन-लीला के पश्चात् कृष्ण की स्तुति इस प्रकार की है —

जयति नँदलाल जय जयति गोपाल, जय जयति व्रजबाल आनंदकारी।
कृष्ण कमनीय मुखकमल राजित सुरभि, मुरलिका मधुरधुनि वन विहारी।
स्याम घन दिव्य तन पीत पट दामिनी, इन्द्र धनु मोर को मुकुट सोहै।
सुरभि मंडलमध्य भुज सखा अंस दिये त्रिभंगि सुंदर लाल अति विराज।
विस्व पूरन काम कमल लोचन खरे, देखि सोभा काम कोटि लाज।
स्रवन कुंडल लोल, मधुर मोहन बोल, वेनुधुनि सुनि सखनि चित्त मोद।[2]

नरसी ने अधोलिखित पद में भगवान के विराट् रूप की पूजा का भव्य वर्णन किया है जिसमें प्रायः तत्सम एवं कुछ अर्ध तत्सम शब्दों का ही प्रयोग किया गया है —

तारी केम करी पूजा करुं, श्रीकृष्ण करुणानिधी अकल आनंद कह्या न जाय
स्थावर जंगम विश्वव्यापी रह्या, कयां वा कठाय कम समाया
वार मेघे करी, स्नान श्रीपति कर्यां शतगनी धार हरि कम राख्या
भोगण पचास तुन वायु वजन कर, सूक्ष्म वायु तुन कम गमाजा
सूरज रूपे करी, त्रण त्रिभोवन तप्यां चंद्ररूप करी अमर ठार्यां।

---

१ सूरसारावली १, २। २ न म का म पृ ४०। ३ सू, प ११६०।

मेघ रूपे करी, वरशो रे विठ्ठला, वायु रूपे करीने वधार्यां ।
अराढ भार वनस्पति, हरनिश पीमळे, माळी ते पांतरी शीरे लावे.[१]

अप्रस्तुत-योजना मे सूर एव नरसी दोनो कवियो मे तत्सम शव्दो का आधिक्य मिलता है यहाँ दोनो के कुछ तत्सम शव्द प्रस्तुत किये जाते है —

सूर

सुरपति, त्रिभुवन, करुणामय, कलानिधान, तरणि, त्रिवली, खडिता, मुद्रिका, कटाक्ष, जघन लुव्ध, पीयूष, परितोप, मुखारविन्द, मन्मथ, कनक, कलश, कुतल, कनीनिका, कलत्र, क्वासि खगपति, हाटक, सत्वर।

नरसी

खड्ग, भक्तवत्सल, रणधीर, आत्मविचार, परमहस, म्लेच्छ, शशिवदनी, रसाल, वदनपकज दुष्टविदारण, रोहिणीपति, दधिसुत, अर्क, सामुद्रिक, धर्म-आचार, चन्द्रहास, पर्यक, ममभाग्य अगणित व्रह्म, नवसप्त भूपण, ससारसागरतीर, क्षितिरस, वादार्थ, तक्र, अशरणशरण।

तद्भव शब्द

व्रज और गुजराती दोनो भापाओ का विकास अपभ्रश से हुआ है। अत दोनो मे लोक प्रचलित तद्भव शव्दो का व्यवहार अधिक मिलना स्वाभाविक है। भापा का माधुर्य भी तत्स से कही अधिक तद्भव शव्द मे रहता है। तद्भव शव्दो के आधिक्य के कारण दोनो की भाष मे आडम्बर-हीनता एव स्वाभाविक माधुर्य सर्वत्र दृप्टिगत होता है।

सूर ने सस्कृत शव्दो को कही कही ऐसा कर्ण-मधुर-रूप प्रदान कर दिया है कि जिससे व्रजभाषा की ही प्रकृति के अनुकूल जान पडते है। उन्होने प्रयोग-सौकर्य के लिए मूल तद्भ शव्दो से नए शव्द भी गढ लिए है।

यद्यपि नरसी मे भी प्राय सूर के जैसी ही सभी प्रवृत्तियाँ उपलव्ध होती है, तथापि शव्दो क तोडने मरोडने की वृत्ति उनमे अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे पाई जाती है। प्रमाण की दृप्टि देखा जाए तो सूर की अपेक्षा नरसी मे तद्भव शव्द अधिक मिलते है।

यहाँ दोनो कवियो के थोडे महत्त्वपूर्ण तद्भव शव्द दिये जाते है —

सूर

अँकवारि, अँचरा, भक्तवछल, जाति, गोत, निठुर, काजर, खिन, औसर, केहरि, जीभ, पू पुहुप, वूडत, दुति, सियार, राकस, अतरजामी, माँवरो, मसान, भौन, तिय, गुसाई, गीध बिज्जु, मुकुता, काग, जोवन, जतन, खभ, थनु, दीठि, कोह, पखारना, कुरुखेत।

नरसी

अधुर, जादवराय, , भ्रगुटी, रुदय, सफराणी, वेल, नेपुर, जोवन, केल, शणगार, वेणा, धून गिहिलो (स० गृहीतक–प्रा० गिहिल्यअ), शामळीया, सोहामणु, कवुद्ध, कहान, विठ्ठला, आखड

---

१. न म का. सं, पृ ४६५।

गुठा, मानजो, गहियर, मन मासमरान, हरिगुननाग गावड़ा, मावटी, मधा (मध्य), अचवारम (मर्जविाग्ग), माराम, रिम्भे, गिरगुण (मगण), मरघ, उगध मग्र (यिर), मागळ, वारम (गिविक्रम), मगमानिमा हवानो वरमातर मान्यानि द्रप, मान्ज, गुरन, मगमाण, मगन (मद्गम), मभेरन, मराग गुरन गरग, भगनि तनवर (तलर), मग्गा गम्या, विम (यिरय म) जाग्गर्गि (मागर्गि) मायठू (मापवृष्टि), मटनाम रिधगिध पताारा, वाजणा (सं० विजा प्रा० वाजन) भींग अंभीग वाजित्र(वाद्यपत्र) पचर(घतवर) रणा नजामणा गागरण (प्रारम्भ प्रगग), ताान्नु (तन्नु), वूठी (वृष्ट वृष्टि) गगमाया वदुठ माम्मण माज (मध) गाराणी (गुरुपती) पाण (पाणि) उणा (ऊन-न्यम व मप म) तनघव (तलाण) घारी (घत्वर) गावगराट (गुपगार) घामगणारा (वमनायर) मान (गल) रडान्व (रन्न), टाम-ठाम गरधग (मयम्य) नह घुनाग दाार, जनना आनभो (उगानभ) दुनीत घामणदी (घामनी) घाडीना माग्वडर (माग्चन्द्र) प्रथन' (प्र+गन्न गान मे मप म) दाम यालमा—इत्यादि।

देशज शब्द

दोनों कवियों में तत्कालीन लोक प्रचलित एसे शब्द भी मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्दों में उपलब्ध नहीं होती है। ये शब्द देशज कहलाते हैं। मध्यकालीन साहित्य का लोक चेतना से प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। इसीकी प्रेरणा से मध्यकाल में विपुल भक्ति साहित्य का निर्माण हुआ है। अत हमारे विवेच्य दोनों कवियों में लोक चेतना के प्रतीक इन देशज शब्दों का प्रयोग मिलना स्वाभाविक ही है। यहाँ दोनों के काव्य में से कुछ देशज शब्द उद्धत किये जाते हैं —

सूर

अचगरी, औचट औघट, चिरिया, खरिक चुचकारे, डहकावैं ढोरत चभोरी, छाक झगुआ झारी, टूक-टूक, धुक धुकी, झूखी डोंगरी, धारी नेर, नौआ, बोहनी मूड बगदाइ सौंज, बोदे लडबौरी, लठयाँसी—इत्यादि।

नरसी

खापायोळा, लगार, झोटी, नरवेडो, टालोमालो, झाकमझोल, वलगाझुमी डगलो नाली घेली, खचको भचको, मरवलडा, टाटु टेव गरथ चीथरडु ओय, धोथठाला धावलिम्रालो ठणव, करवरा, नोहरा धाडडो, टगटग, झघारि (जगमगाती)।

विदेशी शब्द

सूर एव नरसी के काव्य-काल में व्रज एव गुजराती दोनों भाषाओं में कई फारसी अरबी, तुर्की जसी विदेशी भाषाओं के शब्दों का प्रचुर मात्रा में प्रचलन हो चुका था। ई स की १२वीं शताब्दी के अन्त मे मुहम्मद गोरी ने एक एक करके दिल्लीके चौहान कनोजके राठोड एव महावा

१ वहालाजी शु प्रेमप्रघल रस पीधो

के राजाओ को उखाडकर दिल्ली पर तुर्की सल्तनत की स्थापना की। तुर्की शासको की मातृभाषा तुर्की और राजकीय भाषा फारसी थी। तुर्को के पश्चात् ई सन् १५०० से १८०० तक दिल्ली पर मुगलो का शासन रहा। इन विदेशी शासको की भाषा का उस समय सभ्य समाज मे पर्याप्त सम्मान था। रहीम एव रसखान जैसे सहृदय मुसलमान हिन्दी साहित्य के साथ अतीव गाढ़ सम्बन्ध रखते थे। ऐसी स्थिति मे सूर की रचनाओ मे विदेशी शब्दो का प्रयोग मिलना स्वाभाविक है। सूर ने तुर्की, फारसी आदि विदेशी भाषा के शब्दो को ज्यो का त्यो नही ग्रहण किया है, किन्तु उन शब्दो के मूल रूपो मे अपनी रुचि के अनुसार पर्याप्त परिवर्तन करके उन्हे अपने काव्य मे स्थान दिया है। अर्थात् उन्होने अरबी, फारसी और तुर्की शब्दो के तत्सम नही अपितु तद्भव रूपो को ही अपनाना अधिक उचित समझा है। सूर के अधोलिखित एक ही पद मे विदेशी भाषा के कितने शब्द प्रयुक्त हुए है, देखिए —

साँचौ सो लिख हार कहावै।
काया-ग्राम मसाहत करि कै, जमा बाँधि ठहरावै।
मन-महतो करि कैद अपने मैं, ज्ञान-जहतिया लावै।
माँडि माँडि खरिहान क्रोध को, पोता भजन भरावै।
बट्टा काटि कसूर भरम को, फरद तलै लै डारै।
निहचै एक असल पर राखै, टरै न कबहूँ टारै।
करि अवारजा प्रेम प्रीतिको, असल तहाँ खतियावै।
दूजे करज दूरि करि दैयत, नैकु न तामैं आवै।
मुजमिल जोरै ध्यान कुल्ल को, हरि सौं तहँ लै राखै।

० ० ०

जमा खरच नीकैं करि राखै, लेखा समुझि बतावै।
सूर आप गुजरान मुहासिब, लै जवाब पहुँचावै॥[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि सूर ने प्राय राज-दरबार सबधी विदेशी शब्दो का ही अधिक व्यवहार किया है। इनके अतिरिक्त उन्होने अपने काव्य मे जिन विदेशी शब्दो का स्थान स्थान पर प्रयोग किया है, उनमे से थोडे यहाँ दिये जाते है —

अचार, खुमारी, दरबान, खाक, जहाज, सिरताज, खवास, नफा, दगा, रेशम, खसम, हजूर, हजार, सन्दूक, नेजा, अपसोस, आखिर, महल, फौज, जौहर, दागना, सरकार, परदा, बेसरम, मुजरा, यारी, सिकार, सेहरो, हरामी—इत्यादि।

नरसी ने भी सूर की भाँति ही शब्दो के मूल रूपो मे अपने काव्य की भाषा के अनुरूप परिवर्तन करके विदेशी शब्दो का यथास्थान प्रयोग किया है। प्रमाण की दृष्टि से देखा जाए तो उनके काव्य मे इन शब्दो की सख्या अपेक्षाकृत कम है। उनके काव्य मे लगभग ७०, ८० विदेशी शब्द मिलते

---

१ स, प १४२।

हैं, जो अधिकांशत राज-दरबार और वेष भूषा से ही सम्बद्ध हैं। नरसी प्रयुक्त विदेशी शब्दों में से कुछ यहाँ दिये जाते हैं —

अमल कनात, खबर, खाताबही गालीचा गुलाब गुलर, चाकर, चाबुक जबान, जाजम जवाप, जाम, जामा, जरकसी जोर, तकीया, दस्त दरबार, निशान, परन्ना फजेत, फौज, बन्दीगिरी, माल, मेवा, मेहेक, ख्वाब शीतल, हक, हाल—इत्यादि।

मुहावरे और लोकोक्तियाँ

मुहावरे वाक्यों में वाक्यांशों के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं। अत इनके द्वारा स्वतंत्र रूप से पूरी बात नहीं कही जाती है। लोकोक्ति में एक विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति होती है जिसका प्राय किसी न किसी अंश में प्राचीन लोककथा से सम्बन्ध रहता है। कभी-कभी वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, सूर, तुलसी जसे रससिद्ध कवियों की उत्तम काव्यपंक्तियाँ भी लोकोक्तियों के रूप में प्रचलित हो जाया करती हैं। मुहावरों और लोकोक्तियों की सबसे बडी विशेषता यह है कि भाषा में इनके द्वारा लाक्षणिकता, अर्थगाम्भीर्य वचित्र्य मार्मिकता सरलता एव कौतूहल जसे अदभुत गुणों का सहज ही में समन्वय हो जाता है।

सूर एव नरसी दोनों के काव्य में मुहावरों और लोकोक्तियों का यथास्थान सन्निवेश हुआ है। सूरसागर के भ्रमरगीत प्रसंग में इनका प्रयोग सर्वाधिक रूप में मिलता है। गोपिकाओं द्वारा प्रेमभक्ति की स्थापना तथा इसके साथ ही उद्धव कृष्ण और कुब्जा को लक्ष्य करके कही गई अनेक उक्तियाँ उत्तम मुहावरों और लोकोक्तियों के उदाहरण हैं। इसी भाँति सूर ने मानलीला एव 'नल समय के पद में भी मुहावरों और लोकोक्तियों के सहज प्रयोग किये हैं। नरसी में भी यथास्थान इनका प्रयोग मिलता है किन्तु वह प्रमाण की दृष्टि से अपेक्षाकृत स्वल्प है। यहाँ हम दोनों कवियों के कुछ महत्त्वपूर्ण मुहावरे और लोकोक्तियाँ उद्धृत करते हैं —

सूर के मुहावरे

(१) सहत लाइ क चाटो। (सू० प ३६२६)
(२) हस काग के सग। (सू०, प ३४१८)
(३) अग आगि दई। (सू० प २७०३)
(४) दई प्रेम की फासी। (सू० प ३७०७)
(५) हाथ बिकानी। (सू० प १८६८)
(६) बाहित के काग। (सू० प २३१२)
(७) मिली दूध ज्यों पानि। (सू० प १८८८)
(८) भई भुस पर की भीति। (सू० प २१८४)
(९) फिरत धतूरा खाए। (सू०, प ४०४०)
(१०) मरत लोचन प्यास। (सू० प ३२२८)
(११) घर ही ते खोटा खाया है। (सू० प ३६६५)
(१२) आँखि धूरि सी नैनी। (सू० प २३४०)

नरसी के मुहावरे

(१)	फूली अग न माउ रे ।	(न म का स, पृ २६५)
(२)	तल पापड थवु ।	(न म का. स, पृ २६४)
(३)	जन्मोजन्म तारी खात भागे ।	(न म का स, पृ ४८२)
(४)	सात साधु त्यारे तेर टूटे ।	(न म का स, पृ ४८९)
(५)	ताहरी पत्य हवि जाशि खरी ।	(हा स हा के, पृ ४४)
(६)	जेहने जे गमे तेने पूजे ।	(न म का स, पृ ४८५)
(७)	पोह फाट्यु ।	(न म का. स, पृ ४७५)
(८)	खाड्या ससारना थोथा ठाला ।	(न म का स, पृ ४७७)
(९)	परहरी थड, शु डाळे वळग्यो ।	(न म का स, पृ ४७६)
(१०)	दाम वेसे नहि काम सरशे ।	(न म का स, पृ ४७६)
(११)	रक मनावु त्यारे राय रूठे ।	(न म का स, पृ ४८९)
(१२)	निकळशे कादव कोठी धोता ।	(मामेरु प ३)
(१३)	हरि विना होळी हइडामाहे ।	(न म का स, पृ ३१२)
(१४)	झख मारवी ।	(हा स हा. के, पृ ७१)
(१५)	निर्लजपणे सगी थइने, माथे छाणा थापे रे ।	(न म का स, पृ ५०८)
(१६)	ग्राडी ग्राख को दिइ रे माता?	(रा स प के का शास्त्री पद २)
(१७)	दुरिजन शिर्य डावा पाए ।	(वही)
(१८)	वाहालाजी ने जता रे काइ नवि उगर्यु रे, हवे ते हाथ घसे शु थाय?	(न म का स, पृ ३१२)

सूर की लोकोक्तियाँ

सूर ने प्राय कथन की पुष्टि मे ही लोकोक्तियो का प्रयोग किया है। प्रयोग की दृष्टि से उनकी लोकोक्तियाँ तीन रूपो मे मिलती है—प्रचलित कहावते, परिष्कृत लोकोक्तियाँ और कवि की ग्रपनी विशेष चमत्कारिक उक्तियाँ। यहाँ सूर की कुछ लोकोक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

(१)	एक पथ द्वै काज।	(सू०, प ३५५८)
(२)	स्वान पूँछ कोउ कोटिक लागै, सूधी कहुँ न करी।	(सू०, प ४१०४)
(३)	जोवन रूप दिवम दस ही कौ, ज्यो अजुरी को पानी।	(सू०, प ३२१०)
(४)	सूर मुक्रत हठि नाव चलावत ये सरिता है सूखी।	(सू०, प ४१७५)
(५)	वडौ निदरे नाहि काहू ओछाई इतरात।	(सू०, प १८८९)
(६)	सूर स्वभाव तजै नहिं कारौ कीने कोटि उपाय।	(सू०, प ४६१७)
(७)	वहे जात माँगत उतराई।	(सू०, प ३५९९)
(८)	जही व्याह तहँ गीति।	(सू०, प ३७८३)

(६) कचन याइ काच ल आये । (सू०, प ३१२६)
(१०) घरको वहा अरगजा लपन, मरकत भूपन अग । (सू०, प ३३२)
(११) ल आये हा नफा जानि क सब वस्तु अकरी ।
मूरी के पातन के बदन को मुक्ताहल द है । (सू०, प ४२०२)

नरसी की लोकोक्तियाँ

नरसी की लाकाक्तिया का विषय भी प्राय कथन की पुष्टि ही रहा ह। उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ विशेष लोकोक्तियाँ यहाँ दी जाती है —

(१) के तें तो कपण कादरा वाविया,
क्याथी जमे तु दाल रोटी । (न म का स, प ४८२)
(२) फूट्यु गूमडु न थयो वैद्य वेरी । (न म का स, प २६४)
(३) तादुल मेलीने तुपन वळगी रह्यो
भूख नहि भागे एम ठाल थाये । (न म का स प ४८५)
(४) करणी ता कागनी हाड करे हसनी । (न म का स प ४८४)
(५) कोडी साटे थयु रतन वेणु । (न म का स प ८१)
(६) आपवु रतन ते गुजा ताळी । (न म का स, प ८१)
(७) म्हारु ने त्हारुमा जगत बूडी रह्यु
हरि विना बात ते सून प्रीछु । (न म का स, प ८०)
(८) आशनु भवन आकाश सूधी रच्यु,
मूढ ए मूळथी भात काची । (न म का स प ४८१)
(९) हु करु हु करु ए ज अज्ञानता,
शकटनो भार जेम श्वान ताण । (न म का स प ८८०)
(१०) अध गुरुए वळी निरध चेला । (न म का स प ४८७)
(११) आवना वक्षथी अमतफळ तोडवा । (न म का स प ४८८)
(१२) दूरमनिया डाह्या थइ आवे, शाणा थइ समजावे र। (न म का म प ४६०)
(१३) उखाणो साचो थयो, जी र मरकट कोटे हार । (न म का स प १५४)
(१४) जेहना भाग्यमा जे समे जे लख्यु
तेहत ते समे ते ज पाहाचे । (न म का स प ४८१)

दाना के मुहावरा एव लोकाक्तिया क प्रयाग पर विचार किया जाए ता क्वचित भिन्नता हान पर भी उनम पर्याप्त साम्य भी दष्टिगत हाता है। जस सूर का मूरी क पातन क बन्ल को मुक्ताहल द है तथा नरसी की 'आपवु रतन ते गुजा ताला' लोकोक्तिया म पूण साम्य है। सूर की गोपिकाएँ उद्धव से कह रही हैं कि निगुण लेकर बन्ल म सगुण कृष्ण का प्रनान करना तो एसी असम परिवत्ति है, जसे मूला की पत्तियाँ लेकर बदल म मौक्तिक प्रनान करना। नरसी जग नरिद्र

के घर वडनगर के राज्यमत्री की पुत्री के सम्बन्ध स्थिर करने के सदर्भ मे उक्त लोकोक्ति का प्रयोग हुआ है। नरसी जैसे दरिद्र के पुत्र को अपनी पुत्री प्रदान करना रत्न देकर बदले मे गुजा लेने के सदृश है।

दोनो कवियो के काव्यो मे प्रयुक्त मुहावरे एव लोकोक्तियाँ प्राय. अपने अपने प्रदेश के लोक सस्कारो एव लोकाचारो के परिचायक है। प्रयोग आदि की दृष्टि से दोनो मे जो कुछ अतर प्रतीत होता है, वह क्षेत्रीय लोकाचारो के वैभिन्य के कारण ही।

अष्टम अध्याय

उ प सं हा र

किया, खड दोष ही धाया।" नरसी क कलकठ से नि सत मधुर रस की परम-पावन भागीरथी ने भक्ति के लिए ऊसर क्षेत्र गुजरात को न केवल उर्वर बनाया, वरन उसके खडदोष तक का प्रक्षालन कर दिया। नारदजी न ऐसे ही भक्तो को उद्दिष्ट करके कहा है—पावयन्ति कुलानि पृथिवी च सूर को इस प्रकार के खडदोष प्रक्षालन का श्रेय प्राप्त न हो सका, क्योकि उनके समय तक ब्रज वष्णव भक्ति क लिए परमधाम के रूप म ख्याति प्राप्त कर चुका था, तथापि गोस्वामी विट्ठलनाथजी न स्वय उन्हें पुष्टिमार्ग का जहाज कह कर उक्त सम्प्रदाय म उनके अप्रतिम स्थान एव महत्त्व पर प्रकाश डाला है। इस सन्दभ म यह भी स्मरणीय है कि सूर जहाँ पुष्टि सप्रदाय स सबद्ध थ वहाँ नरसी सवथा सप्रदाय मुक्त थे।

कृतित्व की दष्टि स दोना भक्त-कवियो न कृष्णलीला विषयक प्रचुर पद-साहित्य का निर्माण किया है। इस सम्बन्ध म सूर न कृष्ण की बाल एव यौवन लीलाओ पर भागवतानुक्रमण क्रमबद्ध गेय पद शली म मुक्तक रचना की है जो परिमाण ही नहीं किन्तु काव्यत्व की दष्टि से भी अपक्षाकृत श्रेष्ठ है। नरसी न उक्त लीलाओ पर मात्र स्फुट पद ही लिखे है। नरसी का यह वशिष्ट्य है कि उन्होंने कृष्णलीला-परक पदो क अतिरिक्त कई आत्मपरक काव्यो का भी सजन किया है, जिसका सूर म नितान्त अभाव है।

विभिन्न प्रातो के होते हुए भी जिन परिस्थितियो म इन दो प्रतिभा सपन्न कवियो का प्रादुर्भाव हुआ, वे राजनीतिक सामाजिक एव धार्मिक परिस्थितियाँ प्राय समान ही थी। उत्तर भारत के मुस्लिम शासको की भाँति गुजरात के सुल्तान भी धर्मान्ध क्रूर एव कट्टर थ। समाज म स्पश्यास्पश्य के विचार समान रूप स विद्यमान थ। धार्मिक दशा भी अनाव विकृत हो चुकी थी। मुसलमानो के शासन काल मे जनता की स्वतत्र बुद्धि के कुठित होने से अद्वैतवाद जस बुद्धि प्रमुख दशन को आत्मसात् करन की शक्ति के अभाव म दोनो क्षेत्रो मे अनेक पाखड-पथ चल पडे थ। राजा रा माडलिक के दरबार म नरसी का कई पाखडी साधु सन्यासियो से वाद विवाद हुआ था। गुजरात के जिस भू भाग मे नरसी हुए वहा का तत्कालीन वातावरण राधा-कृष्ण की मधुर भक्ति के अनुकूल नहीं था।

दोनो कवियो के साहित्यिक प्रेरणा स्रोत भी प्राय समान ही रहे हैं। भागवत नामदेव जयदेव आदि का दोनो ही पर प्रभाव पडा है। दोनो ही कवि अपनी पूववर्ती काव्यधाराओ एव काव्यशलियो से प्रभावित रहे हैं। जिस प्रकार सूर अपन पूव की वीर-काव्य सत-काव्य आदि विविध काव्यधाराओ से प्रभावित रहे उसी भाँति नरसी भी अपन पूववर्ती कवियो के बारह मासा, विवाहलउ गरबा गरबी आदि से परिचित एव प्रभावित रहे हैं। इतना ही नहीं नरसी न आख्यान नामक एक नवीन काव्यशली का प्रणयन भी किया है। सूर ने परपरागत काव्य शलियो के आधार पर ही अपने समस्त पद-साहित्य का निर्माण किया है। नरसी के झूलणा छन्द म निबद्ध पदो पर नामदेव के अभगो का पर्याप्त प्रभाव है।

दाशनिक दृष्टि स भी दोनो कवियो म पर्याप्त साम्य है। सूर आचाय वल्लभ स दीक्षित थे। अत उनके विचार वल्लभाचार्यानुमोदित शुद्धाद्वैत-सम्मत थ। नरसी वल्लभाचाय क पूववर्ती थे। अत उनसे प्रभावित होन का प्रश्न ही नहीं उठता, तथापि उनके दाशनिक विचारो पर भी परपरा प्राप्त शुद्धाद्वैत का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के मूल

सस्थापक विष्णुस्वामी थे। नरसी भी उन्हीके अनुसर्ताओ मे से एक थे। विभिन्न स्रोतो से प्रेरणा ग्रहण करने पर भी सूर एव नरसी के दार्शनिक दृष्टिकोण मे समानता है। वल्लभाचार्य के मतानुसार सूर ने ब्रह्म को सच्चिदानन्द, पूर्ण-पुरुषोत्तम, अक्षर, सर्वशक्तिमान, स्वतत्र, व्यापक, अनन्त, षड्गुणोपेत, विरुद्ध-धर्माश्रयी तथा अविकृत-परिणामी माना है। नरसी के दार्शनिक विचारो मे भी उक्त सभी विशेषताएँ विद्यमान हे। आचार्य वल्लभ पुष्टि-सप्रदाय के सस्थापक थे। उन्होने जिस अर्थ मे 'भागवत' से 'पुष्टि' शब्द को ग्रहण किया है ठीक उसी अर्थ मे नरसी मे एकाधिक वार इसकी आवृत्ति मिलती है। दोनो कृष्ण को परात्पर ब्रह्म मानते थे। सूर ने ब्रह्म के सगुण रूप की महत्ता का ही प्रमुख रूप से प्रतिपादन किया है, किन्तु इस सवध मे नरसी को लेकर यह विशेष रूप से कहा जा सकता है कि उन्होने सगुण के साथ-साथ निर्गुण को भी उपास्य माना है। दोनो ने समान रूप मे अहता-ममतात्मक ससार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है। नरसी ने जहाँ भगवान् कृष्ण के नित्य एव अवतरित दोनो रासो का वर्णन किया है, वहाँ सूर ने मात्र अवतरित रास का ही वर्णन किया है। शुद्धाद्वैत के अतिरिक्त दोनो पर शाकर-वेदान्त का सामान्य प्रभाव भी दृष्टिगत होता है।

भक्ति-भावना की दृष्टि से सूर एव नरसी दोनो कृष्ण के अन्यतम भक्त थे। दोनो की भक्ति का मूल आधार साधना-भक्ति नही किन्तु भावप्रधान रागानुगा भक्ति था। दोनो ने मत्त मधुकर की भाँति छककर राधा-कृष्ण की मधुर-भक्ति का रसपान किया था। दोनो ने राधा-कृष्ण एव गोपिकाओ द्वारा ही प्राय अपने मधुर भावो की अभिव्यक्ति करवाई है। भक्ति के दास्य, सख्य, वात्सल्य एव मधुर भावो मे से सूर की भक्ति प्रमुख रूप से अपने इष्टदेव के प्रति सखाभाव की ही रही तो नरसी की मधुर-भाव की। इसके अतिरिक्त दोनो मे दास्यभाव की भक्ति भी मिलती है। अतर इतना ही है कि सूर के दास्यभाव मे जहाँ दैन्य का प्रमाण अधिक रहा है वहाँ नरसी मे मुँहलगे भृत्य की भाँति कुछ भी कह डालने की प्रवृत्ति विशेष रही। नरसी की मधुर-भक्ति की मौलिक विशेषता यह है कि वे कृष्ण की प्राय समस्त मधुर-लीलाओ मे स्वय को गोपी, सखी, आदि अनेक रूपो मे उपस्थित वताते है। सूर की मधुर-भक्ति मे इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्राय अभाव रहा है। मधुर-भाव मे भक्ति के आवेग की तीव्रता को लक्ष्यकर स्वकीया भाव की अपेक्षा परकीया भाव की भक्ति को अधिक श्रेष्ठ माना गया है। इस दृष्टि से विचार किया जाए तो सूर स्वकीया भाव के तथा नरसी परकीया भाव के पोषक रहे है। उन्होने कहा भी है कि पुरुष से पुरुष का स्नेह किस काम का हे, गोपीभाव से कृष्ण के प्रति किया गया स्नेह (जारी सग) ही रमणीय है —

पुरुषनो पुरुषथी स्नेह शा कामनो, जारी पुरुषनो संग रूडो.

इस सन्दर्भ मे यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि कृष्ण के अनन्य भक्त होते हुए भी नरसी अपनी आत्मसत्ता को परमात्मा मे विलीन कर देनेवाले उच्चकोटि के ब्रह्मज्ञानी थे। नरसी के इस वैशिष्ट्य को लक्ष्य करके डा० योगीन्द्र त्रिपाठी ने अपने 'गुजराती कविता मे केवलाद्वैत' शीर्षक शोध-प्रवन्ध मे लिखा है—

किया, खड दोष ही पाया।' नरसी के कलकठ से नि सृत मधुर-रस की परम-पावन भागीरथी न भक्ति के लिए ऊसर क्षेत्र गुजरात का न केवल उवर बनाया, वरन् उसके 'खडदोष' तक का प्रक्षालन कर दिया। नारदजी न ऐसे ही भक्तो को उद्दिष्ट करके कहा है—'पावयन्ति कुलानि पृथिवी च' सूर का इस प्रकार के 'खडदोष प्रक्षालन' का श्रेय प्राप्त न हो सका, क्योकि उनके समय तक ब्रज वष्णव भक्ति के लिए परमधाम के रूप म ख्याति प्राप्त कर चुका था, तथापि गोस्वामी विट्ठलनाथजी न स्वय उन्हें पुष्टिमार्ग का जहाज कह कर उक्त सम्प्रदाय म उनक अप्रतिम स्थान एव महत्त्व पर प्रकाश डाला है। इस सन्दभ म यह भी स्मरणीय है कि सूर जहाँ पुष्टि-सम्प्रदाय म सबद्ध थे वहा नरसी सवथा सम्प्रदाय मुक्त थ।

कृतित्व की दृष्टि स दोनो भक्त-कवियो न कृष्णलीला विषयक प्रचुर पद-साहित्य का निर्माण किया है। इस सम्बध म सूर न कृष्ण की बाल एव यौवन लीलाओ पर भागवतानुक्रमण क्रमबद्ध गेय पद शली म मुक्तक रचना की है जो परिमाण ही नहा किन्तु काव्यत्व की दृष्टि स भी अपेक्षाकृत श्रेष्ठ है। नरसी न उक्त लीलाओ पर मात्र स्फुट पद ही लिखे है। नरसी का यह वशिष्ट्य है कि उन्होने कृष्णलीला-परक पदो के अतिरिक्त कई आत्मपरक-काव्यो का भी सजन किया है जिसका सूर म नितान्त अभाव है।

विभिन्न प्रातो के होते हुए भी जिन परिस्थितियो म इन दो प्रतिभा-सपन्न कवियो का प्रादुर्भाव हुआ, वे राजनीतिक सामाजिक एव धार्मिक परिस्थितिया प्राय समान ही थी। उत्तर भारत के मुस्लिम शासको की भाँति गुजरात के सुल्तान भी धर्मान्ध, क्रूर एव कट्टर थ। समाज म स्पश्या स्पश्य के विचार समान रूप स विद्यमान थे। धार्मिक दशा भी अतीव विकृत हो चुकी थी। मुसलमानो के शासन-काल म जनता की स्वतत्र बुद्धि के कुठित होन स अद्वतवाद जसे बुद्धि प्रमुख दशन को आत्मसात करने की शक्ति के अभाव म दोनो क्षेत्रो म अनेक पाखड-पथ चल पडे थ। राजा रा माडलिक के दरबार मे नरसी का कई पाखडी साधु-सन्यासियो से वाद विवाद हुआ था। गुजरात के जिस भू भाग मे नरसी हुए वहा का तत्कालीन वातावरण राधा कृष्ण की मधुर भक्ति के अनुकूल नही था।

दोनो कवियो के साहित्यिक प्रेरणा स्रोत भी प्राय समान ही रहे हैं। भागवत नामदेव जयदेव आदि का दोनो ही पर प्रभाव पडा है। दोनो ही कवि अपनी पूववर्ती काव्यधाराओ एव काव्यशलियो से प्रभावित रहे हैं। जिस प्रकार सूर अपने पूव की वीर-काव्य सत-काव्य आदि विविध काव्यधाराओ स प्रभावित रहे उसी भाति नरसी भी अपन पूववर्ती कवियो के बारह मासा, विवाहलउ गरबा-गरबी आदि स परिचित एव प्रभावित रहे हैं। इतना ही नहा नरसी ने आख्यान नामक एक नवीन काव्यशली का प्रणयन भी किया है। सूर ने परपरागत काव्य शलियो के आधार पर ही अपने समस्त पद साहित्य का निर्माण किया है। नरसी के झूलणा छद म निबद्ध पदो पर नामदेव के अभगो का पर्याप्त प्रभाव है।

दाशनिक दृष्टि स भी दोनो कवियो म पर्याप्त साम्य है। सूर आचार्य वल्लभ स दीक्षित थे। अत उनके विचार वल्लभाचार्यानुमोदित शुद्धाद्वत-सम्मत थ। नरसी वल्लभाचार्य के पूववर्ती थे। अत उनसे प्रभावित होन का प्रश्न ही नही उठता तथापि उनके दाशनिक विचारो पर भी परपरा प्राप्त शुद्धाद्वत का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। शुद्धाद्वत सिद्धान्त के मूल

संस्थापक विष्णुस्वामी थे। नरसी भी उन्हीके अनुसर्ताओ मे से एक थे। विभिन्न स्रोतो से प्रेरणा ग्रहण करने पर भी सूर एव नरसी के दार्शनिक दृष्टिकोण मे समानता है। वल्लभाचार्य के मतानुसार सूर ने ब्रह्म को सच्चिदानन्द, पूर्ण-पुरुषोत्तम, अक्षर, सर्वशक्तिमान, स्वतन्त्र, व्यापक, अनन्त, षड्गुणोपेत, विरुद्ध-धर्माश्रयी तथा अविकृत-परिणामी माना है। नरसी के दार्शनिक विचारो मे भी उक्त सभी विशेषताएँ विद्यमान है। आचार्य वल्लभ पुष्टि-सप्रदाय के संस्थापक थे। उन्होने जिस अर्थ मे 'भागवत' मे 'पुष्टि' शब्द को ग्रहण किया है ठीक उसी अर्थ मे नरसी मे एकाधिक बार इसकी आवृत्ति मिलती है। दोनो कृष्ण को परात्पर ब्रह्म मानते थे। सूर ने ब्रह्म के सगुण रूप की महत्ता का ही प्रमुख रूप मे प्रतिपादन किया है, किन्तु इस सबध मे नरसी को लेकर यह विशेष रूप से कहा जा सकता है कि उन्होने सगुण के साथ-साथ निर्गुण को भी उपास्य माना है। दोनो ने समान रूप मे अहता-ममतात्मक ससार के मिथ्यात्व का प्रतिपादन किया है। नरसी ने जहाँ भगवान् कृष्ण के नित्य एव अवतरित दोनो रूपो का वर्णन किया है, वहाँ सूर ने मात्र अवतरित राम का ही वर्णन किया है। शुद्धाद्वैत के अतिरिक्त दोनो पर शाकर-वेदान्त का सामान्य प्रभाव भी दृष्टिगत होता है।

भक्ति-भावना की दृष्टि से सूर एव नरसी दोनो कृष्ण के अन्यतम भक्त थे। दोनो की भक्ति का मूल आधार साधना-भक्ति नही किन्तु भावप्रधान रागानुगा भक्ति था। दोनो ने मत्त मधुकर की भाँति छककर राधा-कृष्ण की मधुर-भक्ति का रसपान किया था। दोनो ने राधा-कृष्ण एव गोपिकाओ द्वारा ही प्राय अपने मधुर भावो की अभिव्यक्ति करवाई है। भक्ति के दास्य, सख्य, वात्सल्य एव मधुर भावो मे से सूर की भक्ति प्रमुख रूप से अपने इष्टदेव के प्रति सखाभाव की ही रही तो नरसी की मधुर-भाव की। इसके अतिरिक्त दोनो मे दास्यभाव की भक्ति भी मिलती है। अतर इतना ही है कि सूर के दास्यभाव मे जहाँ दैन्य का प्रमाण अधिक रहा है वहाँ नरसी मे मुँहलगे भृत्य की भाँति कुछ भी कह डालने की प्रवृत्ति विशेष रही। नरसी की मधुर-भक्ति की मौलिक विशेषता यह है कि वे कृष्ण की प्राय समस्त मधुर-लीलाओ मे स्वय को गोपी, सखी, आदि अनेक रूपो मे उपस्थित बताते है। सूर की मधुर-भक्ति मे इस प्रकार की प्रवृत्ति का प्राय अभाव रहा है। मधुर-भाव मे भक्ति के आवेग की तीव्रता को लक्ष्यकर स्वकीया भाव की अपेक्षा परकीया भाव की भक्ति को अधिक श्रेष्ठ माना गया है। इस दृष्टि से विचार किया जाए तो सूर स्वकीया भाव के तथा नरसी परकीया भाव के पोषक रहे है। उन्होने कहा भी है कि पुरुष मे पुरुष का स्नेह किस काम का है, गोपीभाव से कृष्ण के प्रति किया गया स्नेह (जारी सग) ही रमणीय है—

पुरुषनो पुरुषथी स्नेह शा कामनो, जारी पुरुषनो सग रूडो.

इस सन्दर्भ मे यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि कृष्ण के अनन्य भक्त होते हुए भी नरसी अपनी आत्मसत्ता को परमात्मा मे विलीन कर देनेवाले उच्चकोटि के ब्रह्मज्ञानी थे। नरसी के इस वैशिष्ट्य को लक्ष्य करके डा० योगीन्द्र त्रिपाठी ने अपने 'गुजराती कविता मे केवलाद्वैत' शीर्षक शोध-प्रबन्ध मे लिखा है—

'नरसी की भक्ति 'दासोऽहम्' तथा इसके पश्चात् 'सोऽहम्' की अनुभूति करती हुई 'नाऽहम्' में पर्यवसित होती है।"[1]

सूर ने जहाँ मधुर भक्ति के संभोग एवं विप्रलंभ दोनों पक्षों पर प्रचुर मात्रा में काव्य रचे वहाँ नरसी ने अधिकांशतः संभोग पक्ष को ही पुष्टता प्रदान की है। सूर का मधुर भाव संभोग की विविध लीलाओं में क्रमशः विकसित होकर वियोग में पुष्टता प्राप्त करता है, क्योंकि अवतार दशा में कृष्ण के अवतीर्ण पूर्वरस (संभोग शृंगार) की अपेक्षा मूल भाव (विप्रलंभ शृंगार) को ही श्रेष्ठ माना गया है। नरसी में मधुर भक्ति के भाव विकास में इस प्रकार की क्रमिकता उपलब्ध नहीं होती। भक्ति में सत्संगति, गुरु-महिमा, कर्मकाण्ड की अनावश्यकता आदि पर दोनों ने समान रूप से विचार प्रकट किये हैं, किन्तु कर्मकांड की निरर्थकता का नरसी ने जिस रूप में खंडन किया है, उसमें उनके विचार संत परम्परा के अधिक निकट प्रतीत होते हैं।

भाव-पक्ष की दृष्टि से विचार किया जाए तो सूर का भाव पट अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म, विस्तीर्ण, गंभीर एवं व्यापक है। सूर ने वात्सल्य एवं शृंगार दोनों से संबद्ध विविध अनुभावों, संचारियों, *सात्विकों एवं विभावादिकों की कल्पना अपेक्षाकृत अधिक विशदता से की है। वात्सल्य भाव* के चित्रण में सूर भारतीय ही नहीं किन्तु विश्व-साहित्य में अप्रतिम माने जाते हैं। वात्सल्य के संभोग एवं विप्रलंभ दोनों की सूर ने जहाँ अजस्र धाराएँ प्रवाहित की है वहाँ नरसी में इसकी यत्किंचित बूँद ही मिलती हैं। वात्सल्य के वियोग पक्ष का तो नरसी में नितांत अभाव है। सूर के शृंगार को लेकर कहा जाता है कि उसे उन्होंने रस राजत्व प्रदान किया है। वास्तव में सूर ने इन दोनों रसों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों की बड़े ही कलापूर्ण ढंग से अभिव्यक्ति की है। सूर ने राधा-कृष्ण के मधुर भाव को जहाँ पूर्वराग से प्रारंभ करके संभोग की विविध लीलाओं, चेष्टाओं, हाव भावों द्वारा संपुष्ट करके अन्त में उसे *विप्रलंभ में परिणत किया है वहाँ नरसी ने किसी भी* लीला के भाव का क्रमिक विकास निरूपित नहीं किया। सूर ने जहाँ अपने ग्रंथ 'सूरसागर' में भागवत क्रमानुसार क्रमबद्ध मुक्तक गेय-पदों में रचनाएँ प्रस्तुत की हैं वहाँ नरसी के मुक्तक गेय पदों में क्रमिकता का प्रायः अभाव है।

शृंगार चित्रण को लेकर विचार किया जाय तो विदित होगा कि सूर की अपेक्षा नरसी अधिक शृंगारिक हैं। किन्तु उनके भाव-गुम्फन में न तो सूर के जितनी सूक्ष्मता है, न क्रमिकता है और न विशदता ही। उनका सौंदर्य चित्रण प्रायः स्थूल एवं वर्णनात्मक है। इस तथ्य को श्री के० एम्० मुंशी भी स्वीकार करते हैं—

'नरसी में मीरा का मार्दव, सूर की गहराई एवं तुलसी की-सी साहित्यिक गरिमा उपलब्ध नहीं होती।"[2]

---

[1] Kavaladvaita in Gujarati poetry P 55

[2] He lacks the delicacy of Miran the intensity of Suradas the classic dignity of Tulsidasa

—Gujarat and its literature P 199

नरसी मे वियोग-दशा के सूक्ष्म एव व्यापक भाव-निरूपण का भी अभाव है। सूर ने जहाँ 'उद्धव-गोपी-सवाद' प्रसग मे गोपिकाओ के माध्यम से विपलभ के सभी भाव, अनुभाव एवं व्यापारो का सूक्ष्म एवं विस्तृत वर्णन किया है वहाँ नरसी के वियोग-विपयक पदो की सख्या स्वल्प है। इसके अतिरिक्त सूर ने भ्रमरगीत-प्रसग की उद्भावना करके वियोग-वर्णन के साथ-साथ ज्ञान एव योग से भक्ति की श्रेष्ठता भी प्रमाणित की है, किन्तु नरसी के पदो मे योग, ज्ञान, एव निर्गुण का प्राय अभाव ही दृष्टिगत होता है।

भाव-पक्ष की भाँति सूर के काव्य का कला-पक्ष भी अपेक्षाकृत अधिक उत्कृष्ट, प्राजल एव परिमार्जित है। सूर के पदो मे जहाँ विद्वद्भोग्य श्रेष्ठ अर्थालकारो का सुभग समन्वय हो पाया है वहाँ नरसी की रचनाओ मे अनुप्रासादि सामान्य शव्दालकारो का वाहुल्य मिलता है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा जैसे सामान्य सादृश्य-मूलक अलकारो का प्रयोग भी नरसी मे अपेक्षाकृत स्वल्प प्रमाण मे हुआ है। नरसी की अलकार-योजना नितान्त सहज एव स्वाभाविक है। उसमे विद्वज्जनो के चित्त को चमत्कृत करने की क्षमता नही है। सूर के दृष्टिकूट एव सागरूपक जहाँ भक्तो का मनोरजन करते हैं वहाँ साहित्य रसिको को भी मुग्ध किये विना नही रहते।

सूर एव नरसी दोनो सगीतज्ञ थे। दोनो ने अपने-अपने पदो मे विपयानुकूल राग-रागनियो एव तालो का चयन किया है, फिर भी सूर का सगीत-विधान अपेक्षाकृत शास्त्रसम्मत है। सूर ने जहाँ शास्त्रोक्त ध्रुवपदो की रचनाएं की है वहाँ नरसी ने प्राय. लोक-भोग्य तालो मे ही अपने पद निवद्ध किये है।

सूर के काव्य की भाषा व्रज थी और नरसी की गुजराती। दो विभिन्न भाषाओ के कवि होने के कारण उनकी भाषा पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना सभव नही है। इस प्रसग मे यह भी स्मरणीय है कि सूर की भापा आज तक अपेक्षाकृत उसी रूप मे सुरक्षित रही है, जिस रूप मे कवि द्वारा प्रयुक्त हुई थी। किन्तु इधर नरसी की भापा मे पर्याप्त परिवर्तन हो चुका है। भावुक भक्तो द्वारा जो पद गाये जाते रहे और उनके पास लिखित रूप मे जो पद-साहित्य सुरक्षित रह सका वही हमारे अध्ययन का विपय वन सका है। सूर की व्रजभाषा पर जिस प्रकार उनके आसपास की पजावी, पूर्वी, वुदेलखडी आदि का प्रभाव पडा है, वैसे ही नरसी की गुजराती भापा पर भी मराठी आदि का प्रभाव दृष्टिगत होता है। सूर के कूटत्व शैली मे निवद्ध पद अर्थ की दृष्टि से दुरूह है, किन्तु इसके विपरीत नरसी का समस्त पद-साहित्य प्रसाद शैली मे निवद्ध होने के कारण सरल एव सुगम है। नरसी की भाषा का झुकाव प्राय. भाषा के प्राकृत रूप की ओर ही अधिक रहा है। इस सवन्ध मे आलोचको का ऐसा मानना हे कि प्राय सभी गुर्जर कवियो की प्रकृति इसी तरह की रही है। इसीलिए कहा जाता है "अपभ्रंशेन तुष्यन्ति स्वेन नान्येन गुर्जरा।" साराशत नरसी की भापा मे ऋजुता के साथ-साथ मार्दव, लालित्य एव आनुप्रासिकता भी विद्यमान है तथा उसमे ध्वन्यात्मकता एव नाद सौंदर्य का भी उत्तम विधान हुआ है।

सूर एवं नरसी दोनो ही अपने-अपने क्षेत्र के परवर्ती कवियो के लिए आलोक-स्तभ रहे हैं। सूर ने अपनी विलक्षण काव्य-प्रतिभा से वल्लभ, राधावल्लभीय, हरिदासी तया चैतन्य सप्रदाय

के परवर्ती कवियो को प्रचुर मात्रा म प्रभावित किया है। इस प्रभाव की व्याप्ति रीति-कालीन कविया पर भी स्पष्टतया दृष्टिगत होती है। सूर की भाँति नरसी न भी अपने परवर्ती कविया को प्रभावित किया है और इस प्रभाव की व्याप्ति गुजरात के अन्तिम मध्यकालीन कवि दयाराम तक स्पष्ट देखी जा सकती है। वास्तव म व्रज एव गुजर धरा के इन दो प्रतिभा-सपन्न कविया ने आज से शताब्दियो पूव जिस अमर भक्ति साहित्य का सजन किया था, वह न केवल साहित्यिक वरन सास्कृतिक दृष्टि से भी एक अभूतपूव एव अप्रतिम काय था।

परिशिष्ट १

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत

ग्रंथनाम	विवरण
१. अभिज्ञान शाकुन्तल	महाकवि कालिदास, सपादक . गुरुप्रसाद शास्त्री, भार्गव पुस्तकालय, गाय घाट, काशी, स. २००५, द्वितीय सस्करण ।
२. अणुभाष्य	बवई सस्कृत सिरीज पूना, सपादक : श्रीधर शास्त्री पाठक ।
३. उज्ज्वलनीलमणि	आचार्य रूपदेव गोस्वामी, निर्णय सागर, बम्बई ।
४ काव्यप्रकाश	आचार्य मम्मट, सपादक . हरिमगल मिश्र, हि.सा स. प्रयाग, स. २०००, द्वितीय संस्करण ।
५. कीर्तिकौमुदी	सोमेश्वर भट्ट, बबई सस्कृत सिरीज, बवई गवर्नमेंट सेट्रल बुक डिपो, सन् १८८३ ।
६ कृष्णाश्रय (वल्लभरचितषोडशग्रथान्तर्गत)	अनुवादक और प्रकाशक भट्ट रमानाथ शर्मा, भुलेश्वर, बवई, तृतीयावृत्ति, सन् १९३८ ।
७ चतु श्लोकी (वल्लभरचितषोडशग्रथान्तर्गत)	वही
८. गीतगोविन्द	जयदेव विरचित, निर्णयसागर, सन् १९०४ ।
९ दशवैकालिकसूत्रम् (अर्धमागधी)	प्रकाशक रावबहादुर मोतीलाल बालमुकुन्द मुथा, भवानी पेठ, सतारा।
१० द्व्याश्रय (प्रथम भाग, १ से १० सर्ग)	आचार्य हेमचन्द्र, निर्णयसागर, बवई, सन् १९१५ ।

हिन्दी

१ अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय, भाग १, २ — लेखक डा दीनदयालु गुप्त, प्रकाशक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, स २००४।

२ अष्टछाप (गोकुलनाथ) — सपादक डा धीरेन्द्र वर्मा, रामनारायणलाल, प्रयाग, सन् १९२९, प्रकाशक विद्या-विभाग, काकरौली, उदयपुर, स १९९८।

३. कविवर परमानददास और वल्लभ सप्रदाय — लेखक: डा. गोवर्धननाथ शुक्ल, प्रकाशक भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ, स २०२०।

४. गुजराती और व्रजभाषा कृष्ण-काव्य का तुलनात्मक अध्ययन — लेखक डा. जगदीश गुप्त हिन्दी-परिषद्, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, स १९५७।

५. गुजराती-साहित्य का इतिहास — लेखक श्री जयन्त हरिकृष्ण दवे, प्रकाशक हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम सस्करण, सन् १९६३।

६. चौरासी वैष्णवन की वार्ता — प्रकाशक वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई, स. १९८५।

७ भक्तमाल — नाभाजी कृत, लखनऊ, सन् १९०८।

८. भारतीय साधना और सूर-साहित्य — लेखक डा मुशीराम शर्मा, प्रकाशक आचार्य शुक्ल साधना सदन, द्वितीय सस्करण।

९. भारतीय वाङ्मय — सपादक डा नगेन्द्र, प्रकाशक साहित्य सदन, चिरगाव, झासी, प्रथम आवृत्ति, सन् १९५९।

१० भारतवर्ष का इतिहास — लेखक रामकृष्ण माथुर प्रकाशक एस् एस् माथुर, एम् ए, कानपुर, सन् १९३२।

११ भारत का इतिहास — श्री ईश्वरीप्रसाद, एम् ए, प्रकाशक: इडियन प्रेस लि०, प्रयाग, सन् १९५१।

१२ भ्रमरगीतसार — सपादक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, प्रकाशक: रामदास गोडवाल एण्ड सस, साहित्य-सेवा-सदन, बनारस, अष्टम परिशोधित सस्करण, स २०१४।

१३ महाकवि सूरदास — लेखक आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, प्रकाशक आत्माराम एण्ड सस, कश्मीरी गेट, दिल्ली, ६ सन् १९५२।

२६ सूरपचरत्न — सकलयिता . ला० भगवान दीन तथा मोहनवल्लभ पत, प्रकाशक : रामनारायण लाल, इलाहाबाद, स. २०१६।

२७ सूरसारावली (सूरसागर के अन्तर्गत प्रकाशित) — वेंकटेश्वर प्रेस, बबई।

२८. सूरसागर, भाग १, २ — सपादक : आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, ना प्र सभा, तृतीय सस्करण, स. २०१५।

२९ सूर-सौरभ, भाग १, २ — लेखक · डा मुशीराम शर्मा, स. २००२।

३० सूर की काव्य-कला — डा. मनमोहन गौतम, प्रकाशक : भारतीय साहित्य मदिर, दिल्ली, द्वितीय सस्करण, सन् १९६३।

३१. सूरसारावली एक अप्रामाणिक रचना — डा. प्रेमनारायण टडन, हिन्दी साहित्य भडार, अमीनाबाद लखनऊ, २३ अगस्त १९६१।

३२ १६वी शती के हिन्दी और बगाली वैष्णव कवि — डा. रत्नकुमारी, साहित्य मदिर, दिल्ली, स २०१३।

३३ हिन्दी-साहित्य — डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रकाशक . अत्तरचन्द कपूर एण्ड संस, दिल्ली, अंबाला, आगरा, स २००९।

३४ हिन्दी साहित्य-कोश — सपादक . धीरेन्द्र वर्मा, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस, प्रथम सस्करण, स २०१५।

३५ हिन्दी साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, ना प्र सभा, काशी, स. २००९ ।

३६ हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि — डा विश्वभरनाथ उपाध्याय, प्रकाशक : साहित्यरत्न भडार, आगरा, द्वितीय सस्करण, सन् १९६१।

३७. हिन्दी भाषा और साहित्य — डा श्यामसुदर दास, प्रकाशक इडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, स १९९४।

३८. हिन्दी नवरत्न — लेखक . गणेशविहारी मिश्र, डा श्यामविहारी मिश्र, शुकदेवविहारी मिश्र (सप्तम संस्करण) प्रकाशक : श्री दुलारेलाल, गगा पुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ, स २०१२।

हिन्दी-पत्रिका

१ नागरी प्रचारिणी-पत्रिका — सन् १९०७, ना. प्र. स , काशी।

गुजराती

१ ऐतिहासिक संशोधन — लेखक दुर्गाशंकर के शास्त्री, प्रकाशक गुजराती साहित्य परिषद, प्रथम आवृत्ति, सन् १९४१।

२ कवि प्रेमानंद अने नरसिंहकृत कुंवरबाईनु मामेरु — संपादक मगनभाइ प्रभुदास देसाइ प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद, द्वितीय आवृत्ति सन् १९४३।

३ कान्हड दे प्रबंध — कवि पद्मनाभ विरचित संपादक डाह्याभाई पीताम्बरदास देरासरी, बरिस्टर, प्रकाशक जालमभाई डाह्याभाई देरासरी आवृत्ति २, सन् १९२६।

४ गुजराती साहित्यना मार्ग-सूचक अने वधु मार्ग-सूचक स्तभो — लेखक कृष्णलाल मो झवेरी, प्रकाशक एन एम त्रिपाठी प्रा लि, प्रिंसेस स्ट्रीट, मुंबई २।

५ गुजरातना सांस्कृतिक इतिहास भाग १ २ (इस्लामखंड) — लेखक रत्नमणिराव भीमराव जोटे, गुजरात विद्यासभा अहमदाबाद सन १९५४।

६ गुजराती साहित्य (मध्यकालीन) — लेखक अनन्तराय रावळ प्रकाशक मकमिलन अने कंपनी लि०, मुंबई, सन् १९५४।

७ गुजराती भाषा अने साहित्य भाग १ — लेखक एन् बी दिवेटिया, फार्बस गुजराती सभा, मुंबई। सन १९३६।

८ गुजराती हाथप्रतोनी संकलित यादी — श्री केशवराम काशीराम शास्त्री प्रकाशक गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी अहमदाबाद।

९ गुजराती साहित्यनुं रेखादर्शन — श्री कं का शास्त्री प्रकाशक एलिट बुक सर्विस अहमदाबाद सन १९५१।

१० दशमस्कन्ध (अध्याय १ से २५) — महाकवि प्रेमानन्द संपादक प्रा मनसुखलाल झवेरी प्रकाशक गुजर ग्रंथरत्न कार्यालय गांधी रस्ता अहमदाबाद द्वितीयावृत्ति सन १९५८।

११ नभोविहार — श्री रामनारायण वि पाठक प्रकाशक गुजर ग्रंथ कार्यालय, अहमदाबाद प्रथम आवृत्ति, सन् १९६१।

१२. नरसिंह महेतो एक अध्ययन (अर्ध मुद्रित)	लेखक के का. शास्त्री। मधुवन, एलिस ब्रिज, अहमदाबाद।
१३ नरसिंह महेता कृत काव्य-सग्रह	सपादक : इच्छाराम सूर्यराम देसाई, प्रकाशक गुजराती प्रेम, सन् १६१३, स १६६६।
१४ नरसिंह महेता कृत चालुरी	सपादिका कु चैतन्यवाला ज दिवेटिया, प्रकाशक गुजराती सभा, वम्वई ४, सन् १६४६।
१५. नरसिंह महेतानु 'हूडी' काव्य	सपादक हीरालाल त्रि पारेख, बुद्धि-प्रकाश पु ११२, मार्च १६६५।
१६ नरसिंह महेता · तेमनु जीवन अने कवन	लेखक . जयसुखराम वि जोशीपुरा। प्रथम आवृत्ति, स १६६४, प्रकाशक जूनागढ यूनियन क्लव, लालशकर स्टीम प्रि प्रेस, ववई।
१७ नरसैयो भक्त हरिनो	लेखक कनैयालाल माणेकलाल मुशी, प्रकाशक भारतीय विद्याभवन की ओर से गुर्जर ग्रथ कार्यालय, अहमदावाद, द्वितीय आवृत्ति।
१८. नरसै महेताना पद	सपादक श्री के का शास्त्री, प्रकाशक गुजरात साहित्य सभा, अहमदावाद, प्रथम सस्करण, सन् १६६५।
१६ नर्मगद्य	लेखक कवि नर्मदाशकर लालशकर दवे, सपादक महीपतराम रूपराम नीलकठ, पचमावृत्ति, निर्णयसागर प्रेस, ववई, सन् १८६१।
२० राससहस्रपदी (नरसिंह कृत)	सशोधक एवं सपादक श्री केशवराम का शास्त्री, प्रकाशक रा. रा अवालाल वुलाकीराम जानी, फार्वस गुजराती सभा, वम्वई, सन् १६३६।
२१ वैष्णव धर्मनो सक्षिप्त इतिहास	लेखक · दुर्गाशकर केवलराम शास्त्री, प्रकाशक अवालाल वुलाकीराम जानी, फार्वस गुजराती सभा, ववई, द्वितीय आवृत्ति, सन् १६३६।
२२ वृहत् काव्य-दोहन, भाग २	सग्रहकर्त्ता · इच्छाराम सूर्यराम देसाई, गुजराती प्रि. प्रेस, ववई, तृतीय आवृत्ति, सन् १६१३।
२३ वृहत् पिंगल	लेखक : श्री रामनारायण विश्वनाथ पाठक, गुजराती साहित्य परिपद, प्रकाशक . भारतीय विद्या-भवन, ववई, प्रथम आवृत्ति, सितवर १६५५।
२४ शुद्धाद्वैतसिद्धातप्रदीप	प्रो. मगनलाल शास्त्री, सशोधक प्रो. गोविंदलाल ह भट्ट, वडोदरा, प्रकाशक : वाडीलाल नगीनदास शाह, सन् १६३७।

२५ हरिलीला षोडश कळानो उपोद्‌घात — संपादक अबालाल बुलाकीराम जानी, गुजरात वर्नाक्युलर सोसायटी की ओर से हीरालाल त्रिभुवनदास परेख द्वारा प्रकाशित, अहमदाबाद, सन् १९२९।

गुजराती-पत्र पत्रिकाएँ

१ अखड आनद — सस्तु साहित्य, सन् १९६५, अहमदाबाद।

२ गुजरात (पत्र) — गुजरात राज्य, सचिवालय अहमदाबाद, वप ५, अक ३३, गुरुवार १० १२ ६४ ई (श्री के का शास्त्री लिखित 'गुजरातना आदिकवि भक्त नरसिंह महेता' निबन्ध)।

३ नवमी गुजराती साहित्य परिषदनो अहेवाल

४ बुद्धि प्रकाश (मासिक) पु ५०, ११२, सन १९०३ १९६५। — संपादक यशवन्त शुक्ल, मधुसूदन पारेख, प्रकाशक गुजरात विद्या सभा अहमदाबाद।

५ वसत — स १९६१ भा, पु ८, अहमदाबाद।

६ सातमी गुजराती साहित्य परिषदनो अहेवाल (इतिहास विभाग)

ENGLISH

1 Cambridge History of India, Vol III — By Lt Colonel Sir Wolseley, S Chand & Co. 1958

2 Cambridge History of India, Vol IV — By Sir Richard Burn, S Chand & Co

3 Classical Poets of Gujarat and their influence on society and morals — By Govardhanram Madhavram Tripathi, Publishers Ramanuja Ram Goverdhan Ram Tripathi, First Edition 1916.

4 Gujarat and Its Literature (from Early times to 1852) — By K M. Munshi, Publisher. Bharatiya Vidya-Bhavan, Bombay, 1954

5. Gujarati Language and Literature (Thakker Vassonji Madhavji Lectures) — By N B. Divetia, Published by the University of Bombay, 1932

6 History of Gujarat, Vol I — By M S Commissariat, Longmans Green & Co Ltd 1938

7 History of Medieval India — By Iswariprasad. M A , LL B., Allahabad at the Indian Press Ltd , 1925.

8 Kavaladvaita in Gujarati Literature — By Yogeendra Jagannath Tripathi, Oriental Institute Baroda, 1958.

9 Tendencies in Medieval Gujarati Literature — By M.R Majumdar, Baroda, 1941.

10 Vaishnavas of Gujarat — By Dr N. A Thoothi, Bombay, First Edition, 1935

11 Vaishnavism, Shavism and Minor Religious Systems — By R G Bhandarkar, Edited by Narayan Bapuji Utgikar, Bhandarkar, Oriental Research Institute, 1928

परिशिष्ट—२

व्यक्ति-नामानुक्रमणिका

[अक पृष्ठसख्या के द्योतक है ।]

परिशिष्ट–३

ग्रन्थ-नामानुक्रमणिका

[अंक पृष्ठसंख्या के द्योतक है।]